जैनदर्शन

(उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

प्राक्कथन

डॉ. मंगलदेव शास्त्री

एम.ए., डी. फिल. (ऑक्सन)

लेखक

डॉ. महेन्द्रकुमार जैन

एम. ए., न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर, जैन–प्राचीन न्यायतीर्थ

(सम्पाकदक– न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण,
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवार्त्तिक, अकलंकग्रन्थत्रय,
सिद्धिविनिश्चयटीका आदि)

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान

आदरणीय संस्कृतिप्रिय साहुबन्धु

श्रीमान् साहु श्रेयांसप्रसाद जी

तथा

श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी

को

साहुत्वसमृद्धि की
सांस्कृतिक मंगलभावना से
सादर समर्पित

— महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

फोटो महेन्द्रकुमार जैन

डॉ. महेन्द्रकुमार जी जैन, एम. ए., न्यायाचार्य

जन्म: सन् १९११ स्वर्गवास: सन् १९५९

जन्म स्थान: खुरई (म.प्र.)

शिक्षा: ना. दि. जैन पाठशाला, बीना (म.प्र.),

शास्त्री: हु. दि. जैन महाविद्यालय, इन्दौर (म.प्र.)

न्यायाचार्य: स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, काशी

एम.ए.: आगरा वि.वि., **पी–एच. डी**. : (का. हि. वि.वि)।

अध्यापन: स्याद्वाद जैन महाविद्यालय काशी (१९३२–१९४३)
महावीर जैन महाविद्यालय बम्बई (१९४४)
संस्कृत महाविद्यालय, का.हि. वि.वि. (१९४७–१९५९)

सम्पादन–कृतियाँ: न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग), न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग), अकलंकग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय–टीका (दो भाग) आदि।

अन्य प्रवृत्तियाँ: आद्य व्यवस्थापक भारतीय ज्ञानपीठ काशी (१९४४–१९४९।

अपनी बात

(प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय)

श्री ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला से श्रीयुक्त पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य की 'जैनदर्शन' जैसी स्वतन्त्र कृति को प्रकाशित करते हुए जहाँ हमें हर्ष होता है वहाँ आश्चर्य भी। हर्ष तो इसिलए होता है कि समाज के माने हुए विद्वानों का ध्यान अब उत्तरोत्तर श्री. ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला की ओर आकृष्ट हो रहा है। आदरणीय विद्वान् पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री की श्रावकधर्मप्रदीप–टीका को प्रकाशित हुए अभी कुछ ही दिन हुए हैं कि अनायास ही यह कृति ग्रन्थमाला को प्रकाशन के लिए उपलब्ध हो गईं। और आश्चर्य इसलिए होता है कि ग्रन्थमाला के पास पर्याप्त साधन न होते हुए भी यह सब चल कैसे रहा है।

यह तो समाज का प्रत्येक विचारक अनुभव करता है कि जिसे 'स्वतन्त्र कृति' संज्ञा दी जा सकती है, ऐसे सांस्कृतिक साहित्य के निर्माण की इस समय बड़ी आवश्यकता है; किन्तु इस माँग को पूरा किया कैसे जाय, यह प्रश्न सबके सामने हैं एक तो जैन समाज अनेक भागों में विभक्त होने के कारण उसकी शक्ति का पर्याप्त मात्रा में अपव्यय यों ही हो जाता है। कोई यदि किसी कार्य को सार्वजनिक बनाने के उद्देश्य से सहयोग देता भी है, तो सहयोग लेनेवालों के द्वारा प्रस्तुत किये गये साम्प्रदायिक प्रश्न व दूसरे व्यामोह उसे बीच में ही छोड़ने के लिए बाध्य कर देते हैं और तथ्य पिछड़ने लगता है। तथ्य के अपलाप की यह खींचतान कहाँ समाप्त होगी, कह नहीं सकते। दूसरे, जैन समाज का आकार छोटा होने के कारण इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए न तो उतने साधन ही उपलब्ध होते हैं और न उतनी उदार भूमिका ही अभी निष्पन्न हो सकी है। ये अड़चनें तो हैं ही। फिर भी अबतक जहाँ, जिसके द्वारा भी प्रयत्न हुए हैं उनकी हमें सराहना ही करनी चाहिए। ऐसे ही प्रयत्नों का फल प्रस्तुत कृति है। इसके निर्माण कराने में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस व दूसरे महानुभावों का जो भी सहयोग मिला है उसके लिए वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला को यदि कुछ श्रेय है तो इतना ही कि उसने इसे मात्र प्रकाश में ला दिया है।

न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जी के विषय में हम क्या लिखें। इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैन समाज में दर्शनशास्त्र के जो भी इने–गिने विद्वान् हैं उनमें ये प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शन के साथ सब भारतीय दर्शनों का सांगोपांग अध्ययन किया है और इस समय हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में बौद्धदर्शन की गद्दी को सुशोभित कर रहे हैं

इन्होंने ही बड़े परिश्रम और अध्ययनपूर्वक स्वतन्त्र कृति के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। ग्रन्थ सामान्यत: १२ अधिकारों और अनेक उपअधिकारों में समाप्त हुआ है। उन्हें देखते हुए इसे हम मुख्यरूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं– पृष्ठभूमि, जैनदर्शन के सब मन्तव्यों का सांगोपांग ऊहापोह और जैनदर्शन के विरोध में की गई टीका–टिप्पणियों की साधार मीमांसा। ग्रन्थ के अन्त में जैनदार्शनिक साहित्य का सांगोपांग परिचय भी दिया गया है। इसलिए सब दृष्टियों से इस कृति का महत्त्व बढ़ गया है।

इस विषय पर 'जैनदर्शन' इस नाम से अब तक दो कृतियाँ हमारे देखने में आई हैं। प्रथम श्रीयुक्त पं. बेचरदास जी दोशी की और दूसरी श्वे. मुनि श्रीन्यायविजय जी की। पहली कृति षड्दर्शनसमुच्चय के जैनदर्शन–भाग का रूपान्तरमात्र है और दूसरी कृति स्वतन्त्र भाव से लिखी गई है। किन्तु इसमें तत्त्वज्ञान का दार्शनिक दृष्टि से विशेष ऊहापोह नहीं किया गया है। पुस्तक के अन्त में ही कुछ अध्याय हैं, जिनमें स्याद्वाद, सप्तभंगी और नय जैसे कुछ चुने हुए विषयों पर प्रकाश डाला गया है। शेष पूरी पुस्तक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से लिखी गई है। इसलिए एक ऐसी मौलिक कृति की आवश्यकता तो थी ही, जिसमें जैनदर्शन के सभी दार्शनिक मन्तव्यों का ऊहापोह के साथ विचार किया गया हो। हम समझते हैं कि इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। अतएव इस प्रयत्न के लिए हम श्रीयुक्त पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का जितना आभार मानें, थोड़ा है।

प्रस्तुत पुस्तक पर आद्य वक्तव्य राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (ग. सं. कालेज) के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्रीमान डॉ. मंगलदेव जी शास्त्री, एम. ए., डी. फिल. ने लिखा है। भारतीय विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाले जो अधिकारी विद्वान् हैं उनमें आपकी प्रमुख रूप से परिगणना की जाती है, इससे न केवल प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है, अपितु जैनदर्शन का भारतीय विचारधारा में क्या स्थान है, इसके निश्चय करने में बड़ी सहायता मिलती है। इस सेवा के लिए हम उनके भी अत्यन्त आभारी हैं।

यहाँ हमें सर्व प्रथम गुरुवर्य्य पूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी का स्मरण कर लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ग्रन्थमाला की जो भी प्रगति हो रही है वह सब उनके पुनीत शुभाशीर्वाद का ही फल है तथा और भी ऐसे अनेक उदार महानुभाव हैं जिनसे हमें इस कार्य को प्रगति देने में सक्रिय सहायता मिलती है।

उनमें संस्था के उपाध्यक्ष श्रीमान पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री मुख्य हैं। पण्डित जी संस्था की प्रगति और कार्यविधि की ओर पूरा ध्यान रखते हैं और आने वाली समस्याओं को सुलझाते हैं। अतएव हम उन सबके विशेष आभारी हैं।

श्री ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला की अन्य प्रवृत्तियों में जैनसाहित्य का निर्माण कराना मुख्य कार्य है। अब तक इस दिशा में बहुत कुछ अंश में प्रारम्भिक कार्य की पूर्ति हो गई है और लेखन–कार्य प्रारम्भ हो गया है। अब धीरे–धीरे अन्य विद्वानों को कार्य सौंपा जाने लगा है। जो महानुभाव इस कार्य में लगे हुए हैं वे तो धन्यवाद के पात्र हैं ही। साथ ही ग्रन्थमाला को आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास भी है कि उसे इस कार्य में अन्य जिनमहानुभावों का वांछित सहयोग अपेक्षित होगा, वह भी अवश्य मिलेगा।

प्रस्तुत पुस्तक को इस त्वरा से मुद्रण करने में नया संसार प्रेस के प्रोप्राइटर पं. शिवनारायण जी उपाध्याय तथा कर्मचारियों ने जो परिश्रम किया है उसके लिए उन्हें धन्यवाद देना आवश्यक है।

अन्त में प्रस्तुत पुस्तक के विषय में हम इस आशा के साथ इस वक्तव्य को समाप्त करते हैं कि जिस विशाल और अध्ययनपूर्ण दृष्टिकोण से प्रस्तुत कृति का निर्माण हुआ है, भारतीय समाज उसको उसी दृष्टिकोण से अपनायेगी और उसके प्रसार में सहायक बनेगी।

निवेदक
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
२६।१०।५५

वंशीधर व्याकरणाचार्य
मंत्री, ग. वर्णी जैन ग्रन्थमाला,
बनारस

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

(द्वितीय संस्करण का प्रकाशकीय)

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वीर–निर्वाण संवत् २४८१, सन् १९५५ में प्रकाशित हुआ था। जैनदर्शन के अनुरागी मनीषियों तथा अन्य जिज्ञासुओं ने इसे जिस आदर, रुचि और जिज्ञासा से अपनाया, वह ग्रन्थमाला के लिए गर्व की बात है। यह महत्त्वपूर्ण कृति कितनी लोकप्रिय हुई, इसका अनुमान इसी से लग जाता है कि यह ग्रन्थ तीन वर्ष पूर्व ही दुर्लभ एवं अप्राप्य हो गया था और लोगों की माँग नित्य–प्रति आ रही थी।

इसके लेखक स्वर्गीय डॉ. महेन्द्रकुमार जी आज विद्यमान होते, तो उन्हें अपनी इस कृति की लोकप्रियता देखकर कितनी प्रसन्नता न होती। उन्होंने अपने अल्प कार्यकाल में ही जैनदर्शन की जो सेवा की है, वह अद्भुत और असाधारण है। न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग), न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग), अकलंकग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति और सिद्धिविनिश्चयटीका (दो भाग) जैसे महनीय एवं विशाल दार्शनिक ग्रन्थों का असाधारण योग्यता और विपुल अध्यवसाय के साथ उन्होंने सम्पादन किया तथा उनपर चिन्तनपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उनके अध्यवसाय के फलस्वरूप ही ये अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ प्रकाश में आ सके हैं। अन्तिम ग्रन्थ पर तो हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने उन्हें पी–एच. डी. (डॉक्टरेट) की उपाधि देकर सम्मानित भी किया। इसके साथ ही वाराणसेय–संस्कृत–विश्वविद्यालय ने भी उनकी अपने यहाँ जैनदर्शन–विभाग के अध्यक्षपद पर नियुक्ति करके उन्हें सम्मान प्रदान किया था। पर भवितव्यता ने उन्हें इन दोनों सम्मानों का उपभोग नहीं करने दिया और असमय में ही उन्हें इस संसार से चला जाना पड़ा। वे आज नहीं हैं, पर उनकी अमर कृतियाँ विद्यमान हैं, जो उन्हें चिरस्मरणीय रखेंगीं

ग्रन्थमाला के पास यद्यपि आर्थिक साधन नहीं हैं, यह स्पष्ट है, फिर भी पूज्य वर्णी का, जिनकी वरद छाया आज हमें प्राप्त नहीं है, परोक्ष आशीर्वाद और उनके उपकारों से उपकृत समाज बल उसे प्राप्त है। २८ दिसम्बर १९६५ में ग्रन्थमाला–प्रबन्ध–समिति की वाराणसी बैठक में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रस्ताव रखा गया, जिसे समिति ने सहर्ष पारित किया। दायित्व आ जाने से उसके प्रकाशन की चिन्ता होना स्वाभाविक था। सुयोग से हमें ला. राजकृष्ण जी जैन दिल्ली के पौत्र के विवाह में जाने का सुअवसर मिला। हमें प्रसन्नता हे कि लाला जी ने हमारे संकेत पर तुरन्त इसकी १०० प्रतियों के प्रकाशन में ७००) तथा इसी ग्रन्थमाला से पहली बार प्रकाशित हो रही पं. जयचन्द जी छाबड़ा कृत द्रव्यसंग्रह–भाषावचनिका की १०० प्रतियों के प्रकाशन में १०० कुल ८००) की उदार सहायता प्रदान की। ला. शान्तिलाल जी जैन कागजी दिल्ली ने भी इसकी २५ प्रतियों के लिए १५०) की सहायता की। उधर श्रीनीरज जी जैन सतना भी हमें ५० प्रतियों के लिए स्वीकारता दे चुके थे। अत: इन सभी उदार महानुभावों और ग्रन्थमाला प्रेमियों के सहयोग बलपर हम जैनदर्शन का यह द्वितीय संस्करण निकालने में सक्षम हो सके हैं। इसका श्रेय ग्रन्थमाला–प्रबन्ध–समिति के सदस्यों और ग्रन्थमाला–प्रेमियों के सहयोग को है।

यह भी कम सुयोग की बात नहीं है कि प्रिय श्री बाबूलाल जी जैन फागुल्ल ने स्वावलम्बी बनने की दृष्टि से हाल में चालू किये अपने महावीर–प्रेस में इसका शीघ्रता के साथ सुन्दर प्रकाशन किया, जिसके लिए हम उन्हें तथा प्रेस में काम करनेवाले सभी लोगों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

आशा है इस द्वितीय संस्करण को भी सहृदय पाठक उसी तरह अपनायेंगे, जिस तरह वे प्रथम संस्करण को अपना चुके हैं।

—दरबारीलाल कोठिया
(एम.ए., यायाचार्य,शास्त्राचार्य)
मंत्री, वर्णी ग्रन्थमाला

चमेली–कुटीर,
अस्सी, वाराणसी,
२४ मार्च, १९६६

प्रस्तुत तृतीय संस्करण

'जैनदर्शन' का द्वितीय संस्करण अप्रैल १९६६ में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशीय वक्तव्य के अन्त में हमने आशा व्यक्त की थी कि 'इस द्वितीय संस्करण को भी सहृदय पाठक उसी तरह अपनायेंगे,जिसतरह वे प्रथम संस्करण को अपना चुके हैं।' हमे प्रसन्नता है कि हमारी वह आशा पूर्ण ही नहीं हुई, बल्कि उत्साहपूर्ण बल भी

मिला है। फलत: आज हम तृतीय संस्करण के निकालने में भी सक्षम हो सके हैं।

'जैनदर्शन' के पाठक—मनीषियों ने ग्रन्थ की महत्ता को प्रकट करते हुए उसके वर्तमान २०X३०—१६ पेजी साइज— आकार को परिवर्तित करने और डिमाई साइज करने का परामर्श दिया। उनका यह परामर्श उपयुक्त और उचित लगा। अत: हमने ग्रन्थ का आकार बदल दिया है। आज ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राय: इसी साइज में प्रकाशित हो रहे हैं।

आज कागज की दुर्लभता और अनर्घ्यता इतनी बढ़ गयी है कि किसी ग्रन्थ के प्रकाशन का साहस नहीं होता। छपाई का दाम भी दुगुने से ज्यादा हो गया है। ऐसी स्थिति में, ग्रन्थ की अप्राप्यता और पाठकों की माँग को देखते हुए इसका प्रकाशन करना पड़ा है। अतएव हमें ग्रन्थ का मूल्य भी विवश होकर बढ़ाना पड़ा है। यद्यपि यह मूल्य कागज, छपाई, बाइडिंग आदि के बढ़े हुए मूल्य से कम ही है। हमें आशा है हमारी विवशता को पाठक क्षमा करेंगे और ग्रन्थ को पूर्ववत् अपनायेंगे।

प्रबन्ध—समिति, संरक्षक—सदस्यों और स्वस्तिक मुद्रणालय के समवेत प्रयत्नों से इसका प्रकाशन कार्य निर्बाध सम्पन्न हो सका है। अत: इन सबका आभार व्यक्त करता हूँ।

डॉ. दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि. जैन, संस्थान

दशलक्षण—पर्व,
द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ५,
वी. नि. सं. २५००,
२० सितम्बर, १९७४

प्राक्कथन

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुख और ऐन्द्रियक है। वह अपने दैनिक जीवन में अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दृश्य जगत् के आपाततः प्रतीयमान स्वरूप से ही सन्तुष्ट रहता है। जीवन में कठिन परिस्थितियों के आने पर ही उसके मन में समस्याओं का उदय होता है और वह जगत् के आपाततः प्रतीयमान रूप से, जिसमें कि उसे कई प्रकार की उलझनें प्रतीत होती हैं, सन्तुष्ट न रहकर उसके वास्तविक स्वरूप के जानने के लिए और उसके द्वारा अपनी उलझनों के समाधान के लिए प्रवृत्त होता है। इसी तथ्य का प्राचीन ग्रन्थों में—

''पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू—
स्तस्मात् पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मन्यवैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।'' —कठोप. २।१।१

इसप्रकार के शब्दों में प्रायः वर्णन किया गया है।

वास्तव में दार्शनिक दृष्टि का यहीं सूत्रपात होता है। दार्शनिक दृष्टि और तात्त्विक दृष्टि दोनों का समानार्थक समझना चाहिए।

व्यक्तियों के समान जातियों के जीवन में भी दार्शनिक दृष्टि सांस्कृतिक विकास की एक विशेष अवस्था में ही उद्भूत होती है। भारतीय संस्कृति की परम्परा की अतिप्राचीनता का बड़ा भारी प्रमाण इसी बात में है कि उसमें दार्शनिक दृष्टि की परम्परा अति—प्राचीनकाल से ही दिखलाई देती है। वास्तव में उसका प्रारम्भ कब हुआ, इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है।

वेदों का विशेषतः ऋग्वेद का काल अति प्राचीन है, इसमें सन्देह नहीं। उसके नासदीय सदृश सूक्तों और मन्त्रों में उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा पाई जाती है। ऐसे युग के साथ, जब कि प्रकृति के कार्य—निर्वाहक तत्तद्—देवताओं की स्तुति आदि के रूप में अत्यन्त जटिल वैदिक कर्मकाण्ड ही आर्य—जाति का परम ध्येय हो रहा था, उपर्युक्त उत्कृष्ट दार्शनिक विचारधारा की संगति बैठाना कुछ कठिन ही दिखलाई देता है। ऐसा हो सकता है कि उस दार्शनिक विचारधारा का आदि स्रोत वैदिक धारा से पृथक् या उससे पहिले का ही हो।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में कापिल– सांख्य दर्शन के लिए स्पष्टतः अवैदिक कहा है।[1] इस कथन में हमें तो कुछ ऐसी ध्वनि प्रतीत होती है कि उसकी परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेतर हो सकती है। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद–संहिता में जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अंकित हैं, उनकी स्वयं परम्परा और भी प्राचीनतर होना ही चाहिए।

जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नहीं, भिन्न भी है, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दार्शनिक धारा को हमने ऊपर जिस प्राग्वैदिक परम्परा से जोड़ा है, मूलतः जैन दर्शन भी उसी के स्वतन्त्र विकास की एक शाखा हो सकता है। उसकी सारी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से इसी बात की पुष्टि होती है।

जैनदर्शन का विशेष महत्त्व–

परन्तु जैनदर्शन का अपना विशेष महत्त्व उसकी प्राचीन परम्परा को छोड़कर अन्य महत्त्व के आधारों पर भी है। किसी भी तात्त्विक विमर्श का विशेषतः दार्शनिक विचार का महत्त्व इस बात में होना चाहिए कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओं पर वस्तुतः उन्हीं की दृष्टि से किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के बिना विचारे करे। भारतीय अन्य दर्शनों में शब्दप्रमाण का जो प्रामुख्य है वह एक प्रकार से उनके महत्त्व को कुछ कम ही कर देता है। उन दर्शनों में ऐसा प्रतीत होता है कि विचारधारा की स्थूल रूपरेखा का अंकन तो शब्द–प्रमाण कर देता है और तत्तद्दर्शन केवल उसमें अपने–अपने रंगों को ही भरना चाहते हैं। इसके विपरीत जैनदर्शन में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई बिल्कुल साफ स्लेट (Tabula Rasa) पर लिखना शुरू करता है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि में इस बात का बड़ा महत्त्व है। किसी भी व्यक्ति में दार्शनिक दृष्टि के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र विचारधारा की भित्ति पर अपने विचारों का निर्माण करे और परम्परा–निर्मित पूर्वाग्रहों से अपने को बचा सके।

उपर्युक्त दृष्टि से इस दृष्टि में मौलिक अन्तर है। पूर्वोक्त दृष्टि में दार्शनिक दृष्टि शब्दप्रमाण के पीछे–पीछे चलती है और जैन दृष्टि में शब्दप्रमाण को दार्शनिक दृष्टि का अनुगामी होना पड़ता है।

---

[1] 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्'। –ब्र. सू. शां. भा. २।१।१।

जैनदर्शन नास्तिक नहीं—

इसी प्रसंग में भारतीय दर्शन के विषय में एक परम्परागत मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें आवश्यक होता है। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो शाखाएँ हैं। तथाकथित 'वैदिक' दर्शनों को आस्तिक दर्शन और जैन, बौद्ध जैसे दर्शनों को 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। वस्तुत: यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द ''अस्ति नास्ति दिष्टं मति:'' (पा. ४।४।३०) इस पाणिनिसूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को माननेवाला 'आस्तिक' और न माननेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। स्पष्टत: इस अर्थ में जैन बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द—प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्टय ही है।

जैनदर्शन की देन—

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन की अपनी अनोखी देन है। दर्शन शब्द का फिलासफी के अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है, इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है, तो भी इस शब्द की इस अर्थ में प्राचीनता के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। तत्तद दर्शनों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग मूल में इसी अर्थ से हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण में तत्तद् व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या अधिकारिता के भेद से जो तात्त्विक दृष्टिभेद होता है उसी के दर्शन शब्द से व्यक्त किया जाय। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावत: होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावत: होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैनदर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्तदर्शन' कहा गया है। जैनदर्शन का तो यह आधारस्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए।

बौद्धिक स्तर में इस सिद्धान्त के मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्व का परिवर्तन आ जाता है। चारित्र ही मानव के जीवन का सार है। चारित्र के लिए मौलिक आवश्यकता

इस बात की है कि मनुष्य एक ओर तो अभिमान से अपने को पृथक् रखे, साथ ही हीन भावना से भी अपने को बचाये। स्पष्टतः यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। वास्तविक अर्थों में जो अपने स्वरूप को समझता है, दूसरे शब्दों में आत्मसम्मान करता है और साथ ही दूसरे के व्यक्तित्व को भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्ग अनुगामी बन सकता है। इसीलिए सारे नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैनदर्शन के उपर्युक्त अनेकान्तदर्शन का अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का सम्मान निहित है।

जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है वहाँ स्वभावतः साम्प्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी छल, जाति, जल्प, वितण्डा आदि जैसे असदुपाय से वादिपराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन में भी खण्डन के स्थान में समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति ही वहाँ रहती है। साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का महान् आदर्श भी उक्त सिद्धान्त के साथ ही रह सकता है। इसप्रकार अनेकान्तदर्शन नैतिक उत्कर्ष के साथ–साथ व्यवहारशुद्धि के लिए भी जैनदर्शन की एक महान् देन है।

विचार–जगत् का अनेकान्तदर्शन ही नैतिक जगत् में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए जहाँ अन्य दर्शनों में परमतखण्डन पर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैनदर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त–सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थिति मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है। वर्तमान जगत् की विचार धारा की दृष्टि से भी जैनदर्शन के व्यापक अहिंसामूलक सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्व है। आजकल के जगत् की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अपने–अपने परम्परागत वैशिष्टय को रखते हुए भी विभिन्न मनुष्य जातियाँ एक–दूसरे के समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवता की दृष्टि का विकास हो। अनेकान्तसिद्धान्तमूलक समन्वय की दृष्टि से ही यह हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिए, अपितु भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैनदर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमतसहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैनदर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ—

अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टि से जैनदर्शन के स्वरूप को स्पष्ट किया गया हो। बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि इस बड़ी भारी कमी को प्रकृत पुस्तक के द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान् लेखक ने दूर कर दिया है। पुस्तक की शैली विद्वत्तापूर्ण है। उसमें प्राचीन मूल ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार से जैनदर्शन के सभी प्रमेयों का बड़ी विशद रीति से यथासम्भव सुबोध शैली में निरूपण किया गया है। विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों के साथ तद्विषयक आधुनिक दृष्टियों का भी इसमें सन्निवेश और उन पर प्रसंगानुसार विमर्श करने का भी प्रयत्न किया गया है। पुस्तक अपने में मौलिक, परिपूर्ण और अनूठी है।

न्यायाचार्य आदि पदवियों से विभूषित प्रो. महेन्द्रकुमार जी अपने विषय के परिनिष्ठित विद्वान् हैं। जैनदर्शन के साथ तात्त्विक दृष्टि से अन्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनका एक महान् वैशिष्टय है। अनेक प्राचीन दुरुह दार्शनिक ग्रन्थों का उन्होंने बड़ी योग्यता से सम्पादन किया है। ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत यह 'जैनदर्शन' वास्तव में राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए एक बहुमूल्य देन है। हम हृदय से इस ग्रन्थ का अभिनन्दन करते हैं।

वाराणसी
२०।१०।५५

—मंगलदेव शास्त्री
एम., ए., डी. फिल (ऑक्सन),
पूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी

दो शब्द

जब भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित न्यायविनिश्चय विवरण और तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में मैंने सुहृद्वर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के 'स्याद्वाद' विषयक विचारों की आलोचना की, तो उन्होंने मुझे उलाहना दिया कि ''क्यों नहीं आप स्याद्वाद दो ग्रन्थ लिखते— एक गम्भीर ओर विद्वद्भोग्य और दूसरा स्याद्वाद प्रवेशिका''। उनके इस उलाहने ने इस ग्रन्थ के लिखने का संकल्प कराया और उक्त दोनों प्रयोजनों को साधने के हेतु इस ग्रन्थ का जन्म हुआ।

ग्रन्थ के लिखने के संकल्प के बाद लिखने से लेकर प्रकाशन तक की इसकी विचित्र कथा है। उसमें न जाकर उन सब अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप निर्मित अपनी इस कृति को मूर्तरूप में देखकर सन्तोष का अनुभव करता हूँ।

जैनधर्म और दर्शन के सम्बन्धों में बहुत प्राचीन काल से ही विभिन्न साम्प्रदायिक और संकुचित सांस्कृतिक कारणों से एक प्रकार का उपेक्षा का भाव ही नहीं, उसे विपर्यास करके प्रचारित करने की प्रवृत्ति भी जान–बूझकर चालू रही है। इसके लिए पुराकाल में जो भी प्रचार के साधन–ग्रन्थ, शास्त्रार्थ और रीति–रिवाज आदि थे, उन प्रत्येक का उपयोग किया गया। जहाँ तक विशुद्ध दार्शनिक मतभेद की बात है, वहाँ तक दर्शन के क्षेत्र में दृष्टिकोणों का भेद होना स्वाभाविक है। पर जब वे ही मतभेद साम्प्रदायिक वृत्तियों की जड़ में चले जाते हैं। भारतीय दर्शनों के विकास का इतिहास इस बात का पूरी तरह साक्षी है। दर्शन ऐसी औषधि है कि यदि इसका उचित रूप में ओर उचित मात्रा में उपयोग नहीं किया गया, तो यह समाज–शरीर को सड़ा देगी और उसे विस्फोट के पास पहुँचा देगी।

जैनतीर्थंकरों ने मनुष्य की अहंकारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानस का स्पष्ट दर्शन कर उन तत्त्वों की ओर प्रारम्भ से ध्यान दिलाया है, जिनसे इसकी दृष्टि की एकांगिता निकलकर उसमें अनेकांगिता आती है और वह अपनी दृष्टि की तरह सामनेवाले व्यक्ति की दृष्टि का भी सम्मान करना सीखती है, उसके प्रति सहिष्णु होती है, अपनी तरह उसे भी जीवित रहने और परमार्थ होने की अधिकारिणी मानती है। दृष्टि में इस आत्मौपम्य भाव के आ जाने पर उसकी भाषा बदल जाती है, उसमें स्वमत का दुर्दान्त अभिनिवेश हटकर समन्वयशीलता आती है। उसकी भाषा में पर का तिरस्कार न होकर उसके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षा दृष्टि को समझने की सरल वृत्ति आ जाती है और इस तरह भाषा में से आग्रह यानी एकान्त विष दूर होते ही उसकी स्याद्वादामृतगर्भिणी वाक्सुधा से चारों ओर संवाद, सुख और शान्ति की सुषमा सरसने लगती है, सब ओर संवाद ही संवाद होता है, विसंवाद, विवाद और कलह–कण्टक उन्मूल हो जाते हैं। इस मनःशुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि और वचनशुद्धि अर्थात् स्याद्वादमय वाणी के होते ही उसके जीवन–व्यवहार का नकशा ही बदल जाता है, उसका कोई भी आचरण या व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे कि दूसरे के स्वातन्त्र्य पर आँच पहुँचे। तात्पर्य यह कि वह ऐसे महात्मत्व की[2] ओर चलने लगता है, जहाँ मन, वचन और कर्म की एकसूत्रता होकर स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होने लगता है।

---

[2] ''मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्''।

ऐसे स्वस्थ स्वोदयी व्यक्तियों से ही वस्तुत: सर्वोदयी नव समाज का निर्माण हो सकता है और तभी विश्वशान्ति की स्थायी भूमिका आ सकती है।

भ. महावीर तीर्थंकर थे, दर्शनंकर नहीं। वे उस तीर्थ अर्थात् तरने का उपाय बताना चाहते थे, जिससे व्यक्ति निराकुल और स्वस्थ बनकर समाज, देश और विश्व की सुन्दर इकाई हो सकता है। अत: उनके उपदेश की धारा वस्तु स्वरूप की अनेकान्तरूपता तथा व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की चरम प्रतिष्ठा पर आधारित थी। इसी का फल है कि जैनदर्शन का प्रवाह मन: शुद्धि और वचनशुद्धि मूलक अहिंसक आचार की पूर्णता को पाने की ओर है। उसने परमत में दूषण दिखाकर भी उनका वस्तुस्थिति के आधार से समन्वय का मार्ग भी दिखाया है। इस तरह जैनदर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता जीवन को यथार्थ वस्तुस्थिति के आधार से बुद्धिपूर्वक संवादी बनाने में है और किसी भी सच्चे दार्शनिक का यही उद्देश्य होना भी चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने इसी भाव से 'जैनदर्शन' की मौलिक दृष्टि समझाने का प्रयत्न किया है। इसके प्रमाण, प्रमेय और नय की मीमांसा तथा स्याद्वाद–विचार आदि प्रकरणों में इतर दर्शनों की समालोचना तथा आधुनिक भौतिकवाद और विज्ञान की मूल धाराओं का भी यथासम्भव आलोचन–प्रत्यालोचन करने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक परमत–खण्डन का प्रश्न है, मैंने उन–उन मतों के मूल ग्रन्थों से वे अवतरण दिये हैं या उनके स्थल का निर्देश किया है, जिससे समालोच्य पूर्वपक्ष के सम्बन्ध में भ्रान्ति न हो।

इस ग्रन्थ में १२ प्रकरण हैं। इनमें संक्षेपरूप से उन ऐतिहासिक और तुलनात्मक विकास–बीजों को बताने की चेष्टा की गई है, जिनसे यह सहज समझ में आ सके कि तीर्थंकर की वाणी के बीज किन–किन परिस्थितियों में कैसे–कैसे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और सफल हुए।

१. प्रथम प्रकरण– 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' में इस कर्मभूमि के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक तथा उनसे आगे के आचार्यों तक जैन तत्त्व की धारा किस रूप में प्रवाहित हुई है, इसका सामान्य विचार किया गया है। इसी में जैनदर्शन का युग–विभाजनकर उन–उन युगों में उसका क्रमिक विकास बताया है।

२. द्वितीय प्रकरण— 'विषय प्रवेश' में दर्शन की उद्भूति, दर्शन का वास्तविक अर्थ, भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य जैनदर्शन के मूल मुद्दे आदि शीर्षकों से इस ग्रन्थ के विषय—प्रवेश का सिलसिला जमाया गया है।

३. तृतीय— 'जैनदर्शन की देन' प्रकरण में जैनदर्शन की महत्त्वपूर्ण विरासत अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद—भाषा, अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप, धर्मज्ञता—सर्वज्ञताविवेक, पुरुषप्रामाण्य, निरीश्वरवाद, कर्मणा वर्णव्यवस्था, अनुभव की प्रमाणता और साध्य की तरह साधन की पवित्रता का आग्रह आदि का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है।

४. चतुर्थ— 'लोक—व्यवस्था' प्रकरण में इस विश्व की व्यवस्था जिस उत्पादादि त्रयात्मक परिणामी स्वभाव के कारण स्वयमेव है उस परिणामवाद का, सत् के स्वरूप का और निमित्त, उपादान आदि का विवेचन है। साथ ही विश्व की व्यवस्था के सम्बन्ध में जो कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पुरुषवाद, कर्मवाद, भूतवाद, यदृच्दावाद और अव्याकृतवाद आदि प्रचलित थे, उनकी आलोचना करके उत्पादादित्रयात्मक परिणामवाद का स्थापन किया गया है। आधुनिक भौतिकवाद, विरोधी समागम और द्वन्द्ववाद की तुलना और मीमांसा भी परिणामवाद से की गई ळे।

५. पञ्चम— 'पदार्थस्वरूप' प्रकरण में पदार्थ के त्रयात्मक स्वरूप, गुण और धर्म की व्याख्या आदि करके सामान्यविशेषात्मकत्व का समर्थन किया गया है।

६. छठे— 'षट् द्रव्यविवेचन' प्रकरण में जीवद्रव्य के विवेचन में व्यापक आत्मवाद, अणुआत्मवाद, भूतचैतन्यवाद आदि की मीमांसा करके आत्मा को कर्ता, भोक्ता,स्वदेहपरिमाण और परिणामी सिद्ध किया गया है। पुद्गल द्रव्य के विवेचन में पुद्गलों के अणु—स्कन्ध भेद, स्कन्ध की प्रक्रिया, शब्द, बन्ध आदि का पुद्गलपर्यायत्व आदि सिद्ध किया है। इसी तरह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य का विविध मान्यताओं का उल्लेख करके स्वरूप बताया है। साथ ही वैशेषिक आदि की द्रव्य—व्यवस्था और पदार्थ—व्यवस्था का अन्तर्भाव दिखाया है। इसी प्रकरण में कार्योत्पत्तिविचार में सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद आदि की आलोचना करके सदसत्कार्यवाद का समर्थन किया है।

७. सतवें— 'सप्ततत्त्वनिरूपण' प्रकरण में मुमुक्षुओं को अवश्य ज्ञातव्य जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात

तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। बौद्धों के चार आर्यसत्यों की तुलना, निर्वाण और मोक्ष का भेद, नैरात्म्यवाद की मीमांसा; आत्मा की अनादिबद्धता आदि विषयों की चर्चा भी प्रसंगतः आई है। शेष अजीव आदि तत्त्वों का विशद विवेचन तुलनात्मक ढंग से किया है।

८. आठवें— 'प्रमाणमीमांसा' प्रकरण में प्रमाण के स्वरूप, भेद, विषय और फल इन चारों मुद्दों पर खूब विस्तार से परपक्ष की मीमांसा करके विवेचन किया गया है। प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास शीर्षकों में सांख्य, वेदान्त, शब्दाद्वैत, क्षणिकवाद आदि की मीमांसा की गई है। आगम प्रकरण में वेद के अपौरुषेयत्व का विचार, शब्द की अर्थवाचकता, अपोहवाद की परीक्षा, प्राकृत—अपभ्रंश शब्दों की अर्थवाचकता, आगमवाद तथा हेतुवाद का क्षेत्र आदि सभी प्रमुख विषय चर्चित हैं। मुख्य प्रत्यक्ष के निरूपण में सर्वज्ञसिद्धि और सर्वज्ञता के इतिहास का निरूपण है। विपर्ययज्ञान के प्रकरण में अख्याति, असत्ख्याति आदि की मीमांसा करके विपरीत ख्याति की गई है।

९. नवें— 'नयविचार' प्रकरण में नयों का स्वरूप, द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक भेद, सातों नयों का तथा तदाभासों का विवेचन, निक्षेप—प्रक्रिया और निश्चय—व्यवहारनय आदि का खुलासा किया गया है।

१०. दसवें— 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' प्रकरण में स्याद्वाद की निरुक्ति, आवश्यकता, उपयोगिता और स्वरूप बताकर 'स्याद्वाद' के सम्बन्ध में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, सर राधाकृष्णन्, प्रो. बलदेव जी उपाध्याय, डॉ. देवराज जी, श्री हनुमन्तराव जी आदि आधुनिक दर्शन—लेखकों के मत की आलोचना करके स्याद्वाद के सम्बन्ध में प्राचीन आ. धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्धदार्शनिक, शंकराचार्य, भास्कराचार्य आदि वैदिक तथा तत्त्वोपप्लववादी आदि के भ्रान्त मतों की विस्तृत समीक्षा की गई है। सप्तभंगी का स्वरूप, सकलादेश—विकलादेश की रेखा तथा इस सम्बन्ध में आ. मलयगिरि आदि के मतों की मीमांसा करके स्याद्वाद की जीवनोपयोगिता सिद्ध की है। इसी में संशयादि दूषणों का उद्धार करके वस्तु को भावाभावात्मक, नित्यानित्यात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक और भेदाभेदात्मक सिद्ध किया है।

११. ग्यारहवें— 'जैनदर्शन और विश्वशान्ति' प्रकरण में जैनदर्शन की अनेकान्तदृष्टि और समन्वय की भावना, व्यक्तिस्वातन्त्र्य की

स्वीकृति और सर्व समानाधिकार की भूमि पर सर्वोदयी समाज का निर्माण और विश्वशान्ति की सम्भावना का समर्थन किया है।

१२. बारहवें– 'जैनदार्शनिक साहित्य' प्रकरण में दिगम्बर–श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों का शताब्दीवार नामोल्लेख करके सूची प्रस्तुत की गई है।

इस तरह इस ग्रन्थ में 'जैनदर्शन' के सभी अंगों पर समूल पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अन्त में मैं उन सभी उपकारों का आभार मानना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ इस रूप में प्रकाश में आ गया है। सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता गुरुवर्य श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य पं. गणेशप्रसाद जी वर्णी का सहज स्नेह और आशीर्वाद इस जन को सदा प्राप्त रहा है।

भारतीय संस्कृति के तटस्थ विवेचक डॉ. मंगलदेव जी शास्त्री पूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज ने अपना अमूल्य समय लगाकर 'प्राक्कथन' लिखने की कृपा की है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम की लाइब्रेरी में बैठकर ही इस ग्रन्थ का लेखन कार्य हुआ है और उसकी बहुमूल्य ग्रन्थराशि का इसमें उपयोग हुआ है। भाई पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने, जो जेन समाज के खरे विचारक विद्वान् हैं, आड़े समय में इस ग्रन्थ को जिस कसक–आत्मीयता और तत्परता से श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराने का प्रबन्ध किया है उसे मैं नहीं भुला सकता। मैं इन सबका हार्दिक आभार मानता हूँ और इस आशा से इस राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखे गये प्रथम 'जैनदर्शन' ग्रन्थ को पाठकों के सन्मुख रख रहा हूँ कि वे इस प्रयास को सद्भाव की दृष्टि से देखेंगे और इसकी त्रुटियों की सूचना देने की कृपा करेंगे, ताकि आगे उनका सुधार किया जा सके।

विजयादशमी
न्य वि. सं. २०१२
ता. २६।१०।५५

—महेन्द्रकुमार
प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषयानुक्रम

१. पृष्ठभूमि और सामान्यवलोकन

कर्मभूमि का प्रारम्भ
आद्य तीर्थंकर
तीर्थंकर नेमिनाथ
२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ
अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर
सत्य एक और त्रिकालाबाधित
जैनधर्म और दर्शन के मूल मुद्दे
जैनश्रुत
दोनों परम्पराओं का आगमश्रुत
श्रुतविच्छेद का मूल कारण
कालविभाग
सिद्धान्त—आगमकाल
शापकतत्त्व
कुन्दकुन्द और उमास्वाति
पूज्यपाद
अनेकान्तस्थापनकाल
समन्तभद्र व सिद्धसेन
पात्रकेसरी व श्रीदत्त
प्रमाणव्यवस्थायुग
जिनभद्र और अकलंक
उपायतत्त्व
नवीन न्याययुग
उपसंहार

२. **विषयप्रवेश**
दर्शन की उद्भूति
दर्शन शब्द का अर्थ
दर्शन का अर्थ निर्विकल्पक नहीं
दर्शनकी पृष्ठभूमि
दर्शन अर्थात् भावनात्मक साक्षात्कार
दर्शन अर्थात् दृढ़प्रतीति
जैन दृष्टिकोण से दर्शन अर्थात् नय
सुदर्शन और कुदर्शन
दर्शन एक दिव्यज्योति
भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य
दो विचारधाराएँ
युगदर्शन

३. **भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन**
मानस अहिंसा अर्थात् अनेकान्त दृष्टि
वस्तु सर्वधर्मात्मक नहीं
अनेकान्तदृष्टि का वास्तविक क्षेत्र
मानस समता का प्रतीक

स्याद्वाद एक निर्दोष भाषा–शैली अहिंसा का आधारभूत तत्त्वज्ञान: अनेकान्तदर्शन
विचार की चरम रेखा
स्वत: सिद्ध न्यायाधीश
वाचनिक अहिंसा : स्याद्वाद
स्यात् एक प्रहरी
स्यात् का अर्थ शायद नहीं
अविवक्षित का सूचक 'स्यात्'
धर्मज्ञता और सर्वज्ञता
निर्मल आत्मा स्वयं प्रमाण
निरीश्वरवाद
कर्मणा वर्णव्यवस्था
अनुभव की प्रमाणता
साधन की पवित्रता का आग्रह
तत्त्वाधिगम के उपाय

४. लेक व्यवस्था

जैनी लोकव्यवस्था का मूल मन्त्र
परिणमनों के प्रकार
परिणमन का कोई अपवाद नहीं
धर्मद्रव्य
अधर्मद्रव्य
आकाशद्रव्य
कालद्रव्य
निमित्त और उपादान
कालवाद
स्वभाववाद
नियतिवाद
आ. कुन्दकुन्द का अकर्तृतववाद
पुण्य और पाप क्या?
गोड से हत्यारा क्यों?
एक ही प्रश्न एक ही उत्तर
कारण हेतु
नियति एक भावना है
कर्मवाद
कर्म क्या है?
कर्मविपाक
यदृच्छावाद
पुरुषवाद
ईश्वरवाद
भूतवाद
अव्याकृतवाद
उत्पादादित्रयात्मक परिणामवाद
दो विरुद्ध शक्तियाँ
लोक शाश्वत है
द्रव्ययोग्यता और पर्याय योग्यता

कर्म की कारणता
जड़वाद और परिणामवाद
जड़वाद का आधुनिक रूप
जड़वाद का एक और स्वरूप
विरोधिसमागम अर्थात् उत्पाद और व्यय
चेतनसृष्टि
समाजव्यवस्था के लिए जड़वादी अनुपयोगिता
समाजव्यवस्था का आधार समता
जगत्स्वरूप के दो पक्ष: १. भौतिकवाद और २. विज्ञानवाद
लोक और अलोक
लोक स्वयं सिद्ध है
जगत् पारमार्थिक और स्वत: सिद्ध है

५. पदार्थ का स्वरूप
गुण और धर्म
अर्थ सामान्यविशेषात्मक है
स्वरूपास्तित्व और सन्तान
स्सन्तान का खोखलापन
उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रातीतिक है
दो सामान्य
दो विशेष
सामान्यविशेषात्मक अर्थात्
द्रव्यपर्यायात्मक

६. षट्द्रव्य विवेचन
छह द्रव्य
जीवद्रव्य
व्यापक आत्मवाद
अणु आत्मवाद
भूतचैतन्यवाद
इच्छा आदि आत्मधर्म हैं
कर्त्ता और भोक्ता
रागादि वात–पित्तादि के धर्म नहीं
विचार वातावरण बनाते हैं
जैसी करनी वैसी भरनी
नूतन शरीर धारण की प्रक्रिया
सृष्टिचक्र स्वयं चालित है
जीवों के भेद: संसारी और मुक्त
पुद्गलद्रव्य
स्कन्धों के भेद
स्कन्ध आदि चार भेद
बन्ध की प्रक्रिया
शब्द आदि पुद्गल की पर्यायें हैं
शब्द शक्तिरूप नहीं है

पुद्गल के खेल
छाया पुद्गल की पर्याय है
एक ही पुद्गल मौलिक है
पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं
प्रकाश व गरमी शक्तियाँ नहीं
परमाणु की गतिशीलता
धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य
आकाशद्रव्य
दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं
शब्द आकाश का गुण नहीं
आकाश प्रकृति का विकार नहीं
बौद्ध परम्परा में आकाश का स्वरूप
कालद्रव्य
वैशेषिक की मान्यता
बौद्धपरम्परा में काल
वैशेषिक की द्रव्यमान्यता का विचार
गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं
अवयवी का स्वरूप
गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं
रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं
कार्योत्पत्ति—विचार
सांख्य का सत्कार्यवाद
नैयायिक का असत्कार्यवाद
बौद्धों का असत्कार्यवाद
जैनदर्शन का सदसत्कार्यवाद
धर्मकीर्ति के आक्षेप का समाधान

७. तत्त्व—निरूपण

तत्त्वव्यवस्था का प्रयोजन
बौद्धों के चार आर्यसत्य
बुद्ध का दृष्टिकोण
आत्म तत्त्व
जैनों के सात तत्त्वों का मूल आत्मा
तत्त्वों के दो रूप
तत्त्वों की अनादिता
आत्मा को अनादिबद्ध मानने का कारण
व्यवहार से जीव मूर्तिक भी है
आत्मा की दशा
आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि
नैरात्म्यवाद की असारता
पञ्चस्कन्धरूप आत्मा नहीं
आत्मा के तीन प्रकार
चारित्र का आधार
अजीवतत्त्व
बन्धतत्त्व

चार बन्ध
आस्रवतत्त्व
मिथ्यात्व
अविरति
प्रमाद
कषाय
योग
दो आस्रव
मोक्षतत्त्व
दीप निर्वाण की तरह आत्मा निर्वाण नहीं
निर्वाण में ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद नहीं होता
मिलिन्दप्रश्न के निर्वाण वर्णन का तात्पर्य
मोक्ष न कि निर्वाण
संवरतत्त्व
समिति
धर्म
अनुप्रेक्षा
परीषहजय
चारित्र
निर्जरातत्त्व
मोक्ष के साधन

८. प्रमाणमीमांसा

ज्ञान और दर्शन
प्रमाणादिव्यवस्था का आधार
प्रमाण का स्वरूप
प्रमाण और नय
विभिन्न लक्षण
अविसंवाद की प्रायिक स्थिति
तदाकारता प्रमाण नहीं
सामग्री प्रमाण नहीं
इन्द्रियव्यापार भी प्रमाण नहीं
प्रामाण्य–विचार
प्रमाणसम्प्लव–विचार
प्रमाण के भेद
प्रत्यक्ष प्रमाण
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष
इन्द्रियों की प्राप्यकारिता अप्राप्यकारिता
सन्निकर्ष–विचार
श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं
ज्ञान का उत्पत्तिक्रम, अवग्रहादि भेद
सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं
अवग्रहादि बहु आदि अर्थों के होते हैं
विपर्ययज्ञान का स्वरूप
असत्ख्याति और आत्मख्याति नहीं
विपर्ययज्ञान के कारण

अनिर्वचनीयार्थ ख्याति नहीं
अख्याति नहीं
असत्ख्याति नहीं
विपर्ययज्ञान स्मृतिप्रमोष नहीं
संशय का स्वरूप
पारमार्थिक प्रत्यक्ष
अवधिज्ञान
मन:पर्ययज्ञान
केवलज्ञान
सर्वज्ञता का इतिहास
परोक्ष प्रमाण
चार्वाक के परोक्ष प्रमाण न मानने की आलोचना
स्मरण
प्रत्यभिज्ञान
स: और अयम् को दो ज्ञान माननेवाले बौद्ध का खण्डन
प्रत्यभिज्ञान का प्रत्यक्ष में अनन्तर्भाव
उपमान सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है
नैयायिक का उपमान भी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है
तर्क
व्याप्ति का स्वरूप
अनुमान
लिंग परमार्श अनुमति का कारण नहीं
अविनाभाव तादात्म्य तदुत्पत्ति से नियन्त्रित नहीं
साधन
साध्य
अनुमान के भेद
स्वार्थानुमान के अंग
धर्मी का स्वरूप
परार्थानुमान
परार्थानुमान के दो अवयव
अवयवों की अन्य मान्यताएँ
पक्षप्रयोग की आवश्यकता
उदाहरण की व्यर्थता
हेतुस्वरूप—मीमांसा
हेतु के प्रकार
कारण हेतु का समर्थन
पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु
हेतु के भेद
अदृश्यानुपलब्धि भी अभावसाधिका
उदाहरणादि
व्याप्य और व्यापक
अकस्मात् धूमदर्शन से होनेवाला अग्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं
अर्थापत्ति अनुमान में अन्तर्भूत है
संभव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं
अभाव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं

कथा—विचार
साध्य की तरह साधनों की भी पवित्रता
जय—पराजयव्यवस्था
पत्रवाक्य
आगमश्रुत
श्रुत के तीन भेद
आगमवाद और हेतुवाद
वेद के अपौरुषेयत्व का विचार
शब्दार्थप्रतिपत्ति
शब्द की अर्थवाचकता
अन्यापोह शब्द का वाच्य नहीं
सामान्यविशेषात्मक अर्थ वाच्य है
प्राकृत—अपभ्रंश शब्दों की अर्थ वाचकता
उत्तर पक्ष
उपसंहार
ज्ञान के कारण
बौद्धों के चार प्रत्यय और तदुत्पत्ति आदि
अर्थ कारण नहीं
आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं
प्रमाण का फल
प्रमाण और फल का भेदाभेद
प्रमाणाभास
सन्निकर्षादि प्रमाणाभास
प्रत्यक्षाभास
परोक्षाभास
सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास
मुख्यप्रत्यक्षाभास
तर्काभास
अनुमानाभास
हेत्वाभास
दृष्टान्ताभास
उदाहरणाभास
बालप्रयोगाभास
आगमाभास
संख्याभास
विषयाभास
ब्रह्मवाद—विचार : पूर्वपक्ष
जैन का उत्तरपक्ष
शब्दाद्वैतवाद—समीक्षा
सांख्य के 'प्रधान' सामान्यवाद की मीमांसा
विशेषपदार्थवाद (क्षणिकवादमीमांसा)
विज्ञानवाद की समीक्षा
शून्यवाद की आलोचना
उभयस्वतन्त्रवादमीमांसा
फलाभास

९. नय विचार
नय का लक्षण
नय प्रमाणैकदेश है
सुनय—दुर्नय
दो नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक
परमार्थ और व्यवहार
द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक तीन प्रकार के पदार्थ और निक्षेप
तीन और सात नय
ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय
मूल नय सात
नैगमनय
नैगमाभास
संग्रह—संग्रहाभास
व्यवहार और व्यवहाराभास
ऋजुसूत्र—तदाभास
शब्दनय और तदाभास
समभिरूढ और तदाभास
एवंभूत तथा तदाभास
नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं
अर्थनय शब्दनय
द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक विभाग
निश्चय और व्यवहार
द्रव्य का शुद्ध लक्षण
त्रिकालव्यापि चित् ही लक्षण हो सकता है।
निश्चय का वर्णन असाधारण लक्षण का कथन है
पंचाध्यायी का नयविभाग
१०. स्याद्वाद और सप्तभंगी
स्याद्वाद की उद्भूति
स्याद्वाद की व्युत्पत्ति
स्याद्वाद: विशिष्ट भाषापद्धति
विरोध—परिहार
वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता
प्रागभाव
प्रध्वंसाभाव
इतरेतराभाव
अत्यन्ताभाव
सदसदात्मक तत्त्व
एकानेकात्मक तत्त्व
नित्यानित्यात्मक तत्त्व
भेदाभेदात्मक तत्त्व
स्प्तभंगी
अपुनरुक्त भंग सात हैं
सात ही भंग क्यों?
अवक्तव्य भंग का अर्थ
स्यात् शब्द के प्रयोग का नियम

प्रमत की अपेक्षा भंगयोजना
स्कलादेश और विकलादेश
कालादि की दृष्टि से भेदाभेद कथन
भंगों में सकल–विकलादेशता
मलयगिरि आचार्य के मत की मीमांसा
संजयके विक्षेपवाद से स्याद्वाद नहीं निकला
बुद्ध और संजय
'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं
डॉ. सम्पूर्णानन्द का मत
शंकराचार्य और स्याद्वाद
अनेकान्त भी अनेकान्त है
प्रो. बलदेव जी उपाध्याय के मत की आलोचना
सर राधाकृष्णन् के मत की मीमांसा
धर्मकीर्ति और अनेकान्तवाद
प्रज्ञाकरगुप्त, अर्चट व स्याद्वाद
शान्तरक्षित और स्याद्वाद
कर्णकगोमि और स्याद्वाद
विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि और अनेकान्तवाद
जयराशिभट्ट और अनेकान्तवाद
व्योमशिव और अनेकान्तवाद
भास्कराचार्य और स्याद्वादवाद
विज्ञानभिक्षु और स्याद्वादवाद
श्रीकण्ठ और अनेकान्तवाद
रामानुज और स्याद्वाद
वल्लभाचार्य और स्याद्वाद
निम्बार्काचार्य और अनेकान्तवाद
भेदाभेद–विचार
संशयादिदूषणों का उद्धार
डॉ. भगवानदास जी की समन्वय की पुकार
११. जैनदर्शन और विश्वशान्ति
१२. जैन दार्शनिक साहित्य

जैनदर्शन

१. पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन

कर्मभूमि का प्रारम्भ–

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस कल्पकाल में पहले भोगभूमि थी। यहाँ के निवासी अपनी जीवनयात्रा कल्पवृक्षों से चलाते थे। उनके खाने–पीने, पहिरने–ओढ़ने, भूषण, मकान, सजाव, प्रकाश और आनन्द–विलास की सब आवश्यकताएँ इन वृक्षों से ही पूर्ण हो जाती

थीं। इस समय न शिक्षा थी और न दीक्षा। सब अपने प्राकृत भोग में ही मग्न थे। जनसंख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और दोनों ही जीवन सहचर बनकर साथ रहते थे और मरते भी साथ ही थे। जब धीरे–धीरे यह भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई, जनसंख्या बढ़ी और कल्पवृक्षों की शक्ति प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकी, तब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में सन्तान–युगल के उत्पन्न होते ही माँ–बाप युगल मर जाते थे। अत: कुटुम्ब रचना और समाज रचना का प्रश्न ही नहीं था। प्रत्येक युगल स्वाभाविक क्रम से बढ़ता था और स्वाभाविक रीति से ही भोग भोगकर अपनी जीवनलीला प्रकृति की गोद में ही संवृत कर देता था; किन्तु जब सन्तान अपने जीवनकाल में ही उत्पन्न होने लगी और उनके लालन–पाल, शिक्षा–दीक्षा आदि की समस्याएँ सामने आईं, तब वस्तुत: भोगजीवन से कर्मजीवन प्रारम्भ हुआ। इसी समय क्रमश: चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते हैं। वे इन्हें भोजन बनाना, खेती करना, जंगली पशुओं से अपनी और सन्तान की रक्षा करना, उनका सवारी आदि में उपयोग करना, चन्द्र, सूर्य आदि से निर्भय रहना तथा समाज रचनाके मूलभूत अनुशासन के नियम आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते हैं, इसीलिए उन्हें कुलकर या मनु कहते हैं। अन्तिम कुलकर श्रीनाभिराय ने जन्म के समय बच्चों की नाभिका नाल काटना सिखाया था, इसीलिए इनका नाम नाभिराय पड़ा था। इनकी युगलसहचरी का नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव–

इनके ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। वस्तुत: कर्मभूमि का प्रारम्भ इनके समय से होता है। गाँव, नगर आदि इन्हीं के काल में बसे थे। इन्हीं ने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षराभ्यासके लिए लिपि बनाई थी, जो ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी लिपि का विकसित रूप वर्तमान नागरी लिपि है। भरत इन्हीं के पुत्र थे, जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। भरत बड़े ज्ञानी और विवेकी थे। ये प्रथम षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती थे। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज–व्यवस्था की स्थिरता के लिए प्रजा का कर्म के अनुसार क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्तिवालों को वैश्य और शिल्प तथा नृत्य आदिकलाओं से आजीविका चलानेवालों को शूद्र वर्ण में स्थान दिया। ऋषभदेव के मुनि हो जाने के बाद भरत चक्रवर्ती ने इन्हीं तीन वर्णों में से व्रत और चारित्र धारण करनेवाले सुशील व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसका आधार केवल व्रत–संस्कार था अर्थात् जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतों से सुसंस्कृत थे, वे ब्राह्मणवर्ण में परिगणित किए गए। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हुई। ऋषभदेव ही प्रमुख रूप से कर्मभूमि व्यवस्था के अग्र सूत्रधार थे; अत: इन्हें आदिब्रह्मा या आदिनाथ कहते हैं। प्रजा की रक्षा और

व्यवस्था में तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में जिस प्रकार व्यवहारार्थ राज्यव्यवस्था और समाज–रचना का प्रवर्तन किया, उसी तरह तीर्थकाल में व्यक्ति की शुद्धि और समाज में शान्ति स्थापना के लिए 'धर्मतीर्थ' का भी प्रवर्तन किया। अहिंसा को धर्म की मूल धुरा मानकर इसी अहिंसा का समाज रचना के लिए आधार बनाने के हेतु से सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह आदि के रूप में अवतार किया। साधनाकाल में इनकेराज्य का परित्याग कर बाहर–भीतर की सभी गाँठें खोल परम निर्ग्रन्थ मार्ग का अवलम्बन कर आत्मसाधना की और क्रमशः कैवल्य प्राप्त किया। यही धर्मतीर्थ के आदि प्रवर्तक थे।

इनकी ऐतिहासिकता को सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी और सर राधाकृष्णन आदि स्वीकार करते हैं। भागवत (५।२–६) में जो ऋषभदेव का वर्णन मिलता है वह जैन परम्परा के वर्णन से बहुत कुछ मिलता–जुलता है। भागवत में जैनधर्म के संस्थापक के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख होना और आठवें अवतार के रूप में उनका स्वीकार किया जाना इस बात का साक्षी है कि ऋषभ के जैनधर्म के संस्थापक होने की अनुश्रुति निर्मूल[३] नहीं है।

बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में[४] दृष्टान्ताभास या पूर्वपक्ष के रूप में जैनधर्म के प्रवर्तक और स्याद्वाद के उपदेशक के रूप में ऋषभ और वर्धमान का ही नामोल्लेख पाया जाता है। धर्मोत्तर आचार्य[५] तो ऋषभ, वध्रमानादि को दिगम्बरों का शास्ता लिखतें हैं।

इन्होंने मूल अहिंसा धर्म का आद्य उपदेश दिया और इसी अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा के लिए उसके आधारभूत तत्त्वज्ञान का भी निरूपण किया। इनने समस्त आत्माओं को स्वतन्त्र, परिपूर्ण ओर अखण्ड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत् के प्राणियों को जीवित रहने के समान अधिकार को स्वीकार किया और अहिंसा के सर्वोदयी स्वरूप् की संजीवनी जगत् को दी। विचार–क्षेत्र में अहिंसा के मानस रूप की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए आदिप्रभु ने जगत् के अनेकान्त स्वरूप का उपदेश दिया। उनने बताया कि विश्व का प्रत्येक जड़ चेतन, अणु–परमाणु और जीवराशि अनन्त गुण–पर्यायों का आकार है। उसके विराट् रूप को पूर्ण ज्ञान स्पर्श भी करले, पर वह

---

3 खण्डगिरि–उदयगिरि की हाथीगुफा के २१००वर्ष पुराने लेख से ऋषभदेव की प्रतिमा की कुलक्रमागतता और प्राचीनता स्पष्ट है। यह लेख कलिंगाधिपति खारवेल ने लिखाया था। इस प्रतिमा को नन्द ले गया था। पीछे खारवेल ने इसे नन्द के ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त किया था।

4 देखो, न्यायवि. १।१४२–५१। तत्त्वसंग्रह (स्याद्वादपरीक्षा)।

5 ''यथा ऋषभो वर्धमानश्च, तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिः दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।'' –न्यायबि., टीका ३।१४२।

शब्दों के द्वारा कहा नहीं जासकता। वह अननत ही दृष्टिकोणों से अनन्त रूप में देखा जाता और कहा जाता है। इस अनेकान्त महासागर को शान्ति और गम्भीरता से देखो। दूसरे के दृष्टिकोण का भी आदर करो; क्योंकि वे भी तुम्हारी ही तरह वस्तु के सवरूपांशों को ग्रहण करनेवाले हैं। अनेकान्तदर्शन वस्तुविचार के क्षेत्र में दृष्टि की एकांगिता और संकुचितता से होनेवाले मतभेदों को उखाड़कर मानस–समता की सृष्टि करता है और वीतराग चित्त की सृष्टि के लिए उर्वर भूमि बनाता है। मानस अहिंसा के लिए जहाँ विचारशुद्धि करनेवाले अनेकानतदर्शन की उपयोगिता है वहाँ वचन की निर्दोष पद्धति भी उपादेय है; क्योंकि अनेकान्त को व्यक्त करने के लिए 'ऐसा ही है' इसप्रकार की अवधारिणी भाषा माध्यम नहीं बन सकती। इसलिए उस परम अनेकान्त तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए 'स्याद्वाद' रूप वचनपद्धति का उपदेश दिया गया। इससे प्रत्येक वाक्य अपने में सापेक्ष रहकर स्ववाच्य को प्रधानता देता हुआ भी अन्य अंशों का लोप नहीं करता, उनका तिरस्कार नहीं करता और उनकी सत्ता से इनकार नहीं करता। वह उनका गौण अस्तित्व स्वीकार करता है। इसीलिए इन धर्मतीर्थंकरों की 'स्याद्वादी' के रूप में सतुति की जाती है[६], जो इनके तत्त्वस्वरूप के प्रकाशन की विशिष्ट प्रणाली का वर्णन है।

इनने प्रमेय का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इसप्रकार त्रिलक्षण बताया है। प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, त्रिलक्षणयुक्त परिणामी है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण अपनी पर्वपर्याय को छोड़ता हुआ नवीन उत्तरपर्याय को धारण करता जाता है और इस अनादिप्रवाह को अनन्तकाल तक चलाता जाता है, कभी भी समाप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अहिंसा मूलधर्म के साथ ही साथ त्रिलक्षण प्रमेय, अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद भाषा का भी उपदेश दिया। नय, सप्तभंगी आदि इन्हीं के परिवारभूत हैं। अत: जैनदर्शन के आधारभूत मुख्य मुद्दे हैं– त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता तो एक ऐसी आधारभूत शिला है जिसके माने बिना बन्धमोक्ष की प्रक्रिया ही नहीं बन सकती। प्रमेय का षट्द्रव्य, सात तत्त्व आदि के रूप में विवेचन तो विवरण की बात है।

भगवान् ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए हैं और इन सब तीर्थंकरों ने अपने–अपने युग में इसी सत्य का उद्घाटन किया है।

---

6 ''धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नम:।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य: स्वात्मोपलब्धये।।' –लघी. श्लो. १।

तीर्थंकर नेमिनाथ–

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे। इनका जन्मस्थान द्वारिका था और पिता थे महाराज समुद्रविजय। जब इनके विवाह का जुलूस नगर में घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी भावी संगिनी राजुल की सुखसुषमा के स्वप्न में झूमते हुए दूल्हा बनकर रथ में सवार थे उसी समय बारात में आए हुए मांसाहारी राजाओं के स्वागतार्थ इकट्ठे किये गए विविध पशुओं की भयंकर चीत्कार कानों में पड़ी। इस एक चीत्कार ने नेमिनाथ के हृदय में अहिंसा का सोता फोड़ दिया और उन दयामूर्ति ने उसी समय रथ से उतरकर उन पशुओं के बन्धन अपने हाथों खेले। विवाह की वेषभूषा और विलास के स्वप्नों को असार समझ भोग से योग की ओर अपने चित्त को मोड़ दिया और बाहर–भीतर की समस्त गाँठों को खोल ग्रन्थि भेदकर परम निर्ग्रन्थ हो साधना में लीन हुए। इन्हीं का अरिष्टनेमि के रूप में उल्लेख यजुर्वेद में भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ–

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ इसी बनारस में उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलूपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के नयनों के तारे थे। जब ये आठ वर्ष के थे,तब एक दिन अपने संगी–साथियों के साथ गंगा के किनारे घूमने जा रहे थे। गंगातट पर कमठ नाम का तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्व ने एक जलते हुए लक्कड़ से अधजले नाग–नागिन को बाहर निकालकर प्रतिबोध दिया और उन मृतप्राय नागयुगल पर अपनी दया–ममता उड़ेल दी। वे नागयुगल धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्व का चित्त इसप्रकार के बालतप तथा जगत् की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियों से विरक्त हो उठा, अत: इस युवा कुमार ने सादी–विवाह के बन्धन में न बँधकर जगत् के कल्याण के लिए योगसाधना का मार्ग ग्रहणकिया। पाली पिटकों में बुद्ध का जो प्राक् जीवन मिलता है ओर छह वर्ष तक बुद्ध ने जो कृच्छ साधनाएँ की थीं उससे निश्चित होता है कि उस काल में बुद्ध पार्श्वनाथ की परम्परा के तपयोग में भी दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम संवर का उल्लेख बार–बार आता है। अहिंसा,सतय, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवानृ पार्श्वनाथ थे, यह श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के उल्लेखों से भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रह में शामिल थी और उसका त्याग अपरिग्रह व्रत में आ जाता था। इनने भी अहिंसा आदि मूल तत्त्वों का ही उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर–

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे भगवान् महावीर। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डग्राम में हुआ था। वैशाली के पश्चिम में गण्ड की नदी है। उसके पश्चिम तट पर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखा ग्राम थे। भगवान् महावीर का जन्म स्थान वैशाली माना जाता है, क्योंकि कुण्डग्राम वैशाली का ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रिय ज्ञातृक्षत्रिय थे और ये उस प्रदेश के राजा थे। रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में कुमार वर्द्धमान का जन्म हुआ। इनने अपने बाल्यकाल में संजय–विजय (सम्भवत: संजयवेलट्ठिपुत्त) के तत्त्वविषयक संशय का समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हें सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समय की विषम परिस्थिति ने इनके चित्त को स्वार्थ जन–कल्याण की ओर फेरा। उस समय की राजनीति का आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग–स्वार्थियों ने धर्म की आड़ में धर्मग्रन्थों के हवाले दे–देकर अपने वर्ग के संरक्षण की चक्की में बहुसंख्यक प्रजा को पीस डाला था। ईश्वर के नाम पर अभिजात वर्ग विशेष प्रभु–सत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्व का अभिमान स्ववर्ग के संरक्षण तक ही नहीं फैला था; किन्तु शूद्र आदि वर्णों के मानवोचित अधिकारों का अपहरण कर चुका था और यह सब हो रहा था धर्म के नाम पर। स्वर्गलाभ के लिए अजमेघ से लेकर नरमेध तक धर्मवेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणिमात्र के सुख–शान्ति और उद्धार के लिए था, वही हिंसा, विषमता, प्रताड़न और निर्दलन का अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमान मानस इस हिंसा और विषमता, प्रताड़न और निर्दलन का अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमान का मानस इस हिंसा और विषमता से होनेवाली मानवता के उत्पीड़न से दिन रात बेचैन रहता था। वे व्यक्ति की निराकुलता और समाज–शान्ति का सरल मार्ग ढूँढ़ना चाहते थे और चाहते थे मनुष्यमात्र की समभूमि का निर्माण करना। सर्वोदय की इस प्रेरणा ने उन्हें ३० वर्ष की भरी जवानी में राजपाट को छोड़कर योगसाधन की दोनों गाँठें खोलकर वेपरम निर्ग्रन्थ हो अपनी मौन साधना में लीन हो गये। १२ वर्ष तक कठोर साधना करने के बाद ४२वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीतराग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर ७२ वर्ष की अवस्था में पावा नगरी से निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकालाबाधित–

निर्ग्रन्थ नाथपुत्त भगवान् महावीर को कुल–परम्परा से यद्यपि पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान की धारा प्राप्त थी, पर ये उस तत्त्वज्ञान के मात्र

प्रचारक नहीं थे; किन्तु अपने जीवन में अहिंसा की पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्ग के निर्माता थे। मैं पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमि में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद तेईस तीर्थंकर और हुए हैं। ये सभी वीतरागी और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसा की परम ज्योति से मानवता के विकास का मार्ग आलोकित किया था। व्यक्ति की निराकुलता और समाज में शान्ति स्थापन करने के लिए जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता है, उसको ये तीर्थंकर युगरूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और एक होता है।[7] उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियों से परे सदा एक रस होती है। देश और काल उसकी व्याख्याओं में यानी उसके शरीर में भेद अवश्य लाते हैं, पर उसकी मूलधारा सदा एकरसवाहिनी होती है।इसीलिए जगत् के असंख्य श्रमण–सन्तों ने व्यक्ति की मुक्ति और जगत् की शान्ति के लिए एक ही प्रकार के सत्य का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक मूल सत्य है 'अहिंसा'।

जैनधर्म और दर्शन के मूल मुद्दे–

इसी अहिंसा की दिव्य ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन–व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है और समाज–शान्ति के लिए अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनती है; यानी आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ हैं, जिनपर जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। युग–युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।

जगत् का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इसप्रकार त्रिलक्षण है। कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियम का अपवाद नहीं है। यह 'त्रिलक्षण परिणामवाद' जैन–दर्शन के मण्डप की आधारभूमि है। इस त्रिलक्षण परिणामवाद की भूमिपर अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादपद्धति के खम्भों से जैन–दर्शन का तोरण बाँधा गया है। विविध नय, सप्तभंगी, निक्षेप आदि इसकी झिलमिलाती हुई झालरें हैं।

भगवान् महावीर धर्म के क्षेत्र में मानव मात्र को समान अधिकार दिये थे। जाति, कुल, शरीर, आकार के बन्धन धर्माधिकार में बाधक नहीं थे। धर्म आत्मा के सद्गुणों के विकास का नाम है। सद्गुणों के विकास अर्थात् सदाचरण धरण करने में किसी प्रकार का

---

[7] ''जे य अतीता पडुप्पन्ना अनागता य भगवंतो अरिहंता ते सव्वे एयमेव धम्मं'' –आचारांग सू.।

बन्धन स्वीकार्य नहीं हो सकता। राजनीति व्यवहार के लिए कैसी भी चले; किन्तु धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिए समान भाव से सुलभ हो, यही उनकी अहिंसा और समता का लक्ष्य था। इसी लक्ष्यनिष्ठा ने धर्म के नाम पर किये जानेवाले पशुयज्ञों को निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी सिद्ध कर दिया था। अहिंसा का झरना एक बार हृदय से जब झरता है तो वह मनुष्यों तक ही नहीं, प्राणिमात्र के संरक्षण और पोषण तक जा पहुँचता है। अहिंसक सन्त की प्रवृत्ति तो इतनी स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है कि उसमें प्राणिघात की कम से कम सम्भावना रहती है।

जैनश्रुत—

वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है वह इन्हीं महावीर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट है। इन्होंने जो कुछ अपनी दिव्य ध्वनि से कहा उसको इनके शिष्य गणधरों ने ग्रन्थरूप में गूँथा। अर्थागम तीर्थंकरों का होता है और शब्द—शरीर की रचना गणधर करते हैं। वस्तुत: तीर्थंकरों का प्रवचन दिन में तीन बार या चार बार होता था। प्रत्येक प्रवचन में कथानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्र—निरूपण और तात्त्विक विवेचना सभी कुछ होता था। यह तो उन गणधरों की कुशल पद्धति है, जिससे वे उनके सर्वात्मक प्रवचन को द्वादशांग में विभाजित कर देते हैं— चरित्र विषयक वार्ताएँ आचारांग में, कथांश ज्ञातृधर्मकथा और उपासकाध्ययन आदि में, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रश्नव्याकरण आदि में। यह सही है कि जो गाथाएँ और वाक्य दोनों परम्परा के आगमों में हैं उनमें कुछ वही हों जो भगवान् महावीर के मुखारविन्द से निकले हों। जैसे समय—समय पर बुद्ध ने जो मार्मिक गाथाएँ कहीं, उनका संकलन 'उदान' में पाया जाता है। ऐसे ही अनके गाथाएँ और वाक्य उन प्रसंगों पर जो तीर्थंकरों ने कहे वे सब मूल अर्थ ही नहीं, शब्दरूप में भी इन गणधरों ने द्वादशांग में गूँथे होंगे। यह श्रुत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में विभाजित है। अंगप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशांग श्रुत है। यथा आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदश, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौप पादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद श्रुत के पाँच भेद हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका। पूर्वगत श्रुत के चौदह भेद हैं— उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार।

तीर्थंकरों के साक्षात् शिष्य, बुद्धि और ऋद्धि के अतिशय निधान, श्रतुकेवली गणधरों के द्वारा ग्रन्थबद्ध किया गया वह

अंग—पूर्वरूप श्रुत इसलिए प्रमाण है कि इसके मूल वक्ता परम अचिन्त्य केवलज्ञानविभूतिवाले परम ऋषि सर्वज्ञदेव हैं। आरातीय आचार्यों के द्वारा अल्पमति शिष्यों के अनुग्रह के लिए जो दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि रूप में रचा गया अंगबाह्य श्रुत है वह भी प्रमाण है; क्योंकि अर्थरूप में यह श्रुत तीर्थंकर प्रणीत अंगप्रविष्ट से जुदा नहीं है। यानी इस अंगबाह्य श्रुत की परम्परा चूँकि अंगप्रविष्ट श्रुत से बँधी हुई है, अत: उसी की तरह प्रमाण है। जैसे क्षीरसमुद्र का जल घड़े में भर लेने पर मूलरूप में वह समुद्रजल ही रहता है।[8]

दोनों परम्पराओं का आगमश्रुत—

वर्तमान में जो आगमसूत्र श्वेताम्बर परम्परा को मान्य है उसका अन्तिम संस्करण बलभी में वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुआ था। विक्रम की ६वीं शताब्दी में यह संकलन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने किया था। इस समय जो त्रुटित—अत्रुटित आगम—वाक्य उपलब्ध थे, उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। उनमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन हुए। एक बात खास ध्यान देने की है कि महावीर के प्रधान गणधर गौतम के होते हुए भी इन आगमों की परम्परा द्वितीय गणधर सुधर्मा स्वामी से जुड़ी हुई है। जबकि दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्तग्रन्थों का सम्बन्ध गौतम स्वामी से है। यह भी एक विचारणीय बात है कि श्वेताम्बर परम्परा जिस दृष्टिवाद श्रुत का उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुत के अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद पूर्व से षट्खण्डागम, महाबन्ध, कसायपाहुड आदि दिगम्बर सिद्धान्त—ग्रन्थों की रचना हुई है। यानि जिस श्रुत का श्वेताम्बर परम्परा में लोप हुआ उस श्रुत की धारा दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित है और दिगम्बर परम्परा जिस अंगश्रुत का लोप मानती है, उसका संकलन श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित है।

श्रुतविच्छेद का मूल कारण—

इस श्रुत—विच्छेद का एक ही कारण है— वस्त्र। महावीर स्वयं निर्वस्त्र परम निर्ग्रन्थ थे, यह दोनों परम्पराओं को मान्य है। उनके अचेलक—धर्म की संगति आपवादिक वस्त्र को औत्सर्गिक मानकर नहीं बैठायी जा सकती। जिनकल्प आदर्श मार्ग थ, इसकी स्वीकृति श्वेताम्बर परम्परा मान्य दशवैकालिक, आचारांग आदि में होने पर भी

---

8 ''तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति। किंकृतोऽयं विशेष:? वक्तृविशेषकृत:। त्रयो वक्तार:— सर्वज्ञतीर्थंकर: इतरो वा श्रुतकेवली, आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थात् आगम उपदिष्ट:। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरै: श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमंगपूर्वलक्षणम् तत्प्रमाणं, तत्प्रामाण्यात्। आरातीयै: पुनराचार्यै: कालदोषात्संक्षिप्तार्युमतिबलशिष्यानुग्रहार्थ दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्, तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।'' —सर्वार्थसिद्धि १।२०।

जब किसी भी कारण से एक बार आपवादिक वस्त्र घुस गया तो उसका निकलना कठिन हो गया। जम्बूस्वामी के बाद श्वेताम्बर परम्परा द्वारा जिनकल्प का उच्छेद मानने से[९] तो दिगम्बर–श्वेताम्बर मतभेद को पूरा–पूरा बल मिला है। इस मतभेद के कारण श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्र के साथ ही साथ उपाधियों की संख्या चौदह तक हो गई। यह वस्त्र ही श्रुतविच्छेद का मूल कारण हुआ।

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. बेचरदास जी ने अपनी 'जैन साहित्य में विकार' पुस्तक (पृ. ४०) में ठीक ही लिखा है कि– ''किसी वैद्य ने सग्रहणी के रोगी को दवा के रूप में अफीम सेवन करने की सलाह दी थी; किन्तु रोग दूर होने पर भी जैसे उसे अफीम की लत पड़ जाती है और वह उसे नहीं छोड़ना चाहता वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई।''

यह निश्चित है कि भगवान् महावीर को कुलाम्नाय से अपने पूत्र तीर्थंकर पार्श्वनाथ की आचार–परम्परा प्राप्त थी। यदि पार्श्वनाथ स्वयं सचेल होते ओर उनकी परम्परा में साधुओं के लिए वस्त्र की स्वीकृति होती तो महावीर स्वयं न तो नग्न दिगम्बर रहकर साधना करते और न नग्नता को साधुत्व का अनिवार्य अंग मानकर उसे व्यावहारिक रूप देते। यह सम्भव है कि पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु मृदुमार्ग को स्वीकार कर आखिर में वस्त्र धारण करने लगे हों और आप वादिक वस्त्र को उत्सर्ग मार्ग में दाखिल करने लगे हों, जिसकी प्रतिध्वनि उत्तराध्ययन के केशीगौतम संवाद में आई है। यही कारण है कि ऐसे साधुओं की 'पासत्थ' शब्द से विकत्थना की गई है।

भगवान् महावीर ने जब सर्वप्रथम सर्वसावद्य योग का त्यागकर समस्त परिग्रह छोड़ दीक्षा ली तब उनने लेशमात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखा था। वे परम दिगम्बर होकर ही अपनी साधना में लीन हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सिद्धान्त में वस्त्र की गुञ्जाइश होती और उसका अपरिग्रह महाव्रत से मेल होता तो सर्वप्रथम दीक्षा के समय ही साधक अवस्था में न तो वस्त्रत्याग की तुक थी और न आवश्यकता ही। महावीर के देवदूष्य की कल्पना करके वस्त्र की अनिवार्यता और औचित्य की संगति बैठाना आदर्श–मार्ग को नीचे ढकेलना है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम में अपरिग्रह की पूर्णता तो स्वीकृत थी ही। इसी कारण से सचेलत्व समर्थक श्रुत को दिगम्बर परम्परा ने मान्यता नहीं दी और न उनकी वाचनाओं में वे शामिल ही हुए। अस्तु,

---

[9] ''मण–परमोहि–पुलाए आहारग–खवग–उवस मे कप्पे।
संजमतिय–केवलि–सिज्झणा य जम्बुम्मि बुच्छिण्णा।।२६९३।।'' –विशेषा.।

काल—विभाग—

हमें तो यहाँ यह देखना है कि दिगम्बर परम्परा के सिद्धान्त—ग्रन्थों में और श्वेताम्बर परम्परासम्मत आगमों में जैनदर्शन के क्या बीज मौजूद हैं?

मैं पहिले बता आया हूँ कि— उत्पादादित्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद—भाषा तथा आत्मद्रव्य की स्वतन्त्रता सत्ता इन चार महान् स्तम्भों पर जैनदर्शन का भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। इन चारों के समर्थक, विवेचक और व्याख्या करनेवाले प्रचुर उल्लेख दोनों परम्परा के आगमों में पाये जाते हैं हमें जेन दार्शनिक साहित्य का सामान्यावलोकन करते समय आजतक उपलब्ध समग्र साहित्य को ध्यान में रखकर ही कालविभाग इसप्रकार करना होगा।[१०]

१. सिद्धान्त—आगमकाल	:	वि. ६वीं शती तक
२. अनेकान्त—स्थापनकाल	:	वि. ३री से ८वीं तक
३. प्रमाणव्यवस्था—युग	:	वि. ८वीं से १७वीं तक
४. नवीनन्याय—युग	:	वि. १८वीं से

१. सिद्धान्त—आगमकाल—

दिगम्बर सिद्धान्त—ग्रन्थों में षट्खण्डागम, महाबंध, कषायाप्राभृत और कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य हैं। षट्खण्डागम ` कर्ता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि हैं और कषायप्राभृत के रचयिता गुणधर आचार्य। आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ६६ से ८२) में भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की आचार्य—परम्परा और उसकी ६८३ वर्ष की काल गणना दी है।[११]

---

10 युगों का इसी प्रकार का विभाजन दार्शनिक प्रवर पं. सुखलाल जी ने भी किया है, जो विवेचन के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

11 जिस दिन भगवान् महावीर को मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवलज्ञान पद पाया। जब गौतम स्वामी सिद्ध हो गए, तब सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के मोक्ष हो जाने के बाद जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन केवलियों का काल ६२ वर्ष है। इनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन पाँचों का काल १००वर्ष होता है। इनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ११ आचार्य क्रम से दशपूर्व के धारियों में विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। इनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ११ ग्यारह अंग के धारी हुए। इनके बाद भरत क्षेत्र में कोई ११ अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचारांग के धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अंग और १४ पूर्व के एकदेश के ज्ञाता थे। इनका समय ११८ वर्ष होता है अर्थात् गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिमाण ६८३ वर्ष होता है— तीन केवलज्ञानी ६२ बासठ वर्ष, पाँच श्रुतकेवली १००वर्ष, ग्यारह ग्यारह अंग और दश पूर्व के

इस ६८३ वर्ष के बाद ही धवला और जयधवला के उल्लेखानुसार धरसेनाचार्य को सभी अंगों और पूर्वों के एक दश का ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था; किन्तु नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली से इस बात का समर्थन नहीं होता। उसमें लोहाचार्य तक का काल ५६५ वर्ष दिया है। इसके बाद एक अंग के धारियों में अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, भूतबलि और पुष्पदन्त इन पाँच आचार्यों को गिनाकर उनका काल क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया है। इस हिसाब से पुष्पदन्त और भूतबलि का समय ६८३ वर्ष के भीतर ही आ जाता है। विक्रम संवत् १५५६ में लिखी गई बृहत् टिप्पणिका[१२] नाम की सूची में धरसेन द्वारा वीर निर्वाण संवत् ६०० में बनाये गए ''जोणिपाहुड'' ग्रन्थ का उल्लेख है। इससे भी उक्त समय का समर्थन होता है।[१३] यह स्मरणीय है कि पुष्पदन्त—भूतबलि ने दृष्टिवाद के अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्व से षट्खण्डागम की रचना की है और गुणधराचार्य ने ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दशम वस्तु—अधिकार के अन्तर्गत तीसरे पेज्ज—दोषप्राभृत से कसायप्राभृत की रचना की है। इन सिद्धान्त—ग्रन्थों में जैनदर्शन के उक्त मूल मुद्दों के सूक्ष्म बीज बिखरे हुए हैं। स्थूल रूप से इनका समय वीर निर्वाण संवत् ६१४ यानी विक्रम की दूसरी शताब्दी (वि. सं. १४४) और ईसा की प्रथम (सन् ८७) शताब्दी सिद्ध होता है।[१४]

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम की ३री शताब्दी के बाद तो किसी भी तरह नहीं लाया जा सकता; क्योंकि मरकरा के ताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय के छह आचार्यों का उल्लेख है। यह ताम्रपत्र शकसंवत् ३८८ में लिखा गया था। उन छह आचार्यों का समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय तो शक संवत् २३८ में कुन्दकुन्दान्वय के गुणनन्दि आचार्य मौजूद थे। कुन्दकुन्दान्वय प्रारम्भ होने का समय स्थूल रूप से यदि १५० वर्ष पूर्व मान लिया जाता है तो लगभग विक्रम की पहली और दूसरी शताब्दी कुन्दकुन्द का समय निश्चित होता है। डॉक्टर उपाध्ये ने इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी ही अनुमान किया है।[१५] आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार,

---

धारी १८३ वर्ष, पाँच, ग्यारह अंग के धारी २२० वर्ष, चार आचारांग के धारी ११४ वर्ष, कुल ६८३ वर्ष।

हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदि में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल यही ६८३ वर्ष दिया गया है। देखो, जयधवला, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ. ४७—५०।

12 ''योनिप्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम्'' —बृहट्टिप्पणिका, जैन सा. सं. १—२ परिशिष्ट।

13 देखो, धवला, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ. २३—३०।

14 धवला, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ. ३५ और जयधवला, प्रस्तावना, पृ. ६४।

15 देखो, प्रवचनसार की प्रस्तावना।

नियमसार और समयसार आदि ग्रन्थों में जैनदर्शन के उक्त चार मुद्दों के न केवल बीज ही मिलते हैं; किन्तु उनका विस्तृत विवेचन और सांगोपांग व्याख्या भी उपलब्ध होता है, जैसा कि इस ग्रन्थ के उन–उन प्रकरणों से स्पष्ट होगा। सप्तभंगी, नय, निश्चय व्यवहार, पदार्थ, तत्त्व, अस्तिकाय आदि सभी विषयों पर आचार्य कुन्दकुन्द की सफल लेखनी चली है। अध्यात्मवाद का अनूठा विवेचन तो इन्हीं की देन है।

श्वेताम्बर आगम–ग्रन्थों में भी उक्त चार मुद्दों के पर्याप्त बीज यत्र–तत्र बिखरे हुए हैं।[१६] इसके लिए विशेषरूप से भगवती, सूत्रकृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग और अनुयोगद्वार द्रष्टव्य है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्तवाद आदि के दार्शनिक विचार हैं।

सूत्रकृतांग में भूतवाद और ब्रह्मवाद का निराकरण करके पृथक् आत्मा तथा उसका नानात्व सिद्ध किया है। जीव और शरीर का पृथक् अस्तित्व बताकर कर्म और कर्मफल की सत्ता सिद्ध की है। जगत् को अकृत्रिम और अनादि–अनन्त प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण कर विशिष्ट क्रियावाद की स्थापना की गई है। प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों का निरूपण है।

राजप्रश्नीय में श्रमण केशी के द्वारा राजा प्रदेशी के नास्तिकवाद का निराकरण अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों से किया गया है।

नन्दीसूत्र जैनदृष्टि से ज्ञानचर्चा करनेवाली अच्छी रचना है। स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय के ढंग की है। इन दोनों में आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयों की चर्चा आई है। ''उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा'' यह मातृ का–त्रिपदी स्थानांग मं उल्लिखित हैं, जो उत्पादादित्रयात्मकता के सिद्धान्त का निरपवाद प्रतिपादन करती है। अनुयोग द्वार में प्रमाण और नय तथा तत्त्वों का शब्दार्थ प्रक्रियापूर्वक अच्छा वर्णन है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन के मुख्य स्तम्भों के न केवल बीज ही; किन्तु विवेचन भी इन आगमों में मिलते हैं।

---

[16] देखो, जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, पृ. ४।

पहले मैंने जिन चार मुद्दों की चर्चा की है उन्हें संक्षेप में ज्ञापकतत्त्व या उपायतत्त्व और उपेयतत्त्व इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। सामान्यावलोकन के इस प्रकरण में इन दोनों की दृष्टि भी जैनदर्शन का लेखा–जोखा कर लेना उचित है।

ज्ञापकतत्त्व–

सिद्धान्त–आगमकाल में मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेय के जानने के साधन माने गये हैं। इनके साथ ही नयों का स्थान भी अधिगम के उपायों में है। आगमिक काल में ज्ञान की सत्यता और असत्यता (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थों को यथार्थ जानने या न जानने के ऊपर निर्भर नहीं थी; किन्तु जो ज्ञान आत्मसंशोधन और अन्तत: मोक्षमार्ग में उपयोगी सिद्ध होते थे वे सच्चे और जो मोक्षमार्गोपयोगी नहीं थे वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शत–प्रतिशत सच्चा भी ज्ञान यदि मोक्षमार्गोपयोगी नहीं है तो वह झूठा है और लौकिक दृष्टि से मिथ्याज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा कहा जाता था। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी बाह्य पदार्थों के अधीन न होकर मोक्षमार्गोपयोगिता पर निर्भर थी। इसीलिए सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिकसूत्र में विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग बहुत कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्षरूप में विभाजन भी पूर्व युग में एक भिन्न ही आधार से था। वह आधार था आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष थे वे प्रत्यक्ष तथा जिनमें इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी वे परोक्ष थे। लोक में जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं वे ज्ञान आगमिक परम्परा में परोक्ष थे।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति–

आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) का तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का आदि संस्कृत सूत्रग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों का विस्तार से विवेचन है। जैनदर्शन के सभी मुख्य मुद्दे इसमें सूत्रित हैं। इनके समय की उत्तरावधि विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र और आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में ज्ञान का प्रत्यक्ष और परोक्षभेदों में विभाजन स्पष्ट होने पर भी उनकी सत्यता और असत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी की तैसी चालू थी। यद्यपि कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैली में

लिखे गये हैं, फिर भी इनकी भूमिका दार्शनिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक है।

पूज्यपाद–

श्वेताम्बा विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र के तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को स्वोपज्ञ मानते हैं। इसमें भी दर्शनान्तरीय चर्चाएँ नहीं के बराबर हैं। आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नाम की सारगर्भ टीका लिखी है। इसमें तत्त्वार्थ के सभी प्रमेयों का विवेचन है। इनके इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से ही लिखे गए हैं। हाँ, जैनेन्द्रव्याकरण का आदिसूत्र इनने ''सिद्धिरनेकान्तात्' ही बनाया है।

२. अनेकान्त–स्थापनकाल

समन्तभद्र और सिद्धसेन–

जब बौद्धर्शन में नागार्जुन, वसुबन्धु, असंग तथा बौद्ध न्याय के पिता दिग्नाग का युगा आया और दर्शनशास्त्रियों में इन बौद्धदार्शनिकों के प्रबल तर्कप्रहारों से बेचैनी उत्पन्न हो रही थी, एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश ओर परपक्ष खण्डन का प्रारम्भ हो चुका था, उस समय जैनपरम्परा में युगप्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धसेन का उदय हुआ। इनके सामने सैद्धान्तिक और आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को दर्शन के चौखटे में बैठाने का महान् कार्य था। इस युग में जो धर्मसंस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण कर स्वदर्शन की प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अत: परचक्र से रक्षा करने के लिए अपना दुर्ग स्वत: संवृत करने के महत्तवपूर्ण कार्या का प्रारम्भ इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इनने आप्त की स्तुति करने के प्रसंग से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन ओर बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र में एकान्तवादों की आलोचना के साथ ही साथ अनेकान्त का स्थापन, स्याद्वाद का लक्षण, सुनय–दुर्नय की व्याख्या और अनेकान्त में अनेकान्त लगाने की प्रक्रिया बताई। इनने बुद्धि और शब्द की सत्यता और असत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति को बताया।[१७] 'स्वपरावभासक बुद्धि प्रमाण है' यह प्रमाण का लक्षण स्थिर किया[१८] तथा अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और

---

17 आप्तमी. श्लो. ८७।

18 बृहत्स्वय., श्लो. ६३।

उपेक्षा को प्रमाण का फल बताया।[19] इनका समय २री, ३री शताब्दी है।

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मति तर्क सूत्र में नय और अनेकान्त का गम्भीर, विशद और मौलिक विवेचन तो किया ही है, पर उनकी विशेषता है न्याय के अवतार करने की। इनने प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'बाधिवर्जित'[20] विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया, ज्ञान की प्रमाणता और प्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीत्रि की तरह 'मेयविनिश्चय' को रखा। यानी इन आचार्यों के युग से 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही साबित कर सकता था। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं। इस प्रमाणत्रित्ववाद की परम्परा आगे नहीं चली। इनने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परार्थ भेद किये हैं। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

पात्रकेसरी और श्रीदत्त–

जब दिग्नाग ने हेतु का लक्षण 'त्रिलक्षण' स्थापित किया और हेतु के लक्षण तथा शास्त्रार्थ की पद्धति पर ही शास्त्रार्थ होने लगे तब पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) ने त्रिलक्षणकदर्शन और श्रीदत्त ने जल्पनिर्णय ग्रन्थों में हेतु का अन्यथानुपपत्ति–रूप से एकलक्षण स्थापित किया ओर 'वाद' का सांगोपांग विवेचन यिका।

३. प्रमाण व्यवस्था–युग

जिनभद्र और अकलंक–

आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई. ७वीं सदी) अनेकान्त और नय आदि का विवेचन करते हैं तथा प्रत्येक प्रमेय में उसे लगाने की पद्धति भी बताते हैं। इनने लौकिक इन्द्रियप्रत्यक्ष को, जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और इसके कारण लोक व्यवहार में असमंजसता आती थी, 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' संज्ञा दी[21] अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोकव्यवहार के निर्वाहार्थ उसे संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाता है। यह 'संव्यवहार' शब्द विज्ञानवादी बौद्धों के यहाँ प्रसिद्ध रहा है। भट्ट अकलंकदेव (ई. ७वीं)

---

19 आप्तमी., श्लो. १०२।

20 न्यायावतार., श्लो. १।

21 विशेषा. भाष्य गा. ९५।

सचमुच जैन प्रमाणशास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक हैं। इनने अपने लघीयस्त्रय (का. ३, १०) में प्रथमतः प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्ट रूप से मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। परोक्षप्रमाण के भेदों में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को अविशद ज्ञान होने के कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

अनुयोगद्वार, स्थानांग और भगवातीसूत्र में प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम इन चार प्रमाणों का निर्देश मिलता है। यह परम्परा न्यायसूत्र की है। तत्त्वार्थ भाष्य में इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' रूप से निर्देश करके भी इसको स्वपरम्परा में स्थान नहीं दिया है और न उत्तरकालीन किसी जैन ग्रन्थ में इनका कुछ विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकों ने अकलंक द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को ही पल्लवित और पुष्पित करके जैन न्यायोद्यान को सुवासित किया है।

उपायतत्त्व–

उपाय तत्त्वों में महत्त्वपूर्ण स्थान नय और स्याद्वाद का है। नय सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है। स्याद्वाद भाषा का वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा अनेकान्त वस्तु के परिपूर्ण और यथार्थ रूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में सप्तभंगी का हमें स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। भगवती सूत्र में जिन अनेक भंगजालों का वर्णन है, उनमें से प्रकृत सात भंग भी छाँटे जा सकते हैं।[२२] स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में इसी सप्तभंगी का अनेक दृष्टियों से विवेचन है। उसमें सत्–असत्, एक–अनेक, नित्य–अनित्य, द्वैत–अद्वैत, दैव–पुरुषार्थ, पुण्य–पाप आदि अनेक प्रमेयों पर इस सप्तभंगी को लगाया गया है। सिद्धसेन के सन्मति तर्क में अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। आचार्य समन्तभद्र ने[२३] ''विधेयं वार्यं'' आदि रूप से सात प्रकार के पदार्थ ही निरूपित किये हैं। दैव और पुरुषार्थ का जो विवाद उस समय दृढ़मूल था उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने स्पष्ट लिखा है[२४] कि न तो कोई कार्य केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फलप्राप्ति हो वहाँ दैव की प्रधानता माननी चाहिए और पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्यसिद्धि हो वहाँ पुरुषार्थ को प्रधान और दैव को गौण मानना चाहिए।

---

22 देखो, जैनतर्कवार्तिक प्रस्तावना, पृ. ४४–४८।

23 बृहत्स्वय. श्लो. ११८।

24 आप्तमी., श्लो. ९१।

इस तरह आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शन के आधारभूत पदार्थों का सांगोपांग विवेचन किया है। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नयदृष्टि से जैनदर्शन में समन्वय किया और सभी वादियों में परस्पर विचारसहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग में न्यायभाष्य, योगभाष्य और शावरभाष्य आदि भाष्य रचे गए हैं। यह युग भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भ युग था। इसमें सभी दर्शन अपनी–अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने तर्क–शस्त्र पैना रहे थे। दर्शन क्षेत्र में सबसे पहला आक्रमण बौद्धों की ओर से हुआ, जिसके सेनापति थे नागार्जुन और दिग्नाग। तभी वैदिक दार्शनिक परम्परा में न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमांसाश्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि ने वैदिकर्शन के संरक्षण में पर्याप्त प्रयत्न किये। आचार्य मल्लवादि ने द्वादशारनयचक्र ग्रन्थ में विविध भंगों द्वारा जैनेतर दृष्टियों के समन्वय का सफल प्रयत्न किया। यह ग्रन्थ आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं ळै। इसकी सिंहगणिक्षमा श्रमणकृत वृत्ति उपलब्ध है। इसी युग में सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामी आदि आचार्यों ने जैन न्याय के विविध अंगो पर स्वतन्त्र और व्याख्या ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ किया।

वि. की ७वीं और ८वीं शताब्दी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम मची हुई थी। धर्मकीर्ति ने सदलबल प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनों पर प्रचण्ड प्रहार किये। जैनदर्शन भी इनके आक्षेपों से नहीं बचा था। यद्यपि अनेक मुद्दों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्ध वादों का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण दोनों में स्पष्ट विरोध था ओर इसीलिए इनका प्रबल खण्डन जैनन्याय के ग्रन्थों में पाया जाता है धर्म कीर्ति के आक्षेपों के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योमशिव, मण्डनमिश्र, शंकराचार्य, भट्ट जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिकों को प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने वैदिकदर्शन के संरक्षण के लिए भरसक प्रयत्न किये। इसी संघर्षयुग में जैनन्याय के प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे हैं अकलंक और हरिभद्र। इनके बौद्धों से जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खण्डन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खण्डन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि प्रकरणों में पाया जाता है। हरिभद्र के शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकान्तजयपता का और अनेकान्तवादप्रवेश आदि में बौद्धदर्शन की प्रखर आलोचना है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिकदर्शन के ग्रन्थों में इतर मतों का मात्र खण्डन ही खण्डन

है वहाँ जैनदर्शनग्रन्थों में इतर मतो का नय और स्याद्वाद—पद्धति से विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस तरह मानस अहिंसा की उसी उदार दृष्टि का परिपोषण किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसंग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक आदि मतों के खण्डन में धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम किया है उससे इन आचार्यों का उक्त मतों के खण्डन का कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्यायटीका और हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रन्थ रच चुके और इनमें कुमारिल, ईश्वरसेन और मण्डनमिश्र आदि के मतों का खण्डन कर चुके तथा वाचस्पति, जयन्त आदि उस खण्डनोद्धार के कार्य में व्यस्त थे तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्धदर्शन के खण्डन में सिद्धिनिश्चयटीका बनाई। आचार्य सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र और अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय को जैनदर्शनप्रभावक ग्रन्थों में स्थान प्राप्त है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशानपरीक्षा और युक्त्यनुशासनटीका जैसे— जैनन्याय के मूर्धन्य ग्रन्थों को बनाकर अपना नाम सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य, भट्ट श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिकों ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। यह युग विक्रम ८वीं, ९वीं सदी का था। इसी समय आचार्य माणिक्यनन्दिन ने परीक्षामुखसूत्र की रचना की। यह जैन न्याय का आद्य सूत्रग्रन्थ है जो आगे के सूत्रग्रन्थों के लिए आधारभूत आदर्श सिद्ध हआ।

वि. की दसवीं सदी में आचार्य सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची।

वि. ११—१२वीं सदी को एक प्रकार से जैनदर्शन का मध्याह्नोत्तर समझना चाहिए। इसमें वादिराजसूरि ने न्यायविनिश्चय विवरण और प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र जैसे बृहत्काय टीका ग्रन्थों का निर्माण किया। शान्तिसूरि का जैनतर्कवार्तिक, अभयदेवसूरि की सन्मतितर्कटीका, जिनेश्वर सूरि का प्रमाणलक्षण, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रसूरि की प्रमाणमीमांसा, वादिदेवसूरि का प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्रप्रभसूरि का प्रमेयरतनकोष, मुनिचन्द्र सूरि का अनेकान्तजयपताका का टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं।

तेरहवीं शताब्दी में मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए। इसी युग में मल्लिषेण की स्याद्वाद मञ्जरी, रत्नप्रभसूरि की रत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्र का द्रव्यालंकार आदि ग्रन्थ लिखे गये।

१४वीं सदी में सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चयटीका, १५वीं सदी में गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वादकलिका आदि भावसेन त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्वप्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। धर्मभूषण की न्यायदीपिका भी इसी युग की महत्त्व की कृति है।

४. नवीन न्याययुग

विक्रम की तेरहवीं सदी में गंगेशोपाध्याय ने नव्यन्याय की नींव डाली और प्रमाण–प्रमेय को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ दिया। सत्रहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय जी ने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में खण्डन–खण्डखाद्य आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्यढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया। विमलदास की सप्तभंगितरंगिणी नव्य शैली की अकेली और अनूठी रचना है। अठारहवीं सदी में यशस्वतसागर ने सप्तपदार्थी आदि ग्रन्थों की रचना की।

अकलंकदेव के प्रतिष्ठापित प्रमाणशास्त्र पर अनेकों विद्वच्छिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैनदर्शन के विकास में जो भगीरथ प्रयत्न किये हैं उनकी यह एक झलक मात्र है।

इसी तरह उपेय के उत्पादादित्रयात्मक स्वरूप तथा आत्मा के स्वतन्त्र तथा अनेक द्रव्यत्व की सिद्धि उक्त आचार्यों के ग्रन्थों में बराबर पाई जाती है।

उपसंहार

मूलतः जैनधर्म आचारप्रधान है। इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचार शुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शुष्क शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय और समता के स्थापन में किया है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इसप्रकार की समता और उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वयदृष्टि कायम रखना अहिंसा के पुजारियों का ही कार्य था। स्याद्वाद के स्वरूप तथा उसके प्रयोग की

विधियों के विवेचन में ही जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने में जैनदर्शन का अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

''भवबीजांकरजनना रागाद्यः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्म वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।'' —हेमचन्द्र।

अर्थात् जिसके संसार को पुष्ट करनेवाले रागादि दोष विनष्ट हो गये हैं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो उसे नमस्कार है।

'पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।'' —लोकतत्त्वनिर्णय।

अर्थात् मुझे महावीर से राग नहीं है और न कपिल आदि से द्वेष। जिसके भी वचन युक्तियुक्त हों, उसकी शरण जाना चाहिए।

२. विषय प्रवेश

दर्शन की उद्भूति—

भारत धर्मप्रधान देश है। इसने सदा से 'मैं' और 'विश्व' तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को लेकर चिन्तन और मनन किया है। द्रष्टा ऋषियों ने ऐहिक चिन्ता से मुक्त हो उस आत्मतत्त्व के गवेषण में अपनी शक्ति लगाई है जिसकी धुरी पर यह संसारचक्र घूमता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रह सकता। उसे अपने आस—पास के प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है। आत्मसाधना के लिए भी चारों ओर के वातावरण की शान्ति अपेक्षित होती है। व्यक्ति चाहता है कि मैं स्वयं निराकुल कैसे होऊँ? राग—द्वेष आदि द्वन्द्वों से परे होकर निर्द्वन्द्व दशा में किस प्रकार पहुँचूँ? और समाज तथा विश्व में सुख—शान्ति का राज कैसे हो? इन्हीं दो चिन्ताओं में से समाज—रचना के अनेक प्रयोग निष्पक्ष हुए तथा होते जा रहे हैं। व्यक्ति की निराकुल होने की प्रबल इच्छा ने यह सोचने को बाध्य किया कि आखिर 'व्यक्ति' है क्या? यह जन्म से मरण तक चलनेवाला भौतिक पिण्ड ही है या मृत्यु के बाद भी इसका स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व रह जाता है? उपनिषद् के ऋषियों की जब आत्मतत्त्व के विवाद के बाद सोना, गायें और दासियों का परिग्रह करते हुए देखते हैं तब ऐसा लगता है कि यह आत्म—चर्चा क्या केवल लौकिक प्रतिष्ठा का साधनमात्र ही है? क्या इसलिए बुद्ध ने आत्मा के पुनर्जन्म को 'अव्याकरणीय' बताया? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनने

'आत्मजिज्ञासा' उत्पन्न की और जीवन–संघर्ष ने सामाजिक–रचना के आधारभूत तत्त्वों की खोज की और प्रवृत्त किया। पुनर्जन्म की अनेक घटनाओं ने कौतूहल उत्पन्न किये। अन्ततः भारतीय दर्शन आत्मा की अभौतिकता का समर्थन तथा शास्त्रार्थ पीछे आये अवश्य, पर मूल में बुद्ध ने इसके स्वरूप के सम्बन्ध में मौन ही रखा। इसका विवेचन उनने दो 'न' केसहारे किया और कहा– कि आत्मा न तो भौतिक है और न शाश्वत ही है। न वह भूतपिण्ड की तरह उच्छिन्न होता है और न उपनिषद्वादियों के अनुसार शाश्वत होकर सदा काल एक रहता है। फिर है क्या? इसको उनने अनुपयोगी (इसका जानना न र्निाण के लिए आवश्यक है और न ब्रह्मचर्य के लिए ही) कहकर टाल दिया। अन्य भारतीय दर्शन 'आत्मा' के स्वरूप के सम्बन्ध में चुप नहीं रहे; किन्तु उन्होंने अपने–अपने ग्रन्थों में इतर मत का निरास करके पर्याप्त ऊहापोह किया है। उनके लिए यह मूलभूत समस्या थी, जिसके ऊपर भारतीय चिन्तन और साधना का महाप्रासाद खड़ा होता है। इस तरह संक्षेप में देखा जाय तो भारतीय दर्शनों की चिन्तन और मनन की धुरी 'आत्मा और विश्व का स्वरूप' ही रही है। इसी का श्रवण, दर्शन, मनन, चिन्तन और निदिध्यासन जीवन के अन्तिम लक्ष्य थे।

दर्शन शब्द का अर्थ–

साधारणतया दर्शन का मोटा और स्पष्ट अर्थ है साक्षात्कार करना, प्रत्यक्षज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना। यदि दर्शन का यही अर्थ है तो दर्शनों में तीन और छह की तरह परस्पर विरोध क्यों हो? प्रत्यक्ष दर्शन से जिन पदार्थों का निश्चय किया जाता है उनमें विरोध, विवाद या मतभेद की गुञ्जाइश नहीं रहती। आज का विज्ञान इसीलिए प्रायः निर्विवाद और सर्वमति से सत्य पर प्रतिष्ठित माना जाता है कि उसके प्रयोगांश केवल दिमागी न होकर प्रयोगशालाओं प्रत्यक्षज्ञान या तन्मूलक अव्यभिचारी कार्यकारणभाव की दृढ़ भित्ति पर आश्रित होते हैं। 'हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिलकर जल बनता है' इसमें मतभेद तभी तक चलता है जब तक प्रयोगशाला में दोनों को मिलाकर जल नहीं बना दिया जाता। जब दर्शनों में पग–पग पूर्व पश्चिम जैसा विरोध विद्यमान है तब स्वभावतः जिज्ञासु को यह सन्देह होता है कि– दर्शन शब्द का सचमुच साक्षात्कार अर्थ है या नहीं? या यदि यही अर्थ हो तो वस्तु के पूर्ण रूप का वह दर्शन है या नहीं? यदि वस्तु के पूर्ण स्वरूप का दर्शन भी हुआ हो तो उसके वर्णन की प्रक्रिया में अन्तर है क्या? दर्शनों के परस्पर विरोध का कोई न कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिए। दून न जाइये, सर्वथा और सर्वतः सन्निकट और प्रतिश्वास अनुभव में आनेवाले आत्मा के स्वरूप पर ही दर्शनकारों के साक्षात्कार पर विचार कीजिए। सांख्य आत्मा के कूटस्थ नित्य मानते हैं। इनके मत में आत्मा साक्षी चेता निर्गुण अनाद्यनन्त

अविकारी और नित्य तत्त्व है। बौद्ध ठीक इसके विपरीत प्रतिक्षण परिवर्तनशील चित्तक्षणरूप ही आत्मा मानते हैं। नैयायिक–वैशेषिक परिवर्तन तो मानते हैं, पर वह परिवर्तन भिन्न गुण तथा क्रिया तक ही सीमित है, आत्मा में उसका असर नहीं होता। मीमांसक ने अवस्था भेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी और उन अवस्थाओं का द्रव्य से कथञ्चित् भेदाभेद मानकर भी द्रव्य को नित्य स्वीकार किया है। जैनों ने अवस्था–पर्यायभेदकृत परिवर्तन के मूल आधार द्रव्य में परिवर्तन काल में किसी स्थायी अंश को नहीं माना, किन्तु अविच्छिन्न पर्यायपरम्परा के अनाद्यनन्त चालू रहने को ही द्रव्य माना है। यह पर्याय परम्परा न कभी विच्छिन्न होती है और न उच्छिन्न ही। वेदान्ती इस जीव को ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप मानता है तो चार्वाक इन सबसे भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा स्वीकार करता है– उसे आत्मा के स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में कभी दर्शन नहीं हुए। यह तो आत्मा के स्वरूप–दर्शन का हाल है। अब उसकी आकृति पर विचार करें, तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। 'आत्मा अमूर्त या मूर्त होकर भी वह इतना सूक्ष्मतम है कि हमें इन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देता' इसमें सभी एकमत हैं। इसलिए कुछ अतीन्द्रियदर्शी ऋषियों ने अपने दर्शन से बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है, तो दूसरे ऋषियों ने उसका अणुरूप से साक्षात्कार किया, वह वटबीज के समान अत्यन्त सूक्ष्म है या अंगुष्ठमात्र है। 'कुछ को देहरूप ही आत्मा दिखा' तो किन्हीं को छोटे–बड़े देह के आकार संकोच–विकासशील। विचारा जिज्ञासु अनेक पगडंडियोंवाले इस दशराहे पर खड़ा होकर दिग्भ्रान्त हो जाता है। वह या तो दर्शनशब्द के अर्थ में ही शंका करता है या फिर दर्शन की पूर्णता में ही अविश्वास करने लगता है। प्रत्येक दर्शन का यही दावा है कि वही यथार्थ और पूर्ण है। एक ओर ये दर्शन मानव के मनन–तर्क को जगाते हैं, पर ज्यों ही मनन–तर्क अपनी स्वाभाविक खुराक माँगता है तो "**तर्कोऽप्रतिष्ठः**"[२५] "**तर्काप्रतिष्ठानात्**"[२६] "**नैषा तर्केण मतिरपनेया**"[२७] जैसे बन्धनों से उसका मुँह बन्द किया जाता है। 'तर्क से कुछ नहीं हो सकता' इत्यादि तर्कनैराश्य का प्रचार भी इसी परम्परा का कार्य है। जब इन्द्रियगम्य पदार्थों में तर्क की आवश्यकता नहीं और उपयोगिता भी नहीं है तथा अतीन्द्रिय पदार्थों में उसकी निःसारता एवं अक्षमता है तो फिर उसका क्षेत्र क्या बचता है? आचार्य हरिभद्र तर्क की असमर्थता बहुत स्पष्ट रूप से बताते हैं–

"**ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।**

---

25 महाभारत वनपर्व ३१३।११०।

26 ब्रह्मसू., २।१।११।

27 कठोपनिषत् २।९।

कालेनैतावता तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः।।'' —योगदृष्टि स. १४५।

अर्थात्— यदि हेतुवाद— तर्क के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निश्चय करना शक्य होता तो आज तक बड़े—बड़े तर्कमनीषी हुए, वे इन पदार्थों का निर्णय अभी तक कर चुके होते; परन्तु अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप की पहेली पहले से भी अधिक उलझी है। उस विज्ञान की जय मानना चाहिए जिसने भौतिक पदार्थों की अतीन्द्रियता बहुत हद तक समाप्त कर दी है और उसका फैसला अपनी प्रयोगशाला में कर डाला है।

दर्शन का अर्थ निर्विकल्पक नहीं—

बौद्ध परम्परा में दर्शन शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अर्थ में व्यवहृत होता है। इसके द्वारा यद्यपि यथार्थ वस्तु के सभी धर्मों का अनुभव हो जाता है, अखण्डभाव से पूरी वस्तु इसका विषय बन जाती है, पर निश्चय नहीं होता— उसमें संकेतानुसारी शब्द—प्रयोग नहीं होता। इसलिए उन उन अंशों के निश्चय के लिए विकल्पज्ञान तथा अनुमान की प्रवृत्ति होती है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का जो स्वरूप अनुभव में आता है वह वस्तुतः शब्दों के अगोचर है। शब्द वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। समस्त वाच्यवाचक व्यवहार बुद्धिकल्पित है, वह दिमाग तक ही सीमित है। अतः इस दर्शन के द्वारा हम वस्तु को जान भी लें। तो भी वह उसी रूप में हमारे वचन—व्यवहार में नहीं आ सकती। साधारण रूप से इतना ही समझ सकते हैं कि निर्विकल्पक दर्शन से वस्तु के अखण्ड रूप की कुछ झाँकी मिलती है, जो शब्दों के अगोचर है। अतः 'दर्शनशास्त्र' का दर्शन शब्द इस 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' की सीमा में नहीं बँध सकता; क्योंकि दर्शन का सारा फेलाव विकल्पक्षेत्र और शब्द प्रयोग की भूमि पर हुआ है।

अर्थ क्रिया के लिए वस्तु निश्चय की आवश्यकता है। यह निश्चय विकल्परूप ही होता है। जिन विकल्पों को वस्तुदर्शन का पृष्ठबल प्राप्त है, वे प्रमाण हैं अर्थात् जिनका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परा से वस्तु के साथ जुड़ सकता है वे प्राप्य वस्तु की दृष्टि से प्रमाणकोटि में आ जाते हैं। जिन्हें दर्शन का पृष्ठबल प्राप्त नहीं है अर्थात् जो केवल विकल्पवासना से उत्पन्न होते हैं वे अप्रमाण हैं। अतः यदि दर्शन शब्द को आत्मा आदि पदार्थों के सामान्यावलोकन अर्थ में लिया जाता है तो मतभेद की गुञ्जाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकन की व्याख्या और निरूपण करने में है। एक सुन्दरी का शव देखकर भिक्षु को संसार की असार दशा की भावना होती है तो कामी का मन गुदगुदाने लगता है। कुत्ता उसे अपना भक्ष्य

समझ कर प्रसन्न होता है। यद्यपि इन तीनों कल्पनाओं के पीछे शवदर्शन है, पर व्याख्याएँ और कल्पनाएँ जुदी–जुदी हैं।[२८] यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन वस्तु के अभाव में नहीं होता और वही दर्शन प्रमाण है जो अर्थ से उत्पन्न होता है। पर प्रश्न यह है कि– कौन दर्शन पदार्थ से उत्पन्न हुआ है या पदार्थ की सत्ता का अविनाभावी है? प्रत्येक दर्शनकार यही कहने का आदी है कि– हमारे दर्शनकार ऋषि ने आत्मा आदि का उसी प्रकार निर्मल बोध से साक्षात्कार किया है जैसा कि उनके दर्शन में वर्णित है। तब यह निर्णय कैसे हो कि– 'अमुक दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्भूत है और अमुक दर्शन मात्र कपोलकल्पित?' अत: दर्शन शब्द की यह निर्विकल्पक रूप व्याख्या भी दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' को अपने में नहीं बाँध पाती।

दर्शन की पृष्ठभूमि–

संसार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मो का अखण्ड मौलिक पिण्ड है। पदार्थ का विराट् स्वरूप समग्रभाव से वचनों के अगोचर है। वह सामान्य रूप से अखण्ड मौलिक की दृष्टि से ज्ञान का विषय होकर भी शब्द की दौड़ के बाहर है। केवलज्ञान में जो वस्तु का स्वरूप झलकता है, उसका अनन्तवाँ भाग ही शब्द के द्वारा प्रज्ञापनीय होताश है और जितना शब्द के द्वारा कहा जाता है उसका अनन्तवाँ भाग श्रुतनिबद्ध होता है। तात्पर्य यह कि– श्रुतनिबद्धरूप दर्शन में पूर्ण वस्तु के अनन्त धर्मों का समग्रभाव से प्रतिपादन होना शक्य नहीं है। उस अखण्ड अनन्त धर्मवाली वस्तु को विभिन्न दर्शनकार ऋषियों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है और अपने दृष्टिकोणों को शब्दों में बाँधने का उपक्रम किया है। जिसप्रकार वस्तु के धर्म अनन्त हैं उसी प्रकार उनके दर्शक दृष्टिकोण भी अनन्त हैं और प्रतिपादन के साधन शब्द भी अनन्त ही हैं। जो दृष्टियाँ वस्तु के स्वरूप का आधार छोड़कर केवल कल्पनालोक में दौड़ती हैं, वे वस्तुस्पर्शी न होने के कारण दर्शनाभास ग्रहण करनेवाले दृष्टिकोणों का समादर करती हैं, वे सत्योन्मुख होने से सत्य हैं। जिनमें यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया वस्तु का अंश ही सच है, अन्य के द्वारा जाना गया मिथ्या है, वे वस्तुस्वरूप से परांमुख होने के कारण मिथ्या और विसंवादिनी होती हैं। इस तरह वस्तु के अनन्तधर्मा स्वरूप को केन्द्र में रखकर उसके ग्राहक विभिन्न 'दृष्टिकोण' के अर्थ में यदि दर्शन शब्द का व्यवहार माना जाय तो वह कथमपि सार्थक हो सकता है। जब जगत् का प्रत्येक पदार्थ सत्–असत्, नित्य–अनित्य, एक–अनेक आदि परस्पर विरोधी विभिन्न धर्मों का अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब इनके ग्राहक विभिन्न दृष्टिकोणों को आपस में टकराने का अवसर ही

---

[28] ''परिव्राट्कामुकशुनाम् एकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपं कामिनी भक्ष्यस्तिस्र एता हि कल्पना:।।''

नहीं है। उन्हें परस्पर उसी तरह सद्भाव और सहिष्णुता वर्तनी चाहिए जिस प्रकार उनके विषयभूत अनन्तधर्म वस्तु में अविरोधी भाव से समाये हुए रहते हैं।

दर्शन अर्थात् भावनात्मक साक्षात्कार–

तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनकार ऋषियों ने अपने–अपने दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप को जानने की चेष्टा की है और उसी का बार–बार मनन–चिन्तन और निदिध्यासन किया है। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावना के अनुसार वस्तु का वह स्वरूप स्पष्ट झलका और दिखा। भावनात्मक साक्षात्कार के बलपर भक्त को भगवान् दर्शन होता है, इसकी अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। शोक या काम की तीव्र परिणति होने पर मृत इष्टजन और प्रिय कामिनी का स्पष्ट दर्शन अनुभव का विषय ही है।[२९] कालिदास का यक्ष अपनी भावना के बल पर मेघ को सन्देशवाहक बनाता है और उसमें दूतत्त्व का स्पष्ट दर्शन करता है। गोस्वामी तुलसीदास को भक्ति और भगवद्गुणों की प्रकृष्ट भावना के बलपर चित्रकूट में भगवान् राम के दर्शन अवश्य होंगे। आज भक्तों की अनगिनत परम्परा अपनी तीव्रतम प्रकृष्ट भावना के परिपाक से अपने आराध्य का स्पष्ट दर्शन करती है, यह विशेष सन्देह की बात नहीं। इस तरह अपने लक्ष्य और दृष्टिकोण की प्रकृष्ट भावना से विश्व के पदार्थों का स्पष्ट दर्शन विभिन्न दर्शनकार ऋषियों को हुआ होगा। यह निःसन्देह है। अतः इसी 'भावनात्मक साक्षात्कार' के अर्थ में 'दर्शन' शब्द को प्रयोग हुआ है, यह बात हृदय को लगती है और सम्भव भी है। फलितार्थ यह है कि प्रत्येक दर्शनकार ऋषि ने पहिले चेतन और जुड़ के स्वरूप, उनका परस्पर सम्बन्ध तथा दृश्य जगत् की व्यवस्था के मर्म को जानने का अपना दृष्टिकोण बनाया, पीछे उसी की सतत चिन्तन और मननधारा के परिपाक से जो तत्त्व साक्षात्कार की प्रकृष्ट और बलवती भावना हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उनने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है तो दर्शन का मूल उद्गम 'दृष्टिकोण' से हुआ है और उसका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।

दर्शन अर्थात् दृढ़ प्रतीति–

प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी ने न्यायकुमुदचन्द्र द्वि. भाग के प्राक्कथन में दर्शन शब्द का 'सबल प्रतीति' अर्थ किया है। 'सम्यग्दर्शन' में जो 'दर्शन' शब्द है उसका अर्थ तत्त्वार्थसूत्र (१।२), में 'श्रद्धान्' किया गया है। तत्त्वों की दृढ़ श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहते

---

29 ''कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्यु पप्लुताः।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽस्थितानिव।।'' –प्रमाणवा. २।२८२।

हैं। इस अर्थ से जिसकी जिस तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा हो अर्थात् अटूट विश्वास हो वही उसका दर्शन है। यह अर्थ और भी हृदयग्राही है; क्योंकि प्रत्येक दर्शनकार ऋषि को अपने दृष्टिकोण पर दृढ़तम विश्वास था ही। विश्वास की भूमिकाएँ विभिन्न होती ही हैं। जब दर्शन इस तरह विश्वास की भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ तो उसमें मतभेद होना स्वाभाविक ही है। इसी मतभेद के कारण 'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना' मूर्तरूप में अनेक दर्शन की सृष्टि हुई। दर्शनों ने विश्वास की भूमि पर उत्पन्न होकर भी अपने में पूर्णता और साक्षात्कार का रूपक लिया तथा अनेक अपरिहार्य विवादों को जन्म दिया। शासनप्रभवना के नाम पर इन्हीं मतवादों के समर्थन के लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शन शास्त्र के इतिहास के पृष्ठ रक्तरञ्जित किये गये।

सभी दर्शन विश्वास की उर्वर–भूमि में पनपकर भी अपने प्रणेताओं में साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञान की भावना को फेलाते रहे। फलत: जिज्ञासु की जिज्ञासा सन्देह के चौराहे पर पहुँचकर भटक गई। दर्शनों ने जिज्ञासु को सत्यसाक्षात्कार या तत्त्वनिर्णय का भरोसा तो दिया, पर अन्तत: उसके हाथ में अनन्त तर्कजाल के फलस्वरूप सन्देह ही पड़ा।

जैन दृष्टिकोण से दर्शन अर्थात् नय–

जैन दर्शन में प्रमेय के अधिगम के उपायों में 'प्रमाण' के साथ ही साथ 'नय' को भी स्थान दिया गया है। 'नय' प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के अंश को विषय करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय कहलाता है। ज्ञाता प्रमाण के द्वारा वस्तु का रूप अखण्डभाव से जानता है, फिर उसे व्यवहार में लाने के लिए उसमें शब्दयोजना के उपयुक्त विभाग करता है और एक–एक अंश को जाननेवाले अभिप्रायों की सृष्टि करके उन्हें व्यवहारोपयोगी शब्दों के द्वारा व्यवहार में लाता है। कुछ नयों में पदार्थ का प्राथमिक आधार रहने पर भी वक्ता का अभिप्राय भी शामिल होता है और उसी अभिप्राय के अनुसार पदार्थ को देखने की चेष्टा की जाती है। अत: सभी नयों का यथार्थ वस्तु की सीमा में ही विचरण करना आवश्यक नहीं रह जाता। वे अभिप्रायलोक और शब्दलोक में भी यथेच्छ विचरते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्णज्ञान के द्वारा जो वस्तु जानी जाती है, वह व्यवहार तक आते–आते शब्दसंकेत और अभिप्राय भूमिवाली प्रतिपादन और देखने की शैली है, जो एक हद तक वस्तुलक्ष्यी होकर भी विशेष रूप से अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोण के निर्देशानुसार आगे बढ़ती है। यही कारण है कि दर्शनों में अभिप्राय और दृष्टिकोण के भेद से असंख्य भेद हो जाते हैं। इस तरह नय के अर्थ में भी दर्शन का प्रयोग एक हद तक ठीक बैठता है।

इन नयों के तीन विभाग किये गये हैं– ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। ज्ञाननय अर्थ की चिन्ता नहीं करके संकल्पमात्र को ग्रहण करता है और यह विचार या कल्पनालोक में विचरता है। अर्थनय में संग्रहनय की मर्यादा का प्रारम्भ तो अर्थ से होता है पर वह आगे वस्तु के मौलिक सत्त्व की मार्यदा को लांघकर काल्पनिक अभेद तक जा पहुँचता है। संग्रहनय जब तक द्रव्य की दो पर्यायों में अभेद को विषय करता है यानी वह एक द्रव्य अभेद की सीमा में रहता है तब तक उसकी वस्तु सम्बद्धता है, पर जब वह दो द्रव्यों में सादृशमूलक अभेद को विषय कर आगे बढ़ता है तब उसकी वस्तुमूलकता पिछड़ जाती है। यद्यपि एक का दूसरे में सादृश्य भी वस्तुगत ही है पर उसकी स्थिति पर्याय की तरह सर्वथा परनिरपेक्ष नहीं है। उसकी अभिव्यंजना पर सापेक्ष होती है। जब यह संग्रह 'पर' अवस्था में पहुँच कर 'सत' रूप से सकल द्रव्यगत एक अभेद को 'सत्' इस दृष्टिकोण से ग्रहण करता है तब उसकी कल्पना चरम छोर पर पहुँच तो जाती है, पर इसमें द्रव्यों की मौलिक स्थिति धुँधली पड़ जाती है। इसी भय से जैनाचार्यों ने नय के सुनय और दुर्नय ये दो विभाग कर दिये हैं। जो नय अपने अभिप्राय को मुख्य बनाकर भी नयान्तर के अभिप्राय का निषेध नहीं करता वह सुनय है और जो नयान्तर का निराकरण कर निरपेक्ष राज्य करना चाहता है वह दुर्नय है। सुनय सापेक्ष होता है और दुर्नय निरपेक्ष। इसीलिए सुनय के अभिप्राय की दौड़ उस सादृश्यमूलक चरम अभेद तक हो जाने पर भी, चूँकि वह परमार्थसत् भेद का निषेध नहीं करता, उसकी अपेक्षा रखता है और उसकी वस्तुस्थिति को स्वीकार करता है, इसलिए सुनय कहलाता है; किन्तु जो नय अपने ही अभिप्राय और दृष्टिकोण की सत्यता को वस्तु के पूर्णरूप पर लादकर अपने साथी अन्य नयों का तिरस्कार करता है, उनसे निरपेक्ष रहता है और उनकी वस्तुस्थिति का प्रतिषेध करता है वह 'दुर्नय' है; क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी है ही नहीं। वस्तु तो गुणधर्म या पर्याय के रूप में प्रत्येक नय के विषयभूत अभिप्राय को वस्त्वंश मान लेने की उदारता रखती है और अपने गुणपर्यायवाले वास्तविक स्वरूप के साथ ही अनन्तधर्मवाले व्यावहारिक स्वरूप को धारण किये हुए है। पर ये दुर्नय उसकी इस उदारता का दुरुप्योग कर मात्र अपने कल्पित धर्म को उस पर छा देना चाहता है।

'सत्य पाया जाता है, बनाया नहीं जाता।' प्रमाण सत्य वस्तु को पाता है, इसलिए चुप है। पर कुछ नय उसी प्रमाण की अंशग्राही सन्तान होकर भी अपनी वावदूकता के कारण सत्य को बनाने की चेष्टा करते हैं, सत्य को रंगीन तो कर ही देते हैं।

जगत् के अनन्त अर्थों में वचनों के विषय होनेवाले पदार्थ अत्यल्प हैं। शब्द की यह सामर्थ्य कहाँ, जो वह एक भी वस्तु के पूर्ण रूप को कह सके? केवलज्ञान वस्तु के अनन्तधर्मों को जान भी ले, पर शब्द के द्वारा उसका अनन्तबहुभाग अवाच्य ही रहता है और जो अनन्तवाँ भाग वाच्यकोटि में है उसका अनन्तवाँ भाग शब्द से कहा जाता है और जो शब्दों से कहा जाता है वह सबका सब ग्रन्थ में निबद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् अनभिधेय पदार्थ अनन्तबहुभाग हैं और शब्द के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थ एक भाग। प्रज्ञापनीय एक भाग में से भी श्रुतनिबद्ध अनन्तएकभाग प्रमाण हैं, अर्थात् उनसे और भी कम हैं।[३०]

सुदर्शन और कुदर्शन—

अतः जब वस्तुस्थिति की अनन्तधर्मात्मकता, शब्द की अत्यल्प सामर्थ्य तथा अभिप्राय की विविधता का विचार करते हैं तो ऐसे दर्शन से, जो दृष्टिकोण या अभिप्राय की भूमि पर अंकुरित हुआ है, वस्तुस्थिति तक पहुँचने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। जिस प्रकार नय के सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षता के कारण होते हैं उसी तरह 'दर्शन' के भी सुदर्शन और कुदर्शन (दर्शनाभास) विभाग होते हैं। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तु की सीमा को उल्लंघन नहीं करके उसे पाने की चेष्टा करता है, बनाने की नहीं और दूसरे वस्तुस्पर्शी दृष्टिकोण—दर्शन को भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वास की भूमिका पर खड़ा होकर कल्पनालोक में विचरण कर, वस्तु सीमा को लांघकर भी वास्तविकता दंभ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणों का तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नहीं करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतों के कारण ही मात्र संदेह और परीक्षा की कोटि में जा पहुँचा है। अतः जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने इस बात की सतर्कता से चेष्टा की है कि कोई भी अधिगम का उपाय, चाहे वह प्रमाण (पूर्ण ज्ञान) हो या नय (अंशग्राही), सत्य को पाने का यत्न करे, बनाने का नहीं। वह मौजूद वस्तु की मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादा को समझते रहना चाहिए। वस्तु तो अनन्तगुण—पर्याय और धर्मों का पिण्ड है। उसे विभिन्न दृष्टिाकोणों से देखा जा सकता है और उसके स्वरूप की ओर पहुँचने की चेष्टा की जा सकती है। इसप्रकार के यावत् दृष्टिकोण और वस्तु तक पहुँचने के समस्त प्रयत्न दर्शन शब्द की सीमा में आते हैं।

---

30 ''पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिवद्धो।।''
—गो. जीवकाण्ड गा. ३३३।

दर्शन एक दिव्य ज्योति–

विभिन्न देशों में आज तक सहस्रों ऐसे ज्ञानी हुए, जिनने अपने–अपने दृष्टिकोणों से जगत् की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इसीलिए दर्शन का क्षेत्र सुविशाल है और अब भी उसमें उसी तरह फैलने की गुञ्जाइश है; किन्तु जब यह दर्शन मतवाद के जहर से विषाक्त हो जाता है तो वह अपनी अत्यल्प शक्ति को भूलकर मानवजाति के मार्गदर्शन का कार्य तो कर ही नहीं पाता, उल्टा उसे पतन की ओर ले जाकर हिंसा और संघर्ष का स्रष्टा बन जाता है। अत: दार्शनिकों के हाथ में यह वह प्रज्वलित दीपक दिया गया है, जिससे वे चाहें तो अज्ञान–अन्धकार को हटाकर जगत् में प्रकाश की ज्योति जला सकते हैं और चाहें तो उससे मतवाद की अग्नि प्रज्वलित कर हिंसा और विनाश का दृश्य उपस्थित कर सकते हैं। दर्शन ा इतिहास दोनों प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है, पर उसमें ज्योति के पृष्ठ कम हैं, विनाश के अधिक। हम दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन ने ज्योति के पृष्ठ जोड़ने का ही प्रयत्न किया है। उसने दर्शनान्तरों के समन्वय का मार्ग निकालकर उनका अपनी जगह समादर भी किया है। आग्रही[३१] मतवाद की मदिरा से बेभान हुआ कुदार्शनिक, जहाँ जैसा उसका अभिप्राय या मत बन चुका है वहाँ युक्ति को खींचने की चेष्टा करता है, पर सच्चा दार्शनिक जहाँ युक्ति जाती अर्थात् जो युक्तिसिद्ध हो पाता है उसके अनुसार अपना मत बनाता है। संक्षेप में सुदार्शनिक का नारा होता है– 'सत्य सो मेरा' और कुदार्शनिक का हल्ला होता है– 'जो मेरा सो सत्य'। जैनदर्शन में समन्वय के जितने और जैसे उदाहरण मिल सकते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य–

भारत के समस्त दर्शन चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, मोक्ष अर्थात् दु:ख–निवृत्ति के लिए अपना विचार प्रारम्भ करते हैं। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दु:ख प्रत्येक प्राणी को न्यूनाधिक–रूप में नित्य ही अनुभव में आते हैं। जब कोई सन्त या विचारक इन दु:खों की निवृत्ति का कोई मार्ग बताने का दावा करता है, तो समझदार वर्ग उसे सुनने और समझने के लिए जागरूक होता है। प्रत्येक मत में दु:खनिवृत्ति के लिए त्याग और संयम का उपदेश दिया है और 'तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है', इस बात में प्राय: सभी एकमत हैं। सांख्यकारिका[३२] में "दु:खत्रय के अभिघात से सन्तप्त यह प्राणी

---

[31] "आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।।" –हरिभद्र।

[32] "दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघात के हेतौ।" –सांख्यका. १।

दु:ख नाश के उपायों को जानने की इच्छा करता है।'' जो यह भूमिका बाँधी गई है, वही भूमिका प्राय: सभी भारतीय दर्शनों की है। दु:खनिवृत्ति के बाद 'स्वस्वरूपस्थिति ही मुक्ति है' इसमें भी किसी को विवाद नहीं है। अत: मोक्ष, मोक्ष के कारण, दु:ख और दु:ख के कारणों की खोज करना भारतीय दर्शनकार ऋषि को अत्यावश्यक था। चिकित्साशास्त्र की प्रवृत्ति रोग, निदान, आरोग्य और औषधि इस चतुर्व्यूह को लेकर ही हुई है। बुद्ध के[३३] तत्त्वज्ञान के आधार तो 'दु:ख, समुदाय, निरोध और मार्ग' ये चार आर्यसत्य ही हैं। जैनतत्त्वज्ञान में मुमुक्षु को अवश्य–ज्ञातव्य जो सात तत्त्व गिनाये हैं[३४], उनमें बन्ध, बन्ध के कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्ष के कारण (संवर और निर्जरा) इन्हीं का प्रमुखता से विस्तार किया गया है। जीव और अजीव का ज्ञान तो आस्रवादि के आधार जानने के लिए है। तात्पर्य यह है कि समस्त भारतीय चिन्तन की दिशा दु:खनिवृत्ति के उपाय खोजने की ओर रही है और न्यूनाधिकरूप से सभी चिन्तकों ने इसमें अपने–अपने ढंग से सफलता भी पाई है।

तत्त्वज्ञान जब मुक्ति के साधन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और ''ऋते ज्ञानात् न मुक्ति:'' जैसे जीवनसूत्रों का प्रचार हुआ तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का उपाय तथा तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ और मीमांसाएँ चलीं। वैशेषिकों ने ज्ञेयका[३५] षट् पदार्थ के रूप में विभाजन कर उनका तत्त्वज्ञान उपासनीय बताया तो नैयायिकों ने[३६] प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान पर जोर दिया।[३७] सांख्यों ने प्रकृति और पुरुष के तत्त्वज्ञान से मुक्ति बताई, तो[३८] बौद्धों ने मुक्ति के लिए नैरात्म्यज्ञान आवश्यक समझा। वेदान्त में ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है, तो जैनदर्शन में सात तत्त्वों का सम्यगान मोक्ष की कारणसामग्री में गिनाया गया है।

पश्चिमी दर्शनों का उद्‌गम केवल कौतुक और आश्चर्य से होता है और उसका फैलाव दिमागी व्यायाम और बुद्धिरंजन तक ही सीमित है। कौतुक की शान्ति होने के बाद या उसकी अपने ढंग की

---

33 ''सत्यान्युक्तानि चत्त्वारि दु:खं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसयमं क्रम:'' –अभिधम्र को. ६।२ –धर्म सं. ६०५।

34 ''जीवाजीवास्रवबन्धनसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।'' –तत्त्वार्थसूत्र १।४।

35 ''धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधमर्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि: श्रेयसम्।'' –वैशे. सू. १।१।४।

36 ''प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा –हेत्वाभास–छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगति:।''
–न्यायसूत्र १।१।१।

37 सांख्यका. ६४।

38 ''हेतुविरोधिनैरात्म्यदर्शनं तस्य बाधकम्।'' –प्रमाणवा. १।१३८।

व्याख्या कर लेने के बाद पाश्चात्य दर्शनों का कोई अन्य महान् उद्देश्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ की प्रकृति धन—धान्य आदि से पूर्ण समृद्ध रही है और सदा जीवन, त्याग ओर आध्यात्मिकता की सुगन्ध यहाँ के जनजीवन में व्याप्त रही है। इसीलिए यहाँ प्रागैतिहासिक काल से ही ''मैं और विश्व'' के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से चिन्तन चालू रहे हैं और आज तक उनकी धाराएँ अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हैं। पाश्चात्य दर्शनों का उद्गम विक्रम पूर्व सातवीं शताब्दी के आसपास प्राचीन यूनान में हुआ था। इसी समय भारतवर्ष में उपनिषत् का तत्त्वज्ञान तथा श्रमणपरम्परा का आत्मज्ञान विकसित था। महावीर और बुद्ध के समय यहाँ मक्खलिगोशाल, प्रक्रुध कात्यायन, पूर्ण कश्यप, अजितकेशकम्बलि और संजय वेलट्ठिपुत्त जैसे अनेक तपस्वी अपनी—अपनी विचारधारा का प्रचार करनेवाले मौजूद थे। यहाँ के दर्शनकार प्रायः त्यागी, तपस्वी और ऋषि ही रहे हैं। यही कारण था कि जनता ने उनके उपदेशों को ध्यान से सुना। साधारणतया उस समय की जनता कुछ चमत्कारों से भी प्रभावित होती थी और जिस तपस्वी ने थोड़ा भी भूत और भविष्य की बातों का पता बताया वह तो यहाँ ईश्वर के अवतार के रूप में भी पुजा। भारतवर्ष सदा से विचार और आचार की उर्वरा भूमि रहा है। यहाँ की विचार—दिशा भी आध्यात्मिकता की ओर रही है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यहाँ के साधक अपना घर—द्वार छोड़कर अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुए, कृच्छ साधनाएँ करते रहे हैं। ज्ञानी का सन्मान करना यहाँ की प्रकृति में है।

दो विचार—धाराएँ

इस तरह एक धारा तत्त्वज्ञान और विचार को मोक्ष का साक्षात् कारण मानती थी और वैराग्य आदि को उस तत्त्वज्ञान का पोषक। बिना विषयनिवृत्तिरूप वैराग्य के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसी ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। श्रमणधारा का साध्य तत्त्वज्ञान नहीं, चारित्र था। इस धारा में वह तत्त्वज्ञान किसी काम का नहीं, जो अपने जीवन में अनासक्ति की सृष्टि न करे। इसीलिए इस परम्परा में मोक्ष का साक्षातृ कारण तत्त्वज्ञान से परिपुष्ट चारित्र बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि चाहे वैराग्य आदि के द्वारा पुष्ट तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञान से समृद्ध चारित्र दोनों ही पक्ष तत्त्वज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता समझते ही थे। कोई भी धर्म तब तक जनता में स्थायी आधार नहीं पा सकता था जबतक कि उसका अपना तत्त्वज्ञान न हो। पश्चिम में ईसाई धर्म का प्रभु ईशु के नाम से इतना व्यापक प्रचार होते हुए भी तत्त्वज्ञान के अभाव में वह वहाँ के वैज्ञानिकों और प्रबुद्ध प्रजा की जिज्ञासा को परितुष्ट नहीं कर सका। भारतीय धर्मों का अपना दर्शन अवश्य रहा है और उसी सुनिश्चित

तत्त्वज्ञान की धारा पर उन–उन धर्मों की अपनी–अपनी आचार–पद्धति बनी है। दर्शन के बिना धर्म एक सामान्य नैतिक नियमों के सिवा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता और धर्म के बिना दर्शन भी कोरा वाग्जाल ही साबित होता है। इस तरह सामान्यतया भारतीय धर्मों को अपने–अपने तत्त्वज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिए अपना–अपना दर्शन नितान्त अपेक्षणीय रहा है।

'जैनदर्शन' का विकास मात्र तत्त्वज्ञान की भूमि पर न होकर आचार की भूमि पर हुआ है। जीवन–शोधन की व्यक्तिगत मुक्ति–प्रक्रिया और समाज तथा विश्व में शान्ति–स्थापन की लोकैषणा का मूलमन्त्र 'अहिंसा' ही है। अहिंसा का निरपवाद और निरुपाधि प्रचार समस्त प्राणियों के जीवनको आत्मसम समझे बिना हो नहीं सकता था। ''जह मम ण पियं दुखं जाणिहि एमेव सव्वजीवाणं'' (आचारांग) यानी जैसे मुझे दु:ख अच्छा नहीं लगता उसी तरह संसार के समस्त प्राणियों को समझो। यह करुणापूर्ण वाणी अहिंसक मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकलती है। श्रमणधारा का सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवनशोधन और चारित्रवृद्धि के लिए हुआ है। हम पहले बता आये हैं कि वैदिकपरम्परा में तत्त्वज्ञान को मुक्ति का साधन माना है, जब कि श्रमणधारा में चारित्र को। वैदिक परम्परा वैराग्य आदि से ज्ञान को पुष्ट करती है और विचार शुद्धि करके मोक्ष मान लेती है, जबकि श्रमणपरम्परा कहती है, उस ज्ञान या विचार का कोई विशेष मूल्य नहीं जो जीवन में न उतरे, जिसकी सुवास से जीवन सुवासित न हो। कोरा ज्ञान या विचार दिमागी कसरत से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। जैनपरम्परा में तत्त्वार्थ सूत्र का आदि सूत्र है–

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।।'' –तत्त्वार्थसूत्र १।१।

इसमें मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यगान उस चारित्र के परिपोषक। बौद्धपरम्परा का अष्टांग[३९] मार्ग भी चारित्र का ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारा में ज्ञान की अपेक्षा चारित्र का ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार या ज्ञान का उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए किया गया है। श्रमण–सन्तों ने तप और साधना के द्वारा वीतरागता प्राप्त की थी और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसा की पूत ज्योति को विश्व में प्रसारित करने के लिए समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं, आचार था; ज्ञान नहीं, चारित्र था; वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन–शुद्धि और संवाद था।

---

[39] सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

अहिंसा का अन्तिम अर्थ है– जीवमात्र में, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतत् देशीय हो या विदेशी, इन देश, काल और शरीराकारक के आवरणों से परे होकर समत्व दर्शन करना। प्रत्येक जीव स्वरूप से चैतन्य–शक्ति का अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्मवासना के कारण भले ही वृक्ष, कीड़ा, मकोड़ा, पशु या मनुष्य किसी के भी शरीरो को क्यों न धारण करे, पर उसके चैतन्य–स्वरूप का एक भी अंश नष्ट नहीं होता, कर्मवासनाओं से विकृत भले ही हो जाय इसी तरह मनुष्य अपने देश–काल आदि निमित्तों से गोरे या काले किसी भी शरीर को धारण किये हो, अपनी वृत्ति या कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी भी श्रेणी में उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देश में उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्त का उपासक हो, वह उन व्यावहारिक निमित्तों से निसर्गतः ऊँच या नीच नहीं हो सकता। मानवमात्र की मूलतः समान स्थिति है। आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसा के विकास से ही कोई महान् हो सकता है; न कि जगत् में भयंकर विषमता का सर्जन करनेवाले हिंसा और संघर्ष के मूल कारण परिग्रह के संग्रह से।

युग–दर्शन?–

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अहिंसा या दया की साधना के लिए तत्त्वज्ञान की कया आवश्यकता है? मनुष्य किसी भी विचार का क्यों न हो, परस्पर सद्व्यवहार, सद्भावना और मैत्री उसे समाज–व्यवस्था के लिए करनी चाहिए; परन्तु जरा गहराई से विचार करने पर यह अनिवार्य एवं आवश्यक हो जाता है कि हम विश्व और विश्वान्तर्गत प्राणियों के स्वरूप और उनकी अधिकार–स्थिति का तात्त्विक दर्शन करें। बिना इस तत्त्वदर्शन के हमारी मैत्री कामचलाऊ और केवल तत्कालीन स्वार्थ को साधनेवाली साबित हो सकती है।

लोग यह सस्ता तर्क करते हैं कि– 'कोई ईश्वर को मानो या न मानो, इससे क्या बनता बिगड़ता है? हमें परस्पर प्रेम से रहना चाहिए।' लेकिन भाई, जब एक वर्ग उस ईश्वर के नाम से यह प्रचार[४०] करता हो कि ईश्वर ने मुख से ब्राह्मण को, बाहु से क्षत्रिय को, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र को उत्पन्न किया है और उन्हें भिन्न–भिन्न अधिकार और संरक्षण देकर इस जगत् में भेजा है। दूसरी ओर ईश्वर के नाम पर गोरी जातियाँ यह फतवा दे रही हों कि– ईश्वर उन्हें शासक होने के लिए तथा अन्य काली–पीली जातियों को सभ्य बनाने के लिए पृथ्वी पर भेजा है। अतः गोरी जाति को शासन

---

40 ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तद्वस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।'' –ऋग्वेद १०।९०।१२।

करने का जन्मसिद्ध अधिकार है और काली–पीली जातियों को उनका गुलाम रहना चाहिए। इसप्रकार की वर्गस्वार्थ की घोषणाएँ जब ईश्वरवाद के आवरण में प्रचारित की जाती हों, तब परस्पर अहिंसा और मैत्री का तात्त्विक मूल्य क्या हो सकता है? अत: इस प्रकार के अवास्तविक कुसंस्कारों से मुक्ति पाने के लिए यह शशकवृत्ति कि 'हमें क्या करना है? कोई कैसे ही विचार रखें' आत्मघातिनी ही सिद्ध होगी। हमें ईश्वर के नाम पर चलनेवाले वर्गस्वार्थियों के उन नारों की परीक्षा करनी ही होगी तथा स्वयं ईश्वर की भी, कि क्या इस अनन्त विश्व का नियन्त्रक कोई करुणामय महाप्रभु ही है? और यदि है, तो क्या उसकी करुणा का यही रूप है? हर हालत में हमें अपना स्पष्ट दर्शन व्यक्ति की मुक्ति और विश्व की शान्ति के लिए बनाना ही होगा। इसीलिए महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तदर्शी क्षत्रियकुमारों ने अपनी वंश–परम्परा से प्राप्त उस पापमय राज्यविभूति को लात मारकर प्राणिमात्र की महामैत्री की साधना के लिए जंगल का रास्ता लिया था। समस्याओं के मूलकारणों की खोज किये बिना ऊपरी मलहमपट्टी तात्कालिक शान्ति भले ही दे दे; किन्तु यह शान्ति आगे आनेवाले विस्फोटक तूफान का प्राग्रूप ही सिद्ध हो सकती है।

जगत् की जीती–जागती समस्याओं का समाधान यह मौलिक अपेक्षा रखता है कि विश्व के चर–अचर पदार्थों के स्वरूप, अधिकार और परस्पर सम्बन्धों की तथ्य और सत्य व्याख्या हो। संस्कृतियों के इतिहास की निष्पक्ष मीमांसा हमें इस नतीजे पर पहुँचाती है कि विभिन्न संस्कृतियों के उत्थान और पतन की कहानी अपने पीछे वर्ग स्वार्थियों के झूठे और खोखले तत्त्वज्ञान के भीषण षड्यन्त्र को छुपाये हुए है। पश्चिम का इतिहास एक ही ईसा के पुत्रों की मारकाट की काली किताब है। भारतवर्ष में कोटि–कोटि मानवों को वंशनुगत दासता और पशुओं से भी बदतर जीवन बिताने के लिए बाध्य किया जाना भी, आखिर उसी दयालु ईश्वर के नाम पर ही तो हुआ। अत: प्राणिमात्र के उद्धार के लिए कृतसंकल्प इन श्रमणसन्तों ने जहाँ चारित्र को मोक्ष का अन्तिम और साक्षात् कारण माना वहाँ संघरचना, विश्वशान्ति और समाज–व्यवस्था के लिए, उस अहिंसा के आधारभूत तत्त्वज्ञान को खोजने का भी गम्भीर और तलस्पर्शी प्रयत्न किया। उन्होंने वर्ग स्वार्थ के पोषण के लिए चारों तरफ से सिमटकर एक कठोर शिकंजे में ढलनेवाली कुत्सित विचारधारा को रोककर कहा– ठहरो, जरा इस कल्पित शिकंजे के साँचे से निकलकर स्वतन्त्र विचरो और देखो कि जगत् का हित किसमें है? क्या जगत् का स्वरूप यही है? क्या जीवन का उच्चतम लक्ष्य यही हो सकता है? और इसी एक रोकने सदियों की जड़ीभूत विचारधारा को झकझोर कर जगा दिया और उसे मानवकल्याण की दिशा में तथा जगतृ के विपरिवर्तनमान स्वतन्त्र

स्वरूप की ओर मोड़ दिया। यह दर्शन और संस्कृति के परिवर्तन का युग था। बिहार की पवित्र भूमि पर भगवान् महावीर और बुद्ध इन दो युगदर्शियों ने मानव की दृष्टि भोग से योग की ओर तथा वर्गस्वार्थ से प्राणिमात्र के कल्याण की ओर फेरी। उस युग में जिस तत्त्वज्ञान और दर्शन का निर्माण हुआ, वह आज के युग में भी उसी तरह आवश्यक उपयोगी बना हुआ है।

३. भारतीय दर्शन को जैनदर्शन की देन

मनस अहिंसा अर्थात् अनेकान्तदृष्टि—

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक तीर्थंकर थे। मन, वचन और काय त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना, खासकर मानसिक अहिंसा की स्थायी प्रतिष्ठा, वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य थी। हम भले ही शरीर से दूसरे प्राणियों की हिंसा न करें, पर यदि वचन—व्यवहार और चित्तगत विचार विषय और विसंवादी हैं, तो कायिक अहिंसा का पालन भी कठिन है। अपने मन के विचार अर्थात् मत को पुष्ट करने के लिए ऊँच—नीच शब्द अवश्य बोले जाएँगे, फलतः हाथा—पाई का अवसर आये बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थों का इतिहास इसप्रकार के अनेक हिंसाकाण्डों के रक्तरंजित पन्नों से भरा हुआ है, अतः यह आवश्यक था कि अहिंसा की सर्वांगीण प्रतिष्ठा के लिए विश्व का यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुतिमूलक वचनशुद्धि की जीवनव्यवहार में प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नहीं है कि एक ही वस्तु के विषय में दो परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्ष के समर्थन के लिए उचित—अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष—प्रतिपक्षों का संगठन हो तथा शास्त्रार्थ में हारनेवालों को तेल की जलती कड़ाही में जीवित तल देने जैसी हिंसक होंड़े भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहें। उन्होंने देखा कि आज सारा राजकारण धर्म और मतवादियों के हाथ में है। जब तक इन मतवादों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्व के तत्त्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि 'विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मों का भण्डार है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्णरूप में नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तु के एक—एक अंश को जानकर अपने पूर्णता का दुरभिमान कर बैठा है।' विवाद वस्तु में नहीं है, विवाद तो देखनेवालों की दृष्टि में है। काश, ये वस्तु के विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूप की झाँकी पा सकते।

उनने इस अनेकान्त तत्त्वज्ञान की ओर मतवादियों का ध्यान खींचा और बताया कि– देखों प्रत्येक वस्तु, अनन्त गुण पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि–अनन्त सन्तान–स्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्व के रंगमञ्च से एक कण का भी समूल विनाश हो जाय या उनकी सन्तति सर्वथा उच्छिन्न हो जाय। साथ ही उसकी पर्यायें प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुणधर्मों में भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गणु शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति है। हमारा स्वल्प ज्ञानलव इनमें से एक–एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है। आत्मा को नित्य सिद्ध करनेवालों का पक्ष अपनी सारी शक्ति अनित्यवादियों की उखाड़–पछाड़ में लगा रहा है तो अनित्यवादियों का गुट नित्यपक्षवालों को भला–बुरा कह रहा है। भगवान् महावीरको इन मतवादियों की बुद्धि और प्रवृत्ति पर तरस आता था। वे बुद्ध की तरह आत्मा के नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदि को अव्याकृत कहकर बौद्धिक नैराश्य की सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने उन सभी तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्यों को प्रकाश में ला, उन्हें मानस–समता की भूमि पर खड़ा कर दिया। उनने बताया कि वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं ळै। उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उसका ईमानदारी से विचार करो, तो उसका विषय भूत धम्र भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तु की सीमा और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़ में चेतनत्व खोजा जाय या चेतन में जड़त्व, तो वह नहीं मिल सकता; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने–अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं।

वस्तु सर्वधर्मात्मक नहीं–

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्तधर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे और अचेतनगत अनन्तधर्म अचेतन में। चेतन के गुणधर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। हाँ, कुछ ऐसे सादृश्य मूलक वस्तुत्व आदि सामान्यधर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन सभी द्रव्यों में पाये जा सकते हैं; परन्तु सब की सत्ता जुदी–जुदी हैं तात्पर्य यह कि वस्तु बहुत बड़ी है। वह इतनी विराट् है कि हमारे तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणों से देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र दृष्टि का आग्रह करके दूसरे की दृष्टि का तिरस्कार करना या अपनी दृष्टि का अहंकार करना

वस्तु–स्वरूप की नासमझी का परिणाम है। इस तरह मानस समता के लिए इसप्रकार का वस्तुस्थिति मूलक अनेकानत–तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस मनुष्य तनधारी को ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानी में है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है और वह किसी तरह दुरभिमान से हिंसक मतवाद का सृजन करके मानव समाज का अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्तदर्शन से विचारों या दृष्टिकोणों में कामचलाऊ समन्वय या ढीला–ढाला समझौता नहीं होता; किन्तु वस्तुस्वरूप के आधार से यथार्थ तत्त्वज्ञान मूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

अनेकान्तदृष्टि का वास्तविक क्षेत्र–

इस तरह अनेकान्तदर्शन वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता मानकर केवल कल्पना की उड़ान को और उससे फलित होनेवाले कल्पित धर्मों को वस्तुगत मानने की हिमाकत नहीं करता। वह कभी भी वस्तु की सीमा को नहीं लांघना चाहता। वस्तु तो अपने स्थान पर विराट् रूप में प्रतिष्ठित है। हमें परस्पर विरोधी मालूम होनेवाले भी अनन्तधर्म उसमें अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं। अपनी संकुचित विरोधयुक्त दृष्टि के कारण हम उनकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ताक वस्तुओं को व्यवहार के लिए कल्पना से एक कह भी दे, पर वस्तु की निजी मर्यादा को नहीं लांघना चाहता। एक वस्तु का अपने गुण–पर्यायों से वास्तविक अभेद तो हो सकता है, पर दो व्यक्तियों में वास्तविक अभेद सम्भव नहीं है। इसकी यह विशेषता है, जो यह परमार्थसत् वस्तु की परिधि को न लाँघकर उसकी सीमा में ही विचरण करता है और मनुष्यों को कल्पना की उड़ान से विरतकर वस्तु की ओर देखने को बाध्य करता है। यद्यपि जैनदर्शन में 'संग्रहनय' की एक दृष्टि से चरम अभेद की भी कल्पना की जाती है और कहा जाता है कि ''सर्वमेकं सदविशेषात्'' (तत्त्वार्थ भा. १।३५) अर्थात् जगत् एक है, सद्रूप से चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है; किन्तु यह एक कल्पना है। कोई एक ऐसा वास्तविक सत् नहीं है, जो प्रत्येक मौलिक द्रव्य में अनुगत रहता हो। अत: जैनदर्शन वस्तु स्थिति के बाहर की कल्पना की उड़ान को जिस प्रकार असत् कहता है, उसी तरह वस्तु के एक धर्म के दर्शन में ही वस्तु के सम्पूर्णरूप के अभिमान को भी विघातक मानता है। इन ज्ञानलवधारियों को उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तु की यथार्थ झाँकी दिखानेवाले अनेकान्त दर्शन ने वास्तविक विचार की अन्तिम रेखा खींची है और यह सब हुआ है, मानस समता मूलक तत्त्वज्ञान की खोज से।

मानस समता का प्रतीक–

इस तरह जब वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है, तब मनुष्य सहज ही यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है, उसकी सहानुभूति से समीक्षा होनी चाहिए और उसका वस्तुस्थिति मूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता के वातावरण से निरर्थक कल्पनाओं का जाल टूटेगा और अहंकार का विनाश होकर मानस समता की सृष्टि होगी, जो कि अहिंसा की संजीवनी बेल है। मानस समता के लिए 'अनेकाकन्तदर्शन' ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता हे। इसप्रकार जब 'अनेकान्दर्शन' से विचारशुद्धि हो जाती है, तब वस्तुस्थिति का उल्लंघन करनेवाले किसी भी शब्द का प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने वस्तु की अनेकधर्मात्मकता का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णीत अपेक्षा है; न कि शायद, सम्भव या कदाचित् आदि। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है– स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, सम्भव है, कदाचित् आदि। संक्षेपतः जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्त में माध्यसभाव, वीतरागता और निष्पक्षता का उदय करता है। वहाँ स्याद्वाद वाणी में निर्दोषता आने का पूरा–पूरा अवसर देता है।

स्याद्वाद एक निर्दोष भाषा–शैली–

इसप्रकार अहिंसा की परिपूर्णता ओर स्थायित्व की प्रेरणा ने मानस–शुद्धि के लिए 'अनेकान्तदर्शन' और वचनशुद्धि के लिए 'स्याद्वाद' जैसी निधियों को भारतीय दर्शन के कोषागार में दिया है। बोलते समय वक्ता को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जो बोल रहा है, उतनी ही वस्तु नहीं है। शब्द उसके पूर्णरूप तक पहुँच ही नहीं सकते। इसी भाव को जताने के लिए वक्ता 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिंग में भी है। पर यहाँ वह निपात–अव्यय में निष्पन्न होता है। वह अपने वक्तव्य को निश्चित रूप में उपस्थित करता है; न कि संशयरूप में। जैन तीर्थंकरों ने इसप्रकार सर्वांगीण अहिंसा की साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार का प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थों के देखने का, उनके ज्ञान करने का ओर उनके स्वरूप को वचन से कहने का रास्ता भी दिखाया। इस अहिंसक दृष्टि से यदि भारतीय दर्शनकारों ने वस्तु का निरीक्षण किया होता, तो भारतीय जल्पकथा का इतिहास इतना रक्तरंजित न हुआ होता; और धर्म तथा दर्शन के नाम पर मानवता का निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासन की भावना मानव को दानव बना देती है; और उस पर मत और धर्म का 'अहम्' तो अतिदुनिवार होता है। युग–युग में ऐसे ही दानव को मानव बनाने के लिए अहिंसक सनत इसी समन्वयदृष्टि का, इसी समता भाव का और इसी सर्वांगीण

अहिंसा का उपदेश देते आये हैं। यह जैनदर्शन की ही विशेषता है, जो वह अहिंसा की तह तक पहुँचने के लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वास्तविक आधार से मतवादों की गुत्थियों को सुलझाने की मौलिक दृष्टि भी खोज सका। उसने न केवल दृष्टि ही खोजी, किनतु मन, वचन और काय इन तीनों क्षरों से होनेवाली हिंसा को रोकने का प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित किया।

अहिंसा का आधारभूत तत्त्वज्ञान अनेकान्तदर्शन–

व्यक्ति की मुक्ति के लिए या चित्तशुद्धि और वीतरागता प्राप्त करने के लिए अहिंसा की ऐकान्तिक चारित्रगत साधना उपयुक्त हो सकती है; किन्तु संघरचना और समाज में उस अहिंसा की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उसके तत्त्वज्ञान की खोज न केवल उपयोगी ही है; किन्तु आवश्यक भी है। भगवानृ महावीर के संघ में जो सर्वप्रथम इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वान् दीक्षित हुए थे, वे आत्मा को नित्य मानते थे। उधर अजितकेश–कम्बलि का उच्छेदवाद भी प्रचलित था। उपनिषदों के उल्लेखों के अनुसार विश्व सत् है या असत् उभय है या अनुभय, इसप्रकार की विचारधाराएँ उस समय के वातावरण में अपने–अपने रूप में प्रवाहित थीं। महावीर के वीतराग करुणामय शान्त स्वरूप को देखकर जो भव्यजन उनके धर्म में दीक्षित होते थे, उन पचमेल शिष्यों की विविध जिज्ञासाओं का वास्तविक समाधान यदि नहीं किया जाता तो उनमें परस्पर स्वमत पुष्टि के लिए वादविवाद चलते और संघभेद हुए बिना नहीं रहता। चित्तशुद्धि और विचारों के समीकरण के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ निरूपण हो। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने वीतरागता और अहिंसा के उपदेश से पारस्परिक बाह्य व्यवहारशुद्धि करके ही अपने कर्तव्य को समाप्त नहीं किया; किन्तु शिष्यों के चित्त में अहंकार और हिंसा को बढ़ानेवाले इन सूक्ष्म मतवादों की जो जड़े बद्धमूल थीं, उन्हें उखाड़ने का आन्तरिक ठोस प्रयत्न किया। वह प्रयत्न था वस्तु के विराट् स्वरूप का यथार्थ दर्शन। वस्तु यदि अपने मौलिक अनादिअनन्त असंकर प्रवाह की दृष्टि से नित्य है, तो प्रतिक्षण परिवर्तमान पर्यायों की दृष्टि से अनित्य भी। द्रव्य की दृष्टि से सत् से ही सत् उत्पन्न होता है, तो पर्याय की दृष्टि से असत् से सत्। इस तरह जगत् के यावत् पदार्थों को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामी और अनन्त धर्मात्मक बताकर उन्होंने शिष्यों की न केवल बाह्य परिग्रह की ही गाँठ खोली, किन्तु अन्तरंग हृदयग्रन्थि को भी खोलकर उन्हें अन्तरबाह्य सर्वथा निर्ग्रन्थ बनाया था।

विचार की चरम रेखा–

यह अनेकान्तदर्शन वस्तुत: विचार विकास की चरम रेखा है। चरम रेखा से मेरा तात्पर्य यह है कि दो विरुद्ध बातों में शुष्क तर्कजन्य कल्पनाओं का विस्तार तब तक बराबर होता जायगा, जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी समाधान न निकल आवे। अनेकान्तदृष्टि वस्तु के उसी स्वरूप का दर्शन कराती है, जहाँ विचार समाप्त हो जाते हैं। जब तक वसतु स्थिति स्पष्ट नहीं होती है, तभी तक विवाद चलते हैं। अग्नि ठंठी है या गरम, इस विवाद की समाप्ति अग्नि को हाथ से छू लेने पर जैसे हो जाती है, उसी तरह एक–एक दृष्टिकोण से चलनेवाले विवाद अनेकान्तात्मक वस्तुदर्शन के बाद अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

स्वत:सिद्ध न्यायाधीश–

हम अनेकानतदर्शन को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। प्रत्येक पक्ष के वकीलों द्वारा अपने पक्ष के समर्थन के लिए संकलित दलीलों की फाइल की तरह न्यायाधीश का फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो, पर उसमें वस्तु स्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्षपातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्त के समर्थन में प्रयुक्त दलीलों के भण्डार–भूत एकान्तवादी दर्शनों की तरह जैनदर्शन में विकल्प या कल्पनाओं का चरम विकार न हो, पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एवं अहिंसाधारिता में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने वस्तुस्थिति के आधार से प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण के समन्वय की पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शन के साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयी के सुसंस्कृत मस्तिष्क की उपज है। यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्य स्तम्भ है। इसी से जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकानतदृष्टि के आधार से बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। युगप्रधान आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के पुण्य प्रकाश में सत्–असत्, नित्य–अनित्य, भेद–अभेद, पुण्य–पाप, अद्वैत–द्वैत, भाग्यपुरुषार्थ आदि विविध वादों का समन्वय किया है। मध्यकालीन आचार्य अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकों ने अंशत: परापक्ष का खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया है।

वाचनिक अहिंसा स्याद्वाद–

मानसशुद्धि के लिए विचारों की दिशा में समन्वयशीलता लानेवाली अनेकान्तदृष्टि के आ जाने पर भी यदि तदनुसारिणी

भाषाशैली नहीं बनाई तो उसका सार्वजनिक उपयोग होना असम्भव था। अत: अनेकानत–दर्शन को ठीक–ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नाम की भाषाशैली का आविष्कार उसी अहिंसा के वाचनिक विकास के रूप में हुआ। जब वस्तु भाषाशैली का आविष्कार उसी अहिंसा के वाचनिक विकास के रूप में हुआ। जब वस्तु अन्तधर्मात्मक है और उसको जाननेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है तब वस्तु के सर्वथा एक अंश का निरूपण करनेवाली निर्धारिणी भाषा–वस्तु का यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली नहीं हो सकती। जैसे यह कलम लम्बी, चौड़ी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मों का युगपत् आधार है। अब यदि शब्द से यह कहा जाय कि यह कलम 'लम्बी ही है' तो शेष धर्मों का लोप इस वाक्य से फलित होता है, जब कि उसमें उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान हैं। न केवल इसी तरह, किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षा से लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षा से लम्बी नहीं भी है। प्रत्येक धर्म की अभिव्यक्ति सापेक्ष होने से उसका विरोधी धर्म उस वस्तु में पाया ही जाता है। अत: विवक्षित धर्मवाची शब्द के प्रयोगकाल में हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्म के अस्तित्व को सूचन करनेवाले 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को नहीं भूलना चाहिए। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्द को समस्त वस्तु पर अधिकार करने से रोकता है और कहता है कि 'भाई, इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा ही अधिकार हो। तुम्हारे अनन्त धर्म–भाई इसी वस्तु के उसी तरह समान अधिकारी हैं जिस तरह कि तुम।'

'स्यात्' एक प्रहरी–

'स्यात्' शब्द एक ऐसा प्रहरी है, जो शब्द की मर्यादा को सन्तुलित रखता है। वह सन्देह या सम्भावना को सूचित नहीं करता; किन्तु एक निश्चित स्थिति को बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टि से अमुक धर्मवाली है ही। उसमें अन्य धर्म उस समय गौण हैं। यद्यपि हमेशा 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का नियम नहीं है; किन्तु वह समस्त वाक्यों में अन्तर्निहित रहता हे। कोई भी वाक्य अपने प्रतिपाद्य अंश का अवधारण करके भी वस्तुगत शेष अंशों को गौण तो कर सकता है पर उनका निराकरण करके वस्तु को सर्वथा ऐकान्तिक नहीं बना सकता, क्योंकि वस्तु स्वरूप से अनेकानत–अनेक धर्मवाली है।

'स्यात्' का अर्थ 'शायद' नहीं–

'स्यात्' शब्द हिन्दी भाषा में भ्रन्तिवश शायद का पर्यायवाची समझा जाने लगा है। प्राकृत और पाली में 'स्यात्' का 'सिया' रूप

होता है। यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है। जैसे कि 'मज्झिमनिकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' में आपो धातु का वर्णन करते हुए लिखा है कि ''कतमा च राहुल आपोधातु?'' ''आपोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा'' अर्थात् आपोधातु (जल) कितने प्रकार की है? आपोधातु स्यात् आभ्यन्तर है और स्यात् बाह्य। यहाँ आभ्यन्तर धातु के साथ 'सिया' शब्द का प्रयोग आपोधातु के आभ्यन्तर भेद के सिवा द्वितीय बाह्य भेद की सूचना के लिए है और बाह्य के साथ 'सिया' शब्द का प्रयोग बाह्य के सिवा अभ्यन्तररूप ही। इस उभयरूपता की सूचना 'सिया'—'स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो 'स्यात्' शब्द का 'शायद' ही अर्थ है, और न 'सम्भव' और न 'कदाचित्' ही। क्योंकि 'आपो' धातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नहीं है और न सम्भवत: आभ्यन्तर और सम्भवत: बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और बाह्य अपितु उभय भेदवाली है।

'स्यात्' अविवक्षित का सूचक—

इसी तरह प्रत्येक धर्मवाची शब्द के साथ जुड़ा हुआ 'स्यात्' शब्द एक सुनिश्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो वस्तु के पूर्ण रूप को स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह जब शब्द में स्वभावत: विवक्षानुसार अमुक धर्म के प्रतिपादन करने की ही शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। वह श्रोता को विवक्षित धर्म का प्रधानता से ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है। इस तरह भगवान् महावीर ने सर्वथा एकांश प्रतिपादिका वाणी को भी 'स्यात्' संजीवन के द्वारा वह शक्ति दी, जिससे वह अनेकान्त का मुख्य—गौण भाव से द्योतन कर सकी। यह 'स्याद्वाद' जैनदर्शन में सत्य का प्रतीक बना है।

धर्मज्ञता और सर्वज्ञता—

भगवान् महावीर और बुद्ध के सामने एक सीधा प्रश्न था कि धर्म जैसा जीवन्त पदार्थ, जिसके ऊपर इहलोक और परलोक का बनाना और बिगाड़ना निर्भर करता है, क्या मात्र वेद के द्वारा निर्णीत हो या उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा के अनुसार अनुभवी पुरुष भी अपना निर्णय दें? वैदिक परम्परा की इस विषय में दृढ़ और निर्बाध श्रद्धा है कि धर्म में अन्तिम प्रमाण वेद है और जब धर्म जैसा अतीन्द्रिय पदार्थ मात्र वेद के द्वारा ही जाना जा सकता है।

तो धर्म जैसे अतिसूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अन्य पदार्थ भी वेद के द्वारा ही ज्ञात हो सकेंगे, इनमें पुरुष का ज्ञान साक्षात् प्रवृत्ति नहीं कर सकता। पुरुष प्राय: राग, द्वेष और अज्ञान से दूषित होते हैं। उनका आत्मा इतना निष्कलंक और ज्ञानवान् नहीं हो सकता, जो प्रत्यक्ष से अतीन्द्रियदर्शी हो सके। न्याय–वैशेषिक और योग परम्पराओं ने वेद को उस नित्य ज्ञानवान् ईश्वर की कृति माना, जो अनादिसिद्ध है। ऐसा नित्य ज्ञान दूसरी आत्माओं में सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह कि वर्तमान वेद, चाहे वह अपौरुषेय हो या अनादिसिद्ध ईश्वर कर्तृक, शाश्वत है और धर्म के विषय में अपनी निर्बाध सत्ता रखता है। अन्य महर्षियों के द्वारा रची गई स्मृतियाँ आदि यदि वेदानुसारिणी हैं, तो ही प्रमाण है अन्यथा नहीं; यानी प्रमाणता की ज्योति वेद की अपनी है।

लैकिक व्यवहार में शब्द की प्रमाणता का आधार निर्दोषता है। वह निर्दोषता दो ही प्रकार से आती है– एक तो गुणवान् वक्ता होने से और दूसरे, वक्ता ही न होने से। आचार्य कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं। कि[41] शब्द में दोषों की उत्पत्ति वक्ता से होती है। उनका अभाव कहीं तो गुणवान् वक्ता होने से हो जाता है; क्योंकि वक्ता के यथार्थवेदित्व आदि गुणों से दोषों का अभाव होने पर वे दोष शब्दों में अपना स्थान नहीं जमा पाते। दूसरे, वक्ता का अभाव होने से निराश्रय दोष नहीं रह सकते। पुरुष प्राय: अनृतवादी होते हैं। अत: इनके वचनों को धर्म के मामले में प्रमाण नहीं माना जा सकता। ब्राह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि देव वेददेह होने से ही प्रमाण हैं और इसका यह फल था कि वेद से जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था तथा स्वर्ग प्राप्ति के लिए अजमेध, अश्वमेध, गोमेध यहाँ तक कि नरमेध आदि का जोरों से प्रचार था। आत्मा की आत्यन्तिक शुद्धि की सम्भावना न होने से जीवन का लक्ष्य ऐहिक स्वर्गादि विभूतियों की प्राप्ति तक ही सीमित था। श्रेय की अपेक्षा प्रेय में ही जीवन की सफलता मान ली गई थी।

निर्मल आत्मा स्वयं प्रमाण–

किन्तु भगवान महावीर ने राग, द्वेष आदि के क्षय का तारतम्य देखकर आत्मा की पूर्ण वीतराग शुद्ध अवस्था तथा ज्ञान की परिपूर्ण निर्मल दशा को असम्भव नहीं माना और उनने अपनी स्वयं साधना द्वारा निर्मल ज्ञान तथा वीतरागता प्राप्त की। उनका सिद्धान्त था कि पूर्ण ज्ञानी वीतराग अपने निर्मल ज्ञान से धर्म का साक्षात्कार कर सकता और

---

41 ''शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभाव: क्वचित्तवद् गुणद्वक्तृकत्वत:।।६२।।
तदगुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया:।।६३।।''
–मी. श्लो. चोदना.।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की परिस्थिति के अनुसार उसके स्वरूप का निर्माण भी वह करता है। युग–युग में ऐसे ही महापुरुष धर्मतीर्थ के कर्ता होते हैं और मोक्षमार्ग के नेता भी। वे अपने अनुभूत धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं, इसीलिए उन्हें तीर्थंकर कहतेह ैं। वे ध्र्मा के नियम–उपनियमों में किसी पूर्वश्रुत या ग्रन्थ का सहारा न लेकर अपने निर्मल अनुभव के द्वारा स्वयं धर्म का साक्षात्कार करते हैं और उसी मार्ग का उपदेश देते हैं। जब तक उन्हें केवलाान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वे मौन रहते हैं और मात्र आत्मसाधना में लीन रहकर उस क्षण की प्रतीक्षा करते हैं जिस क्षण में उन्हें निर्मल बोधि की प्राप्ति होती है। यद्यपि पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत श्रुत उन्हें विरासत में मिलताह ै; परन्तु वे उस पूर्व श्रुत के प्रचारक न होकर स्वयं अनुभूत धर्मतीर्थ की रचना करते हैं, इसलिए वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। यदि वे पूर्व श्रुत का ही मुख्यरूप से सहारा लेते तो उनकी स्थिति आचार्यों से अधिक नहीं होती। यह ठीक है कि एक तीर्थंकर का उपदेश दूसरे तीर्थंकर से मूलसिद्धान्तों में भिन्न नहीं होता; क्योंकि सत्य त्रिकालाबाधित होता है और एक होता है। वस्तु का स्वरूप भी जब सदा से एक मूल धारा में प्रवाहित है तब उसका मूल साक्षात्कार विभिन्न कालों में भी दो प्रकार का नहीं हो सकता। श्रीमद् रायचन्द्र ने ठीक ही कहा है कि– ''करोड़ ज्ञानियों का एक ही विकल्प होता है जबकि अज्ञानी के करोड़ विकल्प होते हैं।'' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि करोड़ ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा चूँकि सत्य का साक्षात्कार करते हैं, अत: उनका पूर्ण साक्षात्कार दो प्रकार का नहीं हो सकता। जबकि एक अज्ञानी अपनी अनेक प्रकार की वासनी के अनुसार वस्तु के स्वरूप को रंग–बिरंगा, चित्र–विचित्ररूप में आरोपित कर देखता है। अर्थात् ज्ञानी सत्य को जानता है, बनाता नहीं; जबकि अज्ञानी अपनी वासनाओं के अनुसार सत्य को बनाने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि अज्ञानी के कथन में पूर्वापर विरोध पग–पग पर विद्यमान रहता है। दो अज्ञानियों का कथन एक जैसा नहीं हो सकता, जबकि असंख्य ज्ञानियों का कथन मूलरूप में एक ही तरह का होता है। दो अज्ञानियों की बात जाने दीजिए, एक ही अज्ञानी कषायवश कभी कुछ कहता है। और कभी कुछ। वह स्वयं विवाद और असंगति का केन्द्र होता है।

मैं आगे धर्मज्ञता के दार्शनिक मुद्देपर विस्तार से लिखूँगा। यहाँ तो इतना ही निर्देश करना इष्ट है कि जैनदर्शन की धर्माता और सर्वज्ञता की मान्यता का यह जीवनोपयोगी तथ्य है कि पुरुष अपनी वीतराग और निर्मल ज्ञान की दशा में स्वयं प्रमाण होता है। वह आत्मसंशोधन के मार्ग का स्वयं साक्षात्कार करता हे। अपने धर्म पथ का स्वयं ज्ञाता होता है और इसीलिए मोक्षमार्ग का नेता भी होता है। वह किसी अनादिसिद्ध अपौरुषेय ग्रन्थ या श्रुति–परम्परा का व्याख्याता

या मात्र अनुसरण करनेवाला ही नहीं होता। यही कारण है कि श्रमण–परम्परा में कोई अनादिसिद्ध श्रुति या ग्रन्थ नहीं है, जिसका अन्तिम निर्णायक अधिकार धर्ममार्ग में स्वीकृत हो। वस्तुत: शब्द के गुण–दोष वक्ता के गुण–दोष के आधीन हैं। शब्द तो एक निर्जीव माध्यम है, जो वक्ता के प्रभाव को ढोता है। इसलिए श्रमण–परम्परा में शब्द की पूजा न होकर, वीतराग–विज्ञानी सन्तों की पूजा की जाती है। इन सन्तों के उपदेशों का संग्रह ही 'रुत' कहलाता है, जो आगे के आचार्यों और साधकों के लिए तभी तक मार्गदर्शक होता है जब तक कि वे स्वयं वीतरागता और निर्मल ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते। निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के बाद वे स्वयं धर्म में प्रमाण होते हैं। निग्गंठ नाथपुत्त भगवान् महावीर की सर्वा और सर्वदर्शी के रूप में जो प्रसिद्धि थी कि वे सोते–जागते हर अवस्था में जानते और देखते हैं– उसका रहस्य यह था कि वे सदा स्वयं साक्षात्कृत त्रिकालाबाधित धर्ममार्ग का उपदेश देते थे। उनके उपदेशों में कहीं पूर्वापर विरोध या असंगति नहीं थी।

निरीश्वरवाद–

आज की तरह पुराने युग में बहुसंख्या ईश्वरवादियों की रही है। वे जगत् का कर्ता और विधाता एक अनादिसिद्ध ईश्वर को मानते रहे। इश्वर की कल्पना भय और आश्चय्र से हुई या नहीं, हम इस विवाद में न पड़कर यह देखना चाहते हैं कि इसका वास्तविक और दार्शनिक आधार क्या है? जैनदर्शन में इस जगत् को अनादि माना है। किसी भी ऐसे समय की कल्पना नहीं की जा सकती कि जिस समय यहाँ कुछ न हो और न कुछ से कुद उत्पन्न हो गया हो। अनन्त 'सत्' अनादि काल से अनन्तकाल तक क्षण–क्षण विपरिवर्तमान होकर मूल धारा में प्रवाहित हैं। उनके परस्पर संयोग और वियोग से यह सृष्टिचक्र स्वयं संचालित है। किसी एक बुद्धिमान ने बैठकर असंख्य कार्य–कारणभाव और अनन्त स्वरूपों की कल्पना की हो और वह अपनी इच्छा से इस जगत् का नियन्त्रण करता हो, यह वस्तुस्थिति के प्रतिकूल तो है ही, अनुभवगम्य भी नहीं है। प्रत्येक 'सत्' अपने में परिपूर्ण और स्वतन्त्र है। प्रतिक्षण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप स्वभाव के कारण परस्पर प्रभावित होकर अनेक अवस्थाओं में स्वयं परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन कहीं पुरुष की बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नों से बँधकर भी चलता है। इतना ही पुरुष का पुरुषार्थ और प्रकृति पर विजय पाना है; किन्तु आज तक के विज्ञान का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने अनन्त विश्व के एक अंश का भी पूर्ण पता नहीं लगायाऔर न उस पर पूरा नियन्त्रण ही रखा है। आजतक के सारे पुरुषार्थ अनन्त समुद्र में एक बुद्‌बुद के समान हैं। विश्व अपने पारस्परिक कार्य–कारणभावों से स्वयं सुव्यवस्थित और सुनियन्त्रित है।

मूलत: एक सत् का दूसरे सत् पर कोई अधिकार नहीं है। चूँकि वे दो हैं, इसलिए वे अपने में परिपूर्ण और स्वतन्त्र हैं। सत् चाहे चेतन हो या अचेतन, अपने में अखण्ड और परिपूर्ण है। जो भी परिणमन होता है वह उसकी स्वभावभूत उपादान–योग्यता की सीमा में ही होता है। जब अचेतन द्रव्यों की यह स्थिति है तब चेतन व्यक्तियों का स्वातन्त्र्य तो स्वयं निर्बाध है। चेतन अपने प्रयत्नों से कहीं अचेतन पर एक हद तक तात्कालिक नियन्त्रण कर भी ले, पर यह नियन्त्रण सार्वकालिक और सार्वदैशिकरूप में न सम्भव है और न शक्य ही। इसी तरह एक चेतनपर दूसरे चेतन का अधिकार या प्रभाव परिस्थिति–विशेष में हो जाय, तो भी मूलत: उसका व्यक्ति स्वातन्त्र्य समाप्त नहीं हो सकता। मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण अधिक से अधिक भौतिक साधनों और अचेतन व्यक्तियों पर प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करता है, पर उसका यह प्रयत्न सर्वत्र और सदा के लिए आज तक सम्भव नहीं हो सका है। इस अनादिसिद्ध व्यक्ति–स्वातन्त्र्य के आधार से जेनदर्शन ने किसी एक ईश्वर के हाथ इस जगत् की चोटी नहीं दी। सब अपनी–अपनी पर्यायों के स्वामी और विधाता हैं। जब जीवित अवस्था में व्यक्ति का अपना स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित है और वह अपने संस्कारों के अनुसार अच्छी या बुरी अवस्थाओं को स्वयं धारण करता जाता है, स्वयं प्रेरित है, तब न किसी न्यायालय की जरूरत है और न न्यायाधीश ईश्वर की ही। सब अपने–अपने संस्कार और भावनाओं के अनुसार अच्छे और बुरे वातावरण की स्वयं सृष्टि करते हैं। यही संस्कार 'कर्म' कहे जाते हैं। जिनका परिपाक अच्छी और बुरी परिस्थितियों का बी बनता है। ये संस्कार चूँकि स्वयं उपार्जित किये जाते हैं, अत: उनका परिवर्तन, परिवर्धन संक्रमण और क्षय भी स्वयं ही किया जा सकता है। यानी पुरुष अपने कर्मों का एक बार कर्ता होकर भी उनकी रेखाओं को अपने पुरुषार्थ से मिटा भी सकता है। द्रव्यों की स्वभावभूत योग्यताएँ, उनके प्रतिक्षण परिणमन करने की प्रवृत्ति और परस्पर प्रभावित होने की लचक इन तीन कारणों से विश्व का समस्त व्यवहार चलता जा रहा है।

कर्मणा वर्णव्यवस्था–

व्यवहार के लिए गुण कर्म के अनुसार वर्ण–व्यवस्था की गयी थी, जिससे समाज–रचना में असुविधा न हो; किन्तु वर्गस्वार्थियों ने ईश्वर के साथ उसका भी सम्बन्ध जोड़ दिया और जुड़ना भी चाहिए था; क्योंकि जब ईश्वर जगत् का नियन्ता है तो जगत् के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था उसके नियन्त्रण से परे कैसे रह सकती है? ईश्वर का सहारा लेकर इस वर्ण–व्यवस्था को ईश्वरीय रूप दिया गया और कहा गया कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय उसकी बाहुओं से, वैश्य उदर से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। उनके अधिकार भी जुदे–जुदे हैं

और कर्तव्य भी। अनेक जन्मसिद्ध संरक्षणों का समर्थन भी ईश्वर के नाम पर किया गया है। इसका यह परिणाम हुआ कि भारतवर्ष में वर्गस्वर्था के आधार से अनेक प्रकार की विषमताओं की सृष्टि हुई। करोड़ों मानव दास, अन्त्यज और शूद्र के नामों से वंशपरम्परागत निर्दलन और उत्पीड़न के शिकार हुए। शूद्र धर्माधिकार से भी वंचित किये गये। इस वर्णधर्म के संरक्षण के कारण ही ईश्वर को मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है। यानी जो व्यवस्था लौकिक–व्यवहार और समाज–रचना के लिए की गयी थी और जिसमें युगानुसार परिवर्तन की शक्यता थी वह धर्म और ईश्वर के नाम से बद्धमूल हो गयी।

जैनधर्म में मानवमात्र को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के परम सिद्धान्त के अनुसार समान धर्माधिकार तो दिया ही। साथ ही साथ इस व्यावहारिक वर्णव्यवस्था को समाज व्यवहार तक गुण–कर्म के अनुसार ही सीमित रखा।

दार्शनिक युग में द्रव्यत्वादि सामान्यों की तरह व्यवहार कल्पित ब्राह्मणत्वादि जाजियों का भी उन्हें नित्य, एक और अनेकानुगत मानकर जो समर्थन किया गया है और उनकी अभिव्यक्ति ब्राह्मणादि माता–पिता से उत्पन्न होने के कारण जो बतायी गयी है उनका[४२] खण्डन जैन और बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में प्रचुरता से पाया जाता है। इनका सीधा सिद्धान्त है कि मनुष्यों में जब मनुष्यत्व नामक सामान्य ही सादृश्य मूलक है तब ब्राह्मणत्वादि जातियाँ भी सदृश आधार और व्यवहार मूलक ही बन सकतीं हैं। जिनमें अहिंसा, दया आदि सद्व्रतों के संस्कार विकसित हों वे ब्राह्मण, पररक्षा की वृत्तिवाले क्षत्रिय, कृषिवाणिज्यादि–व्यापार प्रधान वैश्य और शिल्पसेवा आदि से आजीविका चलानेवाले शूद्र हैं। कोई भी शूद्र अपने में व्रत आदि सद्गुणों का विकास करके ब्राह्मण बन सकता है।[४३] ब्राह्मणत्व का आधार व्रतसंस्कार है न कि नित्य ब्राह्मणत्व जाति।

जैनदर्शन ने जहाँ पदार्थ–विज्ञान के क्षेत्र में अपनी मौलिक दृष्टि रखी है वहाँ समाज–रचना और विश्वशान्ति के मूलभूत सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। उनमें निरीश्वरवाद और वर्ण–व्यवस्था को व्यवहार कल्पित माननाये दो प्रमुख हैं। यह ठीक है कि कुछ संस्कार वंशानुगत होते हैं; किनतु उन्हें समाज रचना का आधार नहीं बनाया जा सकता। सामाजिक और सार्वजनिक साधनों के विशिष्ट संरक्षण के लिए वर्णव्यवस्था की दुहाई नहीं दी जा सकती। सार्वजनिक विकास के

---

42 देखा, प्रमाणवार्तिकालंकार, पृ. २२। तत्त्वसंग्रह का. ३५७९। प्रमेयकमलमा., पृ. ४८३। न्यायकुमुत्र, पृ. ७७०। सन्मति. टी., पृ. ६९७। स्या. रस्ना. ९५९।

43 'ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात्'' –आदिपुराण ३८।४६।

अवसर प्रत्येक के लिए समानरूप से मिलने पर स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है।

अनुभव की प्रमाणता–

धर्मज्ञ और सर्वज्ञ के प्रकरण में लिखा जा चुका है। कि श्रमण–परम्परा में पुरुष प्रमाण है, ग्रन्थविशेष नहीं। इसका अर्थ है शब्द स्वत: प्रमाण न होकर पुरुष के अनुभव की प्रमाणता से अनुप्राणित होता है। मीमांसक ने लौकिक शब्दों में वक्ता को गुण और दोषों कीएक हद तक उपयोगिता स्वीकार करके भी धर्म में वैदिक शब्दों को पुरुष के गुण–दोषों से मुक्त रखकर स्वत: प्रमाण माना है। पहली बात तो यह है कि जब भाषात्मक शब्द एकान्तत: पुरुष के प्रयत्न से ही उत्पन्न होते हैं, अत: उन्हें अपौरुषेय और अनादि मानना ही अनुीाव विरुद्ध है तब उनके स्वत: प्रमाण मानने की बात तो बहुत दूर की है। वक्ता का अनुभव ही शब्द की प्रमाणता का मूल स्रोत है। प्रमाण्याद के विचार में मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

साधन की पवित्रता का आग्रह–

भारतीय दर्शनों में वादकथा का इतिहास जहाँ अनेक प्रकार से मनोरंजक है वहाँ उसमें अपनी–अपनी परम्परा की कुछ मौलिक दृष्टियों के भी दर्शन होते हैं। नैयायिकों ने शास्त्रार्थ में जीतने के लिए छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असद् उपायों का भी आलम्बन लेकर सन्मार्ग–रक्षा का लक्ष्य सिद्ध करने की परम्परा का समर्थन किया है। छल, जाति और निग्रहस्थानों की किलेबन्दी प्रतिवादी को किसी भी तरह चुप करने के लिए की गयी थी। जिसका आश्रय लेकर सदोष साधनवादी भी निर्दोष प्रतिवादी पर कीचड़ उछाल सकता था और उसे पराजित कर सकता था; किन्तु जैनदार्शनिकों ने शासन–प्रभावना को भी असद् उपायों से करना उचित नहीं माना। वे साध्य की तरह साधन की पवित्रता पर भी उतना ही जोर देते हैं। सत्य और अहिंसा का ऐकान्तिक आग्रह होने के कारण उन्होंने वादकथा जैसे कलुषित क्षेत्र में भी छल, जाति आदि के प्रयोग की कुशलता से जय–पराजय होनी चाहिए और छल, जाति आदि के प्रयोग की कुशलता से जय–पराजय कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्धों का भी यही दृष्टिकोण है। (विशेष के लिए देखो, जय पराजयव्यवस्था प्रकरण)।

तत्त्वाधिगम के उपाय–

जैनदर्शन ने पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है। साथ ही साथ उन पदार्थों के जानने, देखने, समझने और समझाने की दृष्टियों का भी स्पष्ट वर्णन किया है। इनमें नय और

सप्तभंगी का विवेचन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रमाण के साथ नयों को भी तत्त्वाधिगम के उपायों में गिनाना जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। अखण्ड वस्तु को ग्रहण करने के कारण प्रमाण तो मूक है। वस्तु को अनेक दृष्टियों से व्यवहार में उतारना अंशग्राही सापेक्ष नयों का ही कार्य है। नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु को विभाजित कर उसके एक–एक अंश को ग्रहण करते हैं और उसे शब्द व्यवहार का विषय बनाते हैं। नयों के भेद–प्रभेदों का विशेष विवेचन करनेवाले नयचक्र, नयविवरण आदि अनेक ग्रन्थ और प्रकरण जैनदर्शन के कोषागार को उद्भासित कर रहे हैं। (विस्तृत विवेचन के लिए देखों, नयमीमांसा प्रकरण)।

इस तरह जैनदर्शन वस्तु–स्वरूप के विचार में अनेक मौलिक दृष्टियाँ भारतीय दर्शन को दी है, जिनसे भारतीय दर्शन का कोषागार जीवनोपयोगी ही नहीं, समाज–रचना और विश्वशान्ति के मौलिक तत्त्वों से समृद्ध बना है।

४. लोकव्यवस्था

जैनी लोकव्यवस्था का मूल मन्त्र–

''भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति।''

–पंचा. गा. १५०।

किसी भाव अर्थात् सद् का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत् उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय करते रहते हैं। लोक में जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्या में कभी भी हेर–फेर नहीं होता। उनकी गुण और पर्यायों में परिवर्तन अवश्यमीावी है, उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। इस विश्व में अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। इनसे यह लोक व्याप्त है। जितने आकाश देश में ये जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। लोक के बाहर भी आकाश है, वह अलोक कहलाता है। लोकगत आकाश और अलोकगत आकाश दोनों एक अखण्ड द्रव्य हैं। यह विश्व इन अनन्तानन्त 'सन्तों' का विराट् आगार है और अकृत्रिम है।[44] प्रत्येक 'सत्' अपने में परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

---

[44] ''लोगो अकिट्टिमो खलु'' –मूला. गा. ७१२।

सत् का लक्षण है[45] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युकत होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसकी यह पूर्व व्यय तथा उत्तरोत्पाद की धारा अनादि और अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। चाहे चेतन हो या अचेतन, कोई भी सत् इस उत्पाद, व्यय के चक्र से बाहर नहीं है। यह उसका निज स्वभाव है। उसका मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिए और अपनी अविच्छिन्न धारा में असंकरभाव से अनाद्यनन्त रूप में परिणत होते रहना चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश भी होते हैं और कभी विसदृश भी। ये कभी एक–दूसरे के निमित्त से प्रभावित भी होते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन की परम्परा किसी समय दीपनिर्वाण की तरह बुझ नहीं सकती। यह भाव उपरोक्त गाथा में 'भावस्स णत्थि णासो' पद द्वारा दिखाया गया है। कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाय, परिवर्तनों की अनन्त संख्या होने पर भी वस्तु की सत्ता नष्ट नहीं होती। उसका मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता। अनन्त प्रयत्न करने पर भी जगत के रंगमंच से एक भी अणु को विनष्ट नहीं किया जा सकता, उसकी हस्ती को नहीं मिटाया जा सकता। विज्ञान की तीव्रतम भेदक शक्ति अणु द्रव्य का भेद नहीं कर सकती। आज जिसे विज्ञान ने 'एटम' माना है और जिसके इलेक्ट्रान और प्रोटान रूप से भेदकर वह यह समझता है कि हमने अणु का भेद कर लिया, वस्तुतः वह अणु न होकर सूक्ष्म स्कन्ध ही है और इसीलिए उसका भेद सम्भव हो सका है। परमाणु का तो लक्षण है–

''अंतादि अंतमज्झं अंतंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं अविभागी दव्वं तं परमाणुं पससंति।।''

–नियमसा

. गा. २६।

अर्थात्– परमाणु का वही आदि, वही अन्त तथा वही मध्य है। वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है– उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं।

''सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो।।''

–पंचा.

१७७।

---

45 ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' –त. सू. ५।३०।

अर्थात्— समस्त स्कन्धों का जो अन्तिम भेद है, वह परमाणु है। वह शाश्वत है, शब्दरहित है, एक है, सदा अविभागी है और मूर्तिक है। तात्पर्य यह कि परमाणु द्रव्य अखण्ड है और अविभागी है। उसको छिन्न—भिन्न नहीं किया जा सकता। जहाँ तब छेदन—भेदन सम्भव है वह सूक्ष्म स्कन्ध का हो सकता है, परमाणु का नहीं। परमाणु की द्रव्यता और अखण्डता का सीधा अर्थ है— उसका अविभागी एक सत्ता और मौलिक होना। वह छिद—भिदकर दो सत्तावाला नहीं बन सकता। यदि बनता है तो समझना चाहिए कि वह परमाणु नहीं है। ऐसे अनन्त मौलिक अविभागी अणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। इन्हीं परमाणुओं के परस्पर सम्बन्ध से छोटे—बड़े स्कन्धरूप अनेक अवस्थाएँ होती हैं।

परिणमनों के प्रकार—

सत् के परिणाम दो प्रकार के होते हैं— एक स्वभावात्मक और दूसरा विभावरूप। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुद्रव्य ये सदा शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करते हैं। इनमें पूर्व पर्याय नष्ट होकर भी जो नयी उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। वह सदृश और स्वभावात्मक ही होती है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। प्रत्येक द्रव्य में एक 'अगुरुलघु' गुण या शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य की निजरूप में स्थिर—मौलिकता कायम रखता है। इसी गुण में अनन्तभागवृद्धि आदि षड्गुणी हानि—वृद्धि होती रहती है, जिससे ये द्रव्य अपने ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव को धारण करते हैं और कभी अपने द्रव्यत्व को नहीं छोड़ते। इनमें कभी भी विभाव या विलक्षण परिणमन नहीं होता और न कहने योग्य कोई ऐसा फर्क आता है, जिससे प्रथम क्षणके परिणमन से द्वितीय क्षण के परिणमन का भेद बताया जा सके।

परिणमन का कोई अपवाद नहीं—

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनादि से अनन्तकाल तक ये द्रव्य सदा एक जैसे समान परिणमन करते हैं, उनमें कभी भी कहीं भी किसी भी रूप में विस्दृशता, विलक्षणता या असमानता नहीं आती तब उनमें परिणमन अर्थात् परितवर्तन कैसे कहा जाय? उनके परिणमन का क्या लेखा—जोखा हो? परन्तु जब लोक का प्रत्येक 'सत्' सदा परिणामी है, कूटस्थ नित्य नहीं, सदा शाश्वत नहीं; तब सत् के इस अपरिहार्य और अनिवार्य नियम का आकाशादि 'सत्' कैसे उल्लंघन कर सकते हैं? उनका अस्तित्व ही त्रयात्मक अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। इसका अपवाद कोई भी सत् कभी भी नहीं हो सकता। भले ही उनका परिणमन हमारे शब्दों का या स्थूल ज्ञान का

विषय न हो, पर इस परिणामित्व का अपवाद कोई भी सत् नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जब हम एक सत्– पुद्गल परमाणु में प्रतिक्षण परिवर्तन को उसके स्कन्धादि कार्यों द्वारा जानते हैं, एक सत्–आत्मा में ज्ञानादि गुणों के परिवर्तन को स्वयं अनुभव करते हैं तथा दृश्य विश्व में सत् की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशीलता प्रमाणसिद्ध है; तब लोक के किसी भी सत् को उत्पादादि से रहित होने की कल्पना नहीं की जा सकती। एक मृत्पिंड पिंडाकार को छोड़कर घट के आकार को धारण करता है तथा मिट्टी दोनों अवस्थाओं में अनुगत रहती है। वस्तु के स्वरूप को समझने का यह एक स्थूल दृष्टान्त है। अत: जगत् का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, परिणामी–नित्य है, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। वह प्रतिक्षण पर्यायान्तर को प्राप्त होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, ध्रुव है।

जीवद्रव्य में जो आत्माएँ कर्मबन्धन को काटकर सिद्ध हो गई हैं उन मुक्त जीवों का भी सिद्धि के काल से अनन्तकाल तक सदा शुद्ध ही परिणमन होता है। समान और एकरस परिणमन की धारा सदा चलती रहती है, उसमें कभी कोई विलक्षणता नहीं आती। रह जाते हैं संसारी जीव और अनन्त पुद्गल, जिनका रंगमंच यह दृश्य विश्व है। इनमें स्वाभाविक और वैभाविक दोनों परिणमन होते हैं। फर्क इतना ही है कि संसारी जीव के एक बार शुद्ध हो जाने के बाद फिर अशुद्धता नहीं आती, जबकि पुद्गलस्कन्ध अपनी शुद्ध दशा परमाणुरूपता में पहुँचकर भी फिर अशुद्ध हो जाते हैं। पुद्गल की शुद्ध अवस्था परमाणु है और अशुद्ध दशा स्कन्ध–अवस्था है। पुद्गल द्रव्य स्कन्ध बनकर फिर परमाणु अवस्था में पहुँच जाते हैं और फिर परामणु से स्कन्ध बन जाते हैं। सारांश यह कि संसारी जीव और अनन्त पुद्गल परमाणु भी प्रतिक्षण अपने परिणामी स्वभाव केकारण एक दूसरे के तथा परस्पर निमित्त बनकर स्वप्रभावित परिणमन के भी जनक हो जाते हैं। फिर गर्मी का सन्धिान पाकर भाफ बनकर उड़ जाता है, फिर सर्दी पाकर पानी बन जाता है और इस तरह अनन्त प्रकार के परिवर्तन–चक्र में बाह्य–आभ्यन्तर सामग्री के अनुसार परिणत होता रहता है। यही हाल संसारी जीव का है। उसमें भी अपनी सामग्री के अनुसार गुणपर्यायोंका परिणमन बराबर होता रहता है। कोई भी समय परिवर्तन से शून्य नहीं होता। इस परिवर्तन परम्परा में प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादानकारण होता है तथा अन्य द्रव्य निमित्तकारण।

धर्मद्रव्य—

जीव और पुद्गलों की गति—क्रिया में धर्मद्रव्य साधारण उदासीन निमित्त होता है, प्रेरक कारण नहीं। जैसे चलने को तत्पर मछली के लिए जल कारण तो होता है, पर प्रेरणा नहीं करता।

अधर्मद्रव्य—

जीव और पुद्गलों की स्थिति में अधर्मद्रव्य साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं। जैसे ठहरनेवाले पथिकों को छाया।

आकाशद्रव्य—

समस्त चेतन—अचेतन द्रव्यों को आकाश द्रव्य स्थान देता है और अवगाहन का साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं। आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

कालद्रव्य—

समस्त द्रव्यों के वर्तना, परिणमन आदि का कालद्रव्य साधारण निमित्त है। पर्याय किसी न किसी क्षण में उत्पन्न होती तथा नष्ट होती है, अतः 'क्षण' समस्त द्रव्यों की पर्यायपरिणति में निमित्त होता है।

ये चार द्रव्य अरूपी हैं। धर्म, अधर्म और असंख्य कालाणु लोकाकाशव्यापी है और आकाश लोकालोकव्यापी अनन्त है।

संसारी जीव और पुद्गल द्रव्यों में विभाव परिणमन होता है। जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध होने के कारण जीव संसारी दशा में विभाव परिणमन करता है। इसका सम्बन्ध समाप्त होते ही मुक्तदशा में जीव शुद्ध परिणमन का अधिकारी हो जाता है।

इस तरह लोक में अनन्त 'सत्' स्वयं अपने स्वभाव के कारण परस्पर निमित्त नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते हैं। उनमें परस्पर कार्यकारण भाव भी बनते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री के अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। प्रत्येक 'सत्' अपने में परिपूर्ण और स्वतन्त्र है। वह अपने गुण और पर्याय का स्वामी है और है अपनी पर्यायों का आधार। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई नया परिणमन नहीं ला सकता। जैसी—जैसी सामग्री उपस्थित होती जाती है उसके कार्यकारण—नियम के अनुसार द्रव्य स्वयं वैसा परिणत होता जाता है। जिस समय कोई बाह्य सामग्री का प्रबल निमित्त नहीं मिलता उस समय भी द्रव्य अपने स्वभावानुसार सदृश या विसदृश परिणमन करता ही है। कोई सफेद कपड़ा एक दिन में मैला होता है, तो यह

नहीं मानना चाहिए। कि वह २३ घण्टा ५९ मिनिट तो सु रहा और आखिरी मिनिट में मैला हुआ है; किन्तु प्रतिक्षण उसमें सदृश या विसदृश परिवर्तन होते रहे हैं और २४ घण्टे के समान या असमान परिणमनों का औसत फल वह मैलापन है। इसी तरह मनुष्य में भी बचपन, जवानी और वृद्धावस्था आदि स्थूल परिणमन प्रतिक्षणभावाी असंख्य सूक्ष्म परिणमनों के फल हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन में उपादान होता है और सजातीय या विजातीय निमित्त के अनुसार प्रभावित होकर या प्रभावित करके परस्पर परिणमन में निमित्त बनता जाता है। यह निमित्तों का जुटाव कहीं परस्पर संयोग से होता है तो कहीं किसी पुरुष के प्रयत्न से। जैसे किसी हाइड्रोजन के स्कन्ध के पास हवा के झोंके से उड़कर ऑक्सिजन स्कन्ध पहुँच जाय तो दोनों का जलरूप परिणमन हो जायगा और यदि न पहुँचे तो दोनों का अपने–अपने रूप ही अद्वितीय परिणमन होता रहता है। यह भी सम्भव है कि कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में ऑक्सिजन में हाइड्रोजन मिलावे और इस तरह दोनों जल पर्याय बन जाय। अग्नि है, यदि उसमें गीला ईधन स्वयं या किसी पुरुष के प्रयत्न से पहुँच जाय तो धूम उत्पन्न हो जायगा, अन्यथा अग्नि धीरे–धीरे राख हो जायगी। कोई द्रव्य जबरदस्ती किसी दूसरे द्रव्य में असम्भवनीय परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर कसता। प्रयत्न करने पर भी अचेतन से चेतन नहीं बन सकता और न एक चेतन चेतनान्तर या अचेतन या अचेतन अचेतनान्तर ही हो सकता है। सब अपनी–अपनी पर्याय धारा में प्रवहमान हैं। वे प्रत्येक क्षण में नीवन–नवीन पर्यायों को धारण करते हुए स्वमग्न हैं। वे एक–दूसरे केसम्भवनीय परिणमन के प्रकट करने में निमित्त हो भी जाँय, पर असम्भव या असत् परिणमन उत्पन्न नहीं कर सकते। आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत सुन्दर लिखा है–

अण्णदविएण अण्णदव्वस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पजन्ते सहावेण।।''

–समयसार
गा. ३७२।

अर्थात्– एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई भी गुणोत्पाद नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने–अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

इस तरह प्रत्येक द्रव्य की परिपूर्ण अखण्डता और व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की चरम निष्ठापर सभी अपने–अपने परिणाम–चक्र के स्वामी हैं। कोई किसी के परिणमन का नियन्त्रक नहीं है और न किसी के इशारे पर इस लोक का निर्माण या प्रलय होता है। प्रत्येक 'सत्' का अपने गुण और पर्याय पर ही अधिकार है, अन्य द्रव्य का

परिणमन तदधीन नहीं है। इतनी स्पष्ट और असन्दिग्ध स्थिति प्रत्येक सत् की होने पर भी पुद्गलों में परस्पर तथा जीव और पुद्गल का परस्पर एवं संसारी जीवों का परस्पर प्रभाव डालनेवाला निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी है। जल यदि अग्नि पर गिर जाता है तो उसे बुझा देता है और यदि वह किसी बर्तन में अग्नि के ऊपर रखा जाता है तो अग्नि ही उसके सहज शीतल स्पर्श को बदलकर उसको उष्णस्पर्श स्वीकार करा देती है। परस्पर की पर्याय में इस तरह प्रभावक निमित्तता होने पर भी समस्त लोकरचना के लिए कोई नित्यसिद्ध ईश्वर निमित्त या उपादान होता हो, यह बात न केवल युक्तिविरुद्ध ही है; किन्तु द्रव्यों के निजस्वभाव के विपरीत भी है। कोई भी द्रव्य सदा अविकारी नित्य हो ही नहीं सकता। अनन्त पदार्थों की अनन्त पर्यायों पर नियन्त्रण रखने जैसा महाप्रभुत्व न केवल अवैज्ञानिक है; किन्तु पदार्थ–स्थिति के विरुद्ध भी है।

निमित्त और उपादान–

जो कारण स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाय वह उपादान कारण है और जो स्वयं कार्यरूप परिणत तो न हो, पर उस परिणमन में सहायता दे वह निमित्त या सहकारी कारण कहा जाता है। घट में मिट्टी उपादान कारण है; क्योंकि वह स्वयं घड़ा बनती है और कुम्हार निमित्त है; क्योंकि वह स्वयं घड़ा तो नहीं बनता, पर घड़ा बनने में सहायता देता है। प्रत्येक सत् या द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करते हैं, यह एक निरपवाद नियम है। सब प्रतिक्षण अपनी धारा में परिवर्तित होकर सदृश या विसदृश अवस्थाओं में बदलते जा रहे हैं। उस परिवर्तन–धारा में जो सामग्री उपस्थित होती है या कराई जाती है उसके बलाबल से परिवर्तन में होनेवाला प्रभाव तरतमभाव प्राप्त करता है। नदी के घाट पर यदि कोई व्यक्ति लाल रंग जल में घोल देता है तो उस लाल रंग की शक्ति के अनुसार आगे का प्रवाह अमुक हद तक लाल होता जाता है और यदि नीला रंग घोलता है तो नीला। यदि कोई दूसरी उल्लेख योग्य निमित्त सामग्री नहीं आती तो जो सामग्री है उसकी अनुकूलता के अनुसार उस धारा का स्वच्छ या अस्वच्छ या अर्धस्वच्छ परिणमन होता जाता है। यह निश्चित है कि लाल या नीला परिणमन, जो भी नदी की धारा में हुआ है, उसमें वहीं जलपुञ्ज उपादान है जो धारा बनकर बह रहा है; क्योंकि वही जल अपना पुराना रूप बदलकर लाल रंग या नीला रंग। यह एक स्थूल दृष्टान्त है– उपादान और निमित्त की स्थिति समझने के लिए।

मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और शुद्ध जीवद्रव्य के परिणमन सदा एक–से

होते हैं; उनमें बाहरी प्रभाव नहीं आता; क्योंकि इनमें वैभाविक शक्ति नहीं है। शुद्ध जीव में वैभाविक शक्ति का सदा स्वाभाविक परिणमन होता है। इनकी उपादानपरम्परा सुनिश्चित है और इन पर निमित्त का कोई बल या प्रभाव नहीं होता। अत: निमित्तों की चर्चा भी इनके सम्बन्ध में व्यर्थ है। ये सभी द्रव्य निष्क्रिय हैं। शुद्ध जीव में भी एक देश से दूसरे देश में प्राप्त होने रूप क्रिया नहीं होती। इनमें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक निज स्वभाव के कारण अपने अगुरुलुगुध के सद्भाव से सदा समान परिणमन होता रहता है। प्रश्न है सिर्फ संसारी जीव और पुद्गल द्रव्य का। इनमें वैभाविकी शक्ति है। अत: जिस प्रकार की सामग्री जिस समय उपस्थित होती है उसकी शक्ति की तरतमता से वैसे–वैसे उपादान बदलता जाता है। यद्यपि निमित्तभूत सामग्री किसी सर्वथा असद्भूत परिणमन को उस द्रव्य में नहीं लाती; किन्तु उस द्रव्य के जो शक्य–संभाव्य परिणमन हैं, उन्हीं में से उस पर्याय से होनेवाला अमुक परिणमन उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गल अणु में समान रूप सक पुद्गलजन्य यावत् परिणमनों की योग्यता है। प्रत्येक अणु अपनी स्कन्ध अवस्था में कपड़ा बन सकता है, सोना बन सकता है, घड़ा बन सकता है और पत्थर बन सकता है तथा तैल के आकार हो सकता है; परन्तु लाख प्रयत्न होने पर भी पत्थररूप पुद्गल से तैल नहीं निकल सकता, यद्यपि तैल पुद्गल की पर्याय की ही पर्याय है। मिट्टी से कपड़ा नहीं बन सकता, यद्यपि कपड़ा भी पुद्गल का ही एक विशेष परिणमन है। हाँ, जब पत्थर–स्कन्ध के पुद्गलाणु खिरकर मिट्टी में मिल जाँय और खाद बन कर तैल के पौधे में पहुँचकर तिल बीज बन जाँय तो उससे तैल निकल ही सकता है। इसी तरह मिट्टी कपास बनकर कपड़ा बन सकती है पर साक्षात् नहीं। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओं में समान शक्ति होने पर भी अमुक स्कन्धों से साक्षात् उन्हीं कार्यों का विकास हो सकता है जो उस पर्याय से शक्य हों और जिनकी निमित्त–सामग्री उपस्थित हो। अत: संसारी जीव और पुद्गलों की स्थिति उस मोम जैसी है जिसे सम्भव साँचों में ढाला जा सकता है और जो विभिन्न साँचों में ढलते जाते हैं।

निमित्तभूत पुद्गल या जीव परस्पर भी प्रभावित होकर विभिन्न परिणमनों के आधार बन जाते हैं। एक कच्चा घड़ा अग्नि में जब पकाया जाता है तब उसमें अनेक जगह के पुद्गल स्कन्धों में विभिन्न प्रकार से रूपादि का परिपाक होताह`। इसी तरह अग्नि में भी उसके सन्निधान से विचित्र परिणमन होते हैं। एक ही आम फल में परिपाक के अनुसार कहीं खट्टा और कहीं मीठा रस तथा कहीं मृदु और कहीं कठोर स्पर्श एवं कहीं पीत रूप और कहीं हरा रूप हमारे रोज के अनुभव की बात है। इससे उस आम्र स्कन्धगत परमाणुओं का

सम्मिलित स्थूल–आम्रपर्याय में शामिल रहने पर भी स्वतन्त्र अस्तित्व भी बराबर बना रहता है, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। उस स्कन्ध में सम्मिलित परमाणुओं का अपना–अपना स्वतन्त्र परिणमन बहुधा एक प्रकार का होता है। इसीलिए उस औसत परिणमन में 'आम्र' संज्ञा रख दी जाती है। जिस प्रकार अनेक पुद्‌गलाणु द्रव्य सम्मिलित होकर एक साधारण स्कन्ध पर्याय निर्माण कर लेते हैं फिर भी स्वतन्त्र हैं, उसी तरह संसारी जीवों मेंभी अविकसित दशा में अर्थात् निगोद की अवस्था में अनन्त जीवों के साधारण सदृश परिणमन की स्थिति हो जाती है और उनका उस समय साधारण आहार, साधारण श्वासोच्छवासा, साधारण जीवन और साधारण ही मरण होता है।[४६] एक के मनरे पर सब मर जाते हैं ओर एक के जीवित रहने पर भी सब जीवित रहते हैं। ऐसी प्रवाहपतित साधारण अवस्था होने पर उनका अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, प्रत्येक अपना विकास करने में स्वतन्त्र रहते हैं। उन्हीं की चेतना विकसित होकर कीड़ा–मकोड़ा, पशु–पक्षी, मनुष्य–देव आदि विविध विकास की श्रेणियों पर पहुँच जाती है। वही कर्मबन्धन काटकर सिद्ध भी हो जाती है।

सारांश यह कि प्रत्येक संसारी जीव और पुद्‌गलाणु में सभी सम्भाव्य द्रव्यपरिणमन साक्षात् या परम्परा से सामग्री की उपस्थिति में होते रहते हैं। ये कदाचित् समान होते हैं और कदाचित् असमान। असमानता का अर्थ इतनी असमानता नहीं है कि एक द्रव्य के परिणमन दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य रूप हो जाँय और अपनी पर्यायपरम्परा की धारा को जाँघ जाय। उन्हें अपने परिणामी स्वभाव के कारण उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक परिणमन करना ही होगा। किसी भी क्षणवे परिणामशून्य नहीं हो सकते। ''तद्‌भावः परिणामः'' (तत्त्वार्थसूत्र ५।४२)। उस सत् का उसी रूप में होना, अपनी सीमा को नहीं लाँघ कर होते रहना, प्रतिक्षण पर्यायरूप से प्रवहमान होना ही परिणाम है। न वह उपनिषद्वादियों की तरह कूटस्थ नित्य है और न बौद्ध के दीपनिर्वाणवादी पक्ष की तरह उच्छिन्न होनेवाला ही। सच पूछा जाय तो बुद्ध ने जिन दो अन्तों (छोरों) से डरकर आतमा का अशाश्वत और अनुच्छिन्न इस उभय प्रशतिषेध के सहारे कथन किया या उसे अव्याकृत कहा और जिस अव्याकृतता के कारण निर्वाण के सम्बन्ध में सन्तानोच्छेद का एक पक्ष उत्पन्न हुआ, उस सर्वथा उभय अन्त का तात्त्विक दृष्टि से विवेचन अनेकान्तद्रष्टा भगवान् महावीर ने किया और बताया कि प्रत्येक वस्तु अपने 'सत्' रूप को त्रिकाल में नहीं छोड़ती, इसलिए धारा की दृष्टि से वह शाश्वत है और चूँकि प्रतिक्षण की

---

46 ''साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं मणियं।।''
–गोम्मटसार जी. गा. १९१।

पर्याय उच्छिन्न होती जाती है, अतः उच्छिन्न भी है। वह न तो संतति–विच्छेद रूप से उच्छिन्न ही है और न सदा अविकारी कूटस्थ के अर्थ में शाश्वत ही।

विश्व की रचना या परिणमन के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से ही अनेक पक्ष देखे जाते हैं। श्वेताश्वततरोपनिषत्[४७] में ऐसे ही अनेक विचारों का निर्देश किया है। वहाँ प्रश्न है कि 'विश्व का क्या कारण है? कहाँ से हम सब उत्पन्न हुए हैं? किसके बल पर हम सब जीवित हैं? कहाँ हम स्थित हैं? अपने सुख और दुःख में किसके अधीन होकर वर्तते हैं? उत्तर दिया है कि 'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा (इच्छानुसार–अटकलपच्चू), पृथिव्यादिभूत और पुरूष ये जगत के कारण हैं, यह चिन्तनीय है। इन सबका संयोग भी कारण नहीं है। सुख–दुःख का हेतु होने से आत्मा भी जगत् को उत्पन्न करने में असमर्थ है।

कालवाद–

इस प्रश्नोत्तर में जिन कालादिवादों का उल्लेख है वे मत आज भी विविध रूप में वर्तमान हैं। महाभारत में[४८] (आदिपर्व १।२७२–२७६) कालवादियों का विस्तृत वर्णन है। उसमें बताया है कि जगत् के समस्त भाव और अभाव तथा सुख और दुःख कालमूलक हैं। काल ही समस्त भूतों की सृष्टि करताहै, संहार करता है और प्रलय को प्राप्त प्रजा का शमन करता है। संसार के समस्त शुभ अशुभ विकारों का काल ही उत्पादक है। काल ही प्रजाओं का संकोच और विस्तार करता है। सब सो जाँय पर काल जाग्रत रहता है। सभी भूतों का वही चालक है। अतीत, अनागत और वर्तमान यावत् भावविकारों का काल ही कारण है। इस तरह यह दुरतिक्रम महाकाल जगत् का आदिकारण है।

परन्तु एक अखण्ड नित्य और निरंश काल परस्पर विरोधी अनन्तपरिणमनों का क्रम से कारण कैसे हो सकता है? कालरूपी समर्थ कारण के सदा रहते हुए भी अमुक कार्य कदाचित् हो, कदाचित नहीं, यह नियत व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकती है? फिर काल अचेतन है, उसमें नियामकता स्वयं सम्भव नहींहो सकती। जहाँ तक काल का स्वभाव से परिवर्तन करनेवाले यावत् पदार्थों में साधारण उदासीन कारण होना है वहाँ तक कदाचित् वह उदासीन निमित्त बन भी जाय, पर

---

47 ''कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।'' –श्वेता. १।२।

48 ''कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।।'' –महाभा. १।२४८

प्रेरक निमित्त और एकमात्र निमित्त तो नहीं हो सकता। यह नियत कार्यकारणभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। काल की समानहेतुता होनेपर भी मिट्टी से ही घड़ा उत्पन्न हो और तन्तु से ही पअ, यह प्रतिनियत लोकव्यवस्था नहीं जम सकती। अत: प्रतिनियत कार्यों की उत्पत्ति के लिए प्रतिनियत उपादान तथा सबके स्वतन्त्र कार्यकारणभाव स्वीकार करना चाहिए।

स्वभाववाद–

स्वभाववादी का कहना है[४९] कि कांटों का नुकीलापन, मृग और पक्षियों के चित्र–विचित्र रंग, हंस का शुकलवर्ण होना, शुकों का हरापन और मयूर का चित्र विचित्र वर्ण का होना आदि सब स्वभावा से है। सृष्टि का नियन्त्रक कोई नहीं है। इस जगत् की विचित्रता का कोई दृष्ट हेतु उपलब्ध नहीं होता, अत: यह सब स्वाभाविक है, निर्हेतुक है। इसमें किसी का यत्न कार्य नहीं करता, किसी को इच्छा के अधीन यह नहीं है।

इस वाद में जहाँ तक किसी एक लोक–नियन्ता के नियन्त्रण का विरोध है वहाँ तक उसकी युक्तिसिद्धता है। पर यदि स्वभाववाद का अर्िा अहेतुकवाद है, तो यह सर्वथा बाधित है; क्योंकि जगत् में अनन्त कार्यों की अनन्त कारण सामग्री प्रतिनियत रूप से उपलब्ध होती है। प्रत्येक पदार्थ का अपने सम्भव कार्यों के करने का स्वभाव होने पर भी उसका विकास बिना सामग्री के नहीं हो सकता। मिट्टी के पिण्ड में घड़े को उत्पन्न करने का स्वभाव विद्यमान होने पर भी उसकी उत्पत्ति कीचड़ से होती है; अत: पंक आदि सामग्री की कमल की सुगन्ध और उसके मनोहर रूप के प्रति हेतुता स्वयं सिद्ध है, उनमें स्वभाव को ही मुख्यता देना उचित नहीं है। यह ठीक है कि किसान का पुरुषार्थ खेत जोतकर बीज बो देने तक है, आगे कोमल अंकुरा का निकलना तथा उससे क्रमश: वृक्ष के बन जानेरूप असंख्य कार्यपरम्परा में उसका साक्षात् कारणत्व नहीं है, यदि उसका उतना भी प्रथम–प्रयत्न नहीं होता, तो बीज का वह वृक्ष बनने का स्वभाव बोरे में पड़ा–पड़ा सड़ जाता। अत: प्रतिनियत कार्यों में यथासम्भव पुरुष का प्रयत्न भी कार्य करता है। साधारण रुई कपास के बीत से सफेद रंग की उत्पन्न होती है। पर यदि कुशल किसान लाख के रंग से कपास के बीजों को रंग देता है तो उससे रंगीन रुई भी उत्पन्न हो जाती है। आज वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्राणियोंकी नस्लपर अनेक प्रयोग करके उनके रंग, स्वभाव, ऊँचाई और वनज आदि में विविध प्रकार का विकास किया है। अत: ''न कामचारोऽस्ति कुत: प्रयत्न:?'' जैसे निराशावाद से स्वभाववाद का

---

49 उक्तं च–

आलम्बन लेना उचित नहीं है। हाँ, सकल जगत् के एक नियन्ता की इच्छा और प्रयत्न का यदि इस स्वभाववाद से विरोध किया जाता है तो उसके परिणाम से सहमति होने पर भी प्रक्रिया में अन्तर है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा असंख्य कार्यों के असंख्य कार्यकारणभाव निश्चित होते हैं और व्यतिरेक के कारण—सामग्री से असंख्य कार्य विभिन्न विचित्रताओं से युक्त होकर उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। अत: स्वभावनियतता होने पर भी कारणसामग्री और जगत् के नियत कार्यकारणभाव की ओर से आँख नहीं मूँदी जा सकती।

नियतिवाद—

नियतिवादियों का कहना है कि जिसका, जिस समय में, जहाँ जो होना है वह होता ही है। तीक्ष्ण शस्त्रघात होने पर भी यदि मरण नहीं होना है तो व्यक्ति जीवित हो बच जाता है और जब मरने की घड़ी आ जाती है तब बिना किसी कारण के ही जीवन की घड़ी बन्द हो जाती है।

> ''प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ:
> सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
> भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने
> नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाश:[५०]।।''

अर्थात— मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, पर जो नहीं होना है वह नहीं ही होगा और जो होना है उसे कोई रोक नहीं सकता। सब जीवों का सब कुछ नियत है, वह अपनी गति से होगा ही।[५१]

मज्झिमनिकाय (२।३।६) तथा बुद्धचर्या (सामञ्ञफलसुत्त, पृ. ४६२—६३) में अकर्मण्यतावादी मक्खलि गोशाल के नियति चक्र का इसप्रकार वर्णन मिलता है— 'प्राणियों के क्लेश के लिए कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतु, बिना प्रत्यय ही प्राणी क्लेश पाते हैं। प्राणियों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं है। बिना प्रत्यय ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। न आत्मकार है, नपरकार है, न पुरुषकार है, न

---

50 उद्धृत—सूत्रकृतांग टीका १।१।२। —लोकतत्त्व अ. २९।

51 ''तथा चोक्तम्''—
''नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधत:।।
यद्यदैव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षम:।।''
—नन्दीसू. टी.।

बल है, न वीर्य है, न पुरुष का पराक्रम है। सभी तत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव अवश हैं, बल–वीर्य–रहित हैं। नियति से निर्मित अवस्था में परिणत होकर छह ही अभिजातियों में सुख–दुख अनुभव करते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस शील–व्रत से, इस तप–ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व करुँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करुँगा। सुख और दुःख द्रोण से नपे हुए हैं। संसार में घटना–बढ़ना, उत्कर्ष–अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूत की गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगें।'' (दर्शन–दिग्दर्शन, पृ. ४८८–८९)। भगवतीसूत्र (१५वाँ शतक) में भी गोशालक को नियतिवादी ही बताया है। इसी नियतिवाद का रूप आज भी 'जो होना है वह होगा ही८ इस भवितव्यता के रूप में गहराई के साथ प्रचलित है।

नियतिवाद का एक आध्यात्मिक रूप और निकला है।[५२] इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय की पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभाव के कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान शक्ति से ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्त की उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलाने की आवश्यकता नहीं। इनके मत से पेट्रोल से मोटर नहीं चलती; किन्तु मोटर को चलना ही है और पेट्रोल को जलना ही है और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्य के शुद्ध स्वभाव के नाम पर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करत हैं। जिसको जहाँ जिस रूप में निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जाएगी। इस नियतिवाद से पदार्थों के स्वभाव और परिणमन का आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षण का अनन्तकाल तक का कार्यक्रम बना दिया गया है, जिस पर चलने को हर पदार्थ बाध्य है। किसी को कुछ नया करने का नहीं है। इस तरह नियतिवादियों के विविध रूप विभिन्न समयों में हुए हैं। इन्होंने सदा पुरुषार्थ को रेड़ मारी है और मनुष्य को भाग्य के चक्कर में डाला है।

किन्तु जब हम द्रव्य के स्वरूप और उसकी उपादान और निमित्तमूलक कार्यकारणव्यवस्था पर ध्यान देते हैं तो इसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। जगत् में समग्र भाव से कुछ बातें नियत हैं, जिनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। यथा–

---

[52] देखो, श्रीकानजीस्वामी लिखित 'वस्तुविज्ञानसार' आदि पुस्तकें।

१. यह नियत है कि जगत् में जितने सत् हैं, उनमें कोई नया 'सत्' उत्पन्न नहीं हो सकता और न मौजूदा 'सत्' का समूल विनाश ही हो सकता है। वे सत् हैं— अनन्त चेतन, अनन्त पुद्‌गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालद्रव्य। इनकी संख्या में न तो एक की वृद्धि हो सकती है और न एक की हानि ही। अनादिकाल से इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२. प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभाव के कारण पुरानी पर्याय को छोड़ता है, नई को ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्व की अनुवृत्ति रखता है। चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिवर्तन चक्र से अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थ के उत्पाद और व्ययरूप इस परिवर्तन को रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही करा सकता है। कि वह अपने सत्त्व को ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

३. कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूप से परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही। वह चेतन 'तच्चेतन' ही रहेगा और वह अचेतन 'तदचेतन' ही।

४. जिस प्रकार दो या अनेक अचेतन पुद्‌गलपरमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्धरूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं उस तरह दो चेतन मिलकर संयुक्त पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते, प्रत्येक चेतन का सदा स्वतन्त्र परिणमन रहेगा।

५. प्रत्येक द्रव्य की अपनी मूल द्रव्यशक्तियाँ और योग्यताएँ समानरूप से सुनिश्चित हैं, उसनमें हेरफेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तर से ऐसी नहीं आ सकती, जिसका अस्तित्व द्रव्य में न हो। इसी तरह कोई विद्यमान शक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।

६. द्रव्यगत शक्तियों के समान होने पर भी अमुक चेतन या अचेतन मं स्थूल पर्याय—सम्बन्धी अमुक योग्यताएँ भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है उसका विकास हो जाता है। जैसे कि प्रत्येक पुद्‌गलाणु में पुद्‌गल की सभी द्रव्य योग्यताएँ रहने पर भी मिट्टी के पुद्‌गल की पर्याएँ हैं। हाँ, कालान्तर में परम्परा से बदलते हुए मिट्टी के पुद्‌गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तु के पुद्‌गल भी घड़ा। तात्पर्य यह कि— संसारी जीव और पुद्‌गलों की मूलतः समान शक्तियाँ होने पर भी अमुक स्थूल पर्याय में अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं। शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलने पर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकतीं।

७. यह नियत है कि— उस द्रव्य की उस स्थूल पर्याय में जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमें से ही जिस—जिसकी अनुकूल सामग्री

मिलती है उस–उसका विकास होता है, शेष पर्याय योग्यताएँ द्रव्य की मूलयोग्यताओं की तरह सद्भाव में ही रहती हैं।

८. यह भी नियत है कि– अगले क्षण में जिस प्रकार की सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्य का परिणमन उससे प्रभावित होगा। सामग्री के अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं, उनके परिणमन भी इस द्रव्य से प्रभावित होंगे। जैसेकि ऑक्सिजन के परमाणु को यदि हॉइड्रोजन का निमित्त नहीं मिलता तो वह ऑक्सिजन के रूप में ही परिणत रह जाता है, पर यदि हॉइड्रोजन का निमित्त मिल जाता है तो दोनों का ही जल रूप से परिवर्तन हो जाता है। तात्पर्य यह कि पुद्गल और संसारी जीवों के परिणमन अपनी तत्कालीन सामग्री के अनुसार परस्पर प्रभावित होते रहते हैं; किन्तु केवल यही अनिश्चित है कि 'अगले क्षण में किसका क्या परिणाम होगा? कौन–सी पर्याय विकास को प्राप्त होगी? या किस प्रकार की सामग्री उपस्थित होगी?' यह तो परिस्थिति और योगायोग के ऊपर निर्भर करता है। जैसी सामग्री उपस्थित होगी उसके अनुसार परस्पर प्रभावित होकर तात्कालिक परिणमन होते जाएँगे। जैसे एक मिट्टी का पिण्ड है, उसमें घड़ा, सकोरा, प्याला आदि अनेक परिणमनों के विकास का अवसर है। अब कुम्हार की इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। उस समय न केवल मिट्टी के पिण्ड का ही परिणमन होगा; किन्तु चक्र और कुम्हार की भी उस सामग्री के अनुसार पर्याय उत्पन्न होगी। पदार्थों के कार्यकारणभाव नियत हैं। 'अमुक कारण सामग्री के होने पर अमुक कार्य उतपन्न होता है।' इसप्रकार के अनन्त कार्यकारणभाव उपादान और निमित्त की योग्यतानुसार निश्चित हैं। उनकी शक्ति के अनुसार उनमें तारतम्य भी होता रहता है। जैसे गीले ईंधन और अग्नि के संयोग से धुआँ होता है, यह एक साधारण कार्यकारणभाव है। अब गीले ईंधन और अग्नि की जितनी शक्ति होगी उसके अनुसार उसमें प्रचुरता या न्यूनता कमीबेशी हो सकती है। कोई मनुष्य बैठा हुआ है, उसके मन में कोई न कोई विचार प्रतिक्षण आना ही चाहिए। अब यदि वह सिनेमा देखने चला जाता है तो दूसरे ही भव्य भाव उसके मन में उत्पन्न होंगे। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परिणमन अपनी तत्कालीन उपादान–योग्यता और सामग्री के अनुसार विकसित होते हैं। यह समझना कि 'सबका भविष्य सुनिश्चित है और उस सुनिश्चित अनन्तकालीन कार्यक्रम पर सारा जगत् चल रहा है' महान् भ्रम है। इसप्रकार का नियतिवाद न केवल कर्तव्यभ्रष्ट ही करता है अपितु पुरुष के अनन्त बल, वीर्य, पराक्रम, उत्थान और पौरुष को ही समाप्त कर देता है। जब जगत् के प्रत्येक पदार्थ का अनन्तकालीन कार्यक्रम निश्चित है और सब अपनी नियति की पटरी पर ढँड़कते

जा रहे हैं, तब शास्त्रोपदेश, शिक्षा, दीक्षा और उन्नति के उपदेश तथा प्रेरणाएँ बेकार हैं। इस नियतिवाद में क्या सदाचार और क्या दुराचार? स्त्री और पुरुष का उस समय वैसा संयोग होना ही था। जिसने जिसकी हत्या की उसका उसके हाथ से वैसा होना ही था। जिसे हत्या के अपराध में पकड़ा जाता है, वह भी जब नियति के परवश था तब उसका स्वातन्त्र्य कहाँ है, जिससे उसे हत्या का कर्ता कहा जाय? यदि वह यह चाहता कि मैं हत्या न करुँ और न कर सकता' तो ही उसकी स्वतन्त्रता कही जा सकती है, पर उसके चाहने न चाहने का प्रश्न ही नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द का अकर्तृतववाद–

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में[५३] लिखा है कि 'कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई गुणोत्पाद नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ नया उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपने–अपने स्वभाव के अनुसार उत्पन्न रहते हैं।' इस स्वभाव का वर्णन करनेवाली गाथा को कुछ विद्वान् नियतिवाद के समर्थन में लगाते हैं। पर इस गाथा में सीधी बात तो यही बताई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयगा वह उपादान योगयता के अनुसार ही आयगा। कोई भी निमित्त उपादान द्रव्य में असद्भूत शक्ति का उत्पादक नहीं हो सकता, वह तो केवल सद्भूत शक्ति का संस्कारक या विकासक है। इसीलिए गाथा के द्वितीय धर्म में स्पष्ट लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्य में तत्काल में भी विकसित होनेवाले अनेक स्वभाव और शक्तियाँ हैं उनमें से अमुक स्वीाााव का प्रकट होना या परिणमन होना तत्कालीन सामग्री के ऊपर निर्भर करता है। भविष्य अनश्चित है। कुछ स्थूल कार्यकारणभाव बनाये जा सकते हैं, पर कारण का अवश्य ही कार्य उत्पन्न करना सामग्री की समग्रता और अविकलता पर निर्भर है।[५४] ''नावश्यकारणानि कार्यवन्ति भवन्ति''– कारण अवश्य ही कार्यवाले हों, यह नियम नहीं है। पर वे कारण अवश्य ही कार्य को उत्पन्न करेंगे, जिसकी समग्रता और निर्बाधता की गारन्टी हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जहाँ प्रत्येक पदार्थ के स्वभावानुसार परिणमन की चर्चा की है वहाँ द्रव्यों के परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव को भी स्वीकार किया है। यह पराकर्तृतव निमित्त के अहंकार की निवृत्ति के लिए है। कोई निमित्त इतना अहंकारी न हो जाय कि वह समझ बैठे कि मैंने इस द्रव्य का सब कुछ कर दिया है। वस्तुत: नया कुछ हुआ नहीं, जो उसमें था, उसका ही एक अंश प्रकट हुआ है।

---

53 देखो, गाथा., पृ. ८२ पर।

54 न्यायबि. टीका २।४९।

जीव और कर्मपुद्गल के परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव की चर्चा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं लिखा है कि–

> ''जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति।
> पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।
> ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
> अण्णोण्णणिमित्तं तु कत्ता आदा सएण भावेण।।
> पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।''
> –समयसार गा. ८६–८८।

अर्थात् जीव के भावों के निमित्त से पुद्गलों की कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागादिरूप से परिणमन करता है। इतना विशेष है कि जीव उपादान बनकर पुद्गल के गुण रूप से परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीव के गुणरूप से परिणत हो सकता है। केवल परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के अनुसार दोनों का परिणमन होता है। अत: आत्मा उपादान दृष्टि से अपने भावों का कर्ता है, वह पुद्गलकर्म के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप परिणमन का कर्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथन का फलितार्थ यह है कि परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी हर द्रव्य अपने गुण–पर्यायों का ही कर्ता हो सकता है। अध्यात्म में कर्तृतवव्यवहार उपादानमूलक है। अध्यात्म और व्यवहार का यह मूलभूत अन्तर है कि अध्यात्मक्षेत्र में पदार्थों के मूल स्वरूप और शक्तियों का विचार होता है तथा उसी के आधार से निरूपण होता है जब कि व्यवहार में परनिमित्त की प्रधानता से कथन किया जाता है। 'कुम्हार ने घड़ा बनाया' यह व्यवहार निमित्तमूलक है; क्योंकि 'घड़ा' पर्याय कुम्हार की नहीं है; किन्तु उन परमाणुओं की है जो घड़े के रूप में परिणत हुए हैं। कुम्हार ने घड़ा बनाते समय भी अपने योग हलनचलन और उपयोगरूप से ही परिणति की है। उसका सन्निधान पाकर मिट्टी के परमाणुओं ने घट पर्यायरूप से परिणति कर ली है। इस तरह हर द्रव्य अपने परिणमन का स्वयं उपादानमूलक कर्ता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस तरह निमित्तमूलक कर्तृतवव्यवहार को अध्यातम क्षेत्र में नहीं माना है। हर द्रव्य की प्रतिक्षण की अनन्त भविष्यतृकालीन पर्याएँ क्रम–क्रम से सुनिश्चित हैं। वह उनकी धारा को नहीं बदल सकता। वह केवल नियतिपिशाचिनी का क्रीड़ास्थल है और उसी के यन्त्र से अनन्तकाल तक परिचालित रहेगा। अगले क्षण को वह असत् से सत् या तमसे प्रकाश की ओर ले जाने में अपने उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम या पौरुष का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता। जब वह अपने भावों को ही नहीं बदल

सकता, तब स्वकर्तृतव कहाँ रहा? तथ्य यह है कि भविष्य के प्रत्येक क्षण का अमुक रूप होना अनिश्चित है। मात्र इतना निश्चित है कि कुछ–न–कुछ होगा अवश्य। द्रव्य शब्द स्वयं 'भव्य' होने योग्य, योग्यता और शक्ति का वाचक है। द्रव्य उस पिघले हुए मोम के समान है, जिसे किसी–न–किसी साँचे में ढलना है। यह निश्चित नहीं है कि वह किस साँचे में ढलेगा। जो आत्माएँ अबुद्ध और पुरुषार्थहीन हैं उनके सम्बन्ध में कदाचित् भविष्यवाणी की भी जा सकती हो कि अगले क्षण में इनका यह परिणमन होगा। पर सामग्री की पूर्णता और प्रकृति पर विजय करने को दृढ़प्रतिज्ञ आत्मा के सम्बन्ध में कोई भविष्य कहना असम्भव है। कारण कि भविष्य स्वयं अनिश्चित है। वह जैसा चाहे वैसा एक सीमा तक बनाया जा सकता है। प्रतिसमय विकसित होने के लिए सैकड़ों योग्यताएँ हैं। जिनकी सामग्री जब जिस रूप में मिल जाती है। या मिलाई जाती है वे योग्यताएँ कार्यरूप में परिणत हो जाती हैं। यद्यपि आत्मा की संसारी अवस्था में नितान्त परतन्त्र स्थिति है और वह एक प्रकार से यान्त्रारूढ की तरह परिणमन करता जाता है। फिर भी उस द्रव्य की निज सामर्थ्य यह है कि वह रुके और सोचे तथा अपने मार्ग को स्वयं मोड़कर उसे नई दिशा दे।

अतीत कार्य के बल पर आप नियति को जितना चाहे कुदाइए, पर भविष्य के सम्बन्ध में उसकी सीमा है। कोई भयंकर अनिष्ट यदि हो जाता है तो सन्तोष के लिए 'जो होना था सो हुआ' इसप्रकार नियति की संजीवनी उचित कार्य करती भी है। जो कार्य जब हो चुका उसे नियत कहने में कोई शाब्दिक और आर्थिक विरोध नहीं है; किन्तु भविष्य के लिए नियत (done) कहना अर्थविरुद्ध तो है ही, शब्दविरुद्ध भी है। भविष्य (to be) तो नियंस्यत् या निर्यस्यमान (will be done) होगा न कि नियत (done)। अतीत को नियत (done) कहिये, वर्तमान को नियम्यमान (being) और भविष्य को नियंस्यत् (will be done)।

अध्यात्म की अकर्तृतव भावना का भावनीय अर्थ यह है कि निमित्तभूत व्यक्ति को अनुचित अहंकार उत्पन्न न हो। एक अध्यापक कक्षा में अनेक छात्रों को पढ़ाता है। अध्यापक के शब्द सब छात्रों के कान में टकराते हैं, पर विकास एक छात्र का प्रथम श्रेणी का, दूसरे का द्वितीय श्रेणी का तथा तीसरे का तृतीय श्रेण का होता है। अतः अध्यापक यदि निमित्त होने के कारण यह अहंकार करे कि मैंने इस लड़के में ज्ञान उत्पन्न कर दिया, तो वह एक अंश में व्यर्थ ही है; क्योंकि यदि अध्यापक के शब्दों में ज्ञान के उत्पन्न करने की क्षमता थी, तो सबमें एका–सा ज्ञान क्यों नहीं हुआ? और शब्द तो दिवालों में भी टकराये होंगे, उनमें ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? अतः गुरु को

'कर्तृतव' का दुरहंकार उत्पन्न न होने के लिए उस अकर्तृत्व भावना का उपयोग है। इस अकर्तृतव की सीमा पराकर्तृतव है; स्वाकर्तृतव नहीं। पर नियतिवाद तो स्वकर्तृत्व को ही समाप्त कर देता है; क्योंकि इसमें सब कुछ नियत है।

पुण्य और पाप क्या?

जब प्रत्येक जीव का प्रतिसमय का कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नहीं है तब क्या पुण्य और क्या पाप? क्या सदाचार और क्या दुराचार? जब प्रत्येक घटना पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार घट रही है तब किसी को क्या दोष दिया जाय? किसी स्त्री का शील भ्रष्ट हुआ। इसमें जो स्त्री, पुरुष और शय्या आदि द्रव्य सम्बद्ध हैं, जब सबकी पर्याएँ नियत हैं तब पुरुष को क्यों पकड़ा जाय? स्त्री का परिणमन वैसा होना था, पुरुष का वैसा और बिस्तर का भी वैसा। जब सबके नियत परिणमनों का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था, तब किसी को दुराचारी या गुण्डा क्यों कहा जाय? यदि प्रत्येक द्रव्य का भविष्य के प्रत्येक क्षण का अनन्तकालीन कार्यक्रम नियत है, भले ही वह हमें मालूम न हो, तब इस नितान्त परतन्त्र स्थिति में व्यक्ति का स्वपुरुषार्थ कहाँ रहा?

गोड से हत्यारा क्यों?

नाथूराम गोडसे ने महात्मा जी को गोली मारी तो क्यों नाथूराम को हत्यारा कहा जाय? नाथूराम का उस समय वैसा ही परिणमन होना था, महात्मा जी का वैसा ही होना था और गोली और पिस्तौल का भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नामक घटना नाथूराम, महात्मा जी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थों के नियत कार्यक्रम का परिणाम है। इस घटना से सम्बद्ध सभी पदार्थों के परिणमन नियत थे, सब परवश थे। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्मा जी के प्राणवियोग में निमित्त होने से हत्यारा है; तो महात्मा जी नाथूराम के गोली चलाने में निमित्त होने से अपराधी क्यों नहीं? यदि नियतिदास नाथूराम दोषी है तो नियति–परवश माहत्मा जी क्यों नहीं हम तो यह कहते हैं कि पिस्तौल से गोली निकलनी थी और गोली को छाती में छिदना था, इसलिए नाथूराम और महात्मा जी की उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिसतौल के उस अवश्यमीावी परिणमन का एक निमित्त था, जिसे नियतिचक्र के कारण वहाँ पहुँचना पड़ा। जिन पदार्थों की नियति का परिणाम हत्या नाम की घटना है, वे सब पदार्थ समान रूप से नियतियन्त्र से नियन्त्रित हो जब उसमें जुटे हैं, तब उनमें से क्यों मात्र नाथूराम को पकड़ा जाता है? इतना ही नहीं, हम सबको उस दिन ऐस खबर सुननी थी और श्री

आत्माचरण को जज बनना था, इसलिए यह सब हुआ। अत: हम सब और आत्माचरण भी उस घटना के नियत निमित्त हैं। अत: इस नियतिवाद में न कोइ्र पुण्य है, न पाप, न सदाचार और न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नहीं, तब क्या सदाचार और क्या दुराचार? गोडसे को नियतिवाद के नाम पर ही अपना बचाव करना चाहिए था और जज को ही पकड़ना चाहिए था कि 'चूँकि तुम्हें हमारे मुकद्दमे का जज बनना था, इसलिए यह सब नियतिचक्र घूमा और हम सब उसमें फँसे और यदि सबको बचाना है, तो पिस्तौल के भविष्य पर सब दोष थोपा जा सकता है कि 'न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता, तो न वह गोडसे के हाथ में आती और न गाँधी जी की छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौल के नियत परिणमन का है।' तात्पर्य यह कि इस नियतिवाद में सब माफ है, व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन–उन पदार्थों के नियत परिणाम हैं, इसमें व्यक्तिविशेष का कोई दोष नहीं।

एक ही प्रश्न एक उत्तर–

इस नियतिवाद में एक ही प्रश्न है और एक ही उत्तर। 'ऐसा क्यों हुआ', 'ऐसा होना ही था' इसप्रकार का एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर है। शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, प्रयत्न और पुरुषार्थ, सबका उत्तर भवितव्यता। न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। अग्नि से धुआ क्यों हुआ? ऐसा होना ही था। फिर गीला ईंधन न रहने पर धुआँ क्यों नहीं हुआ? ऐसा ही होना था। जगतृ में पदार्थों के संयोग–वियोग से विज्ञानसम्मत अनन्त कार्यकारणभाव हैं। अपनी उपादान–योग्यता और निमित्त–सामग्री के सन्तुलन में परस्पर प्रभावित, अप्रभावित या अर्धप्रभावित कार्य उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरे के परिणमन के निमित्त भी बनते हैं। जैसे एक घड़ा उत्पन्न हो रहा है। इसमें मिट्टी, कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक द्रव्य कारण सामग्री में सम्मिलित हैं। उस समय न केवल घड़ा ही उत्पन्न हुआ है; किन्तु कुम्हार की भी कोई पर्याय, चक्र की अमुक पर्याय और चीवर की भी अमुक पर्याय उत्पन्न हुई है। अत: उस समय उत्पन्न होनेवाली अनेक पर्यायों में अपने–अपने द्रव्य उपादान हैं और बाकी एक दूसरे के प्रति निमित्त हैं। इसी तरह जगत् में जो अनन्त कार्य उत्पन्न हो रहे उनमें तत्तत् द्रव्य, जो परिणमन करते हैं, उपादान बनते हैं और शेष निमित्त होते हैं– कोई साक्षात् और कोई परम्परा से, कोई प्रेरक और कोई अप्रेरक, कोई प्रभावक और कोई अप्रभावक। यह तो योगायोग की बात है। जिस प्रकार की बाह्य और अभ्यन्तर कारणसामग्री जुट जाती है वैसा ही कार्य हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है–

''बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत: स्वभाव:।''

—

बृहत्स्व.
श्लो. ६०।

अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर—निमित्त और उपादान दोनों कारणों की समग्रता—पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है।

ऐसी स्थिति में नियतिवाद का आश्रय लेकर भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात कहना अनुभवसिद्ध कार्यकारणभाव की व्यवस्था के सर्वथा विपरीत है। यह ठीक है। कि नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है और इसप्रकार के नियतत्व में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। पर इस कार्यकारणभाव की प्रधानता स्वीकार करने पर नियतिवाद अपने नियतरूप में नहीं रह सकता।

कारण हेतु—

जैनदर्शन में कारण को भी हेतु मानकर उसके द्वारा अविनाभावी कार्य का ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् कारण को देखकर कार्यकारणभाव की नियतता के बल पर उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य का भी ज्ञान करना अनुमान—प्रणाली में स्वीकृत है। हाँ, उसके साथ दो शर्तें लगी हैं— 'यदि कारण—सामग्री की पूर्णता हो और कोई प्रतिबन्धक कारण न आवें, तो अवश्य ही कारण काय्र को उत्पन्न करेगा।' यदि समस्त पदार्थों का सब कुछ नियत हो तो किसी नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति का उदाहरण भी दिया जा सकता था; पर सामान्यतया कारणसामग्री की पूर्णता और अप्रतिबन्ध का भरोसा इसलिए नहीं दिया जा सकता कि भविष्य सुनिश्चित नहीं है। इसीलिए इस बात की सतर्कता रखी जाती है कि कारण सामग्री में कोई बाधा उत्पन्न न हो। आज के यन्त्रयुग में यद्यपि बड़े—बड़े यन्त्र अपने निश्चित उत्पादन के आँकड़ों का खाना पूरा कर देते हैं पर उनके कार्यकाल में बड़ी सावधानी और सतर्कता बरती जाती है। फिर भी कभी—कभी गड़बड़ हो जती है। बाधा आने की और सामग्री की न्यूनता की सम्भावना जब है तब निश्चित कारण से निश्चित कार्य की उत्पत्ति संदिग्धकोटि में जा पहुँचती है। तात्पर्य यह कि पुरुष का प्रयत्न एक हद तक भविष्य की रेखा को बाँधता भी है, तो भी भविष्य अनुमानित और सम्भावित ही रहता है।

नियति एक भावना है—

इस नियतिवाद का उपयोग किसी घटना के घट जाने पर साँस लेने के लिए और मन को समझान के लिए तथा आगे फिर कमर कसकर तैयार हो जाने के लिए किया जा सकता है और लोग करते भी हैं, पर इतने मात्र से उसके आधार से वस्तुव्यवस्था नहीं की जा सकती। वस्तुव्यवस्था तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप और परिणमन पर ही निर्भर करती है। भावनाएँ चित्त के समाधान के लिए भायी जाती हैं और उनसे वह उद्देश्य सिद्ध हो भी जाता है; पर तत्त्वव्यवस्था के क्षेत्र में भावना का उपयोग नहीं है। वहाँ तो वैज्ञानिक विश्लेषण और तन्मूलक कार्यकारणभाव की परम्परा का ही कार्य है उसी के बल पर पदार्थ वास्तविक स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है।

कर्मवाद–

जगत् के प्रत्येक कार्य में कर्म कारण हैं। ईश्वर भी कर्म के अनुसार ही फल देता है। बिना कर्म के पत्ता भी नहीं हिलता। यह कर्मवाद है, जो ईश्वर के ऊपर आनेवाले विषमता के दोष को अपने ऊपर ले लेता है और निरीश्वरवादियों का ईश्वर बन बैठा है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया कर्म से होती है। जैसा जिसने कर्म बाँधा है उसके विपाक के अनुसार वैसी–वैसी उसकी मति और परिणति स्वयं होती जाती है। पुराना कर्म पकता है और उसी के अनुसार नया बँधता जाता है। यह कर्म का चक्कर अनादि से है। वैशेषिक के मत से कर्म अर्थात् अदृष्ट जगत् के प्रत्येक अणु परमाणु की क्रिया का कारण होता है। बिना अदृष्ट के परमाणु भी नहीं हिलता। अग्नि का जलना, वायु का चलना, अणु तथा मन की क्रिया सभी कुछ उपभोक्ताओं के अदृष्ट से होते हैं। एक कपड़ा, जो अमेरिका में बन रहा है, उसके परमाणुओं में क्रिया भी उस कपड़े के पहिननेवाले के अदृष्ट से ही हुई है। कर्मवासना, संस्कार और अदृष्ट आदि आत्मा पर एक संस्कार छोड़ती है जो दीर्घकाल तक बना रहता है और अपने परिपाक काल में फल देता है। जब वह आत्मा समस्त संस्कारों से रहित हो वासनाशून्य हो जाता है तब वह मुक्त कहलाता है। एक बार मुक्त हो जाने के बाद पुनः कर्म संस्कार आत्मा पर नहीं पड़ते।

इस कर्मवाद का मूल प्रयोजन है जगत् की दृश्यमान विषमता की समस्या को सुलझाना। जगत् की विचित्रता का समाधान कर्म के माने बिना हो नहीं सकता। आत्मा अपने पूर्वकृत या इहकृत कर्मों के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिसका असर बाह्यसामग्री पर भी पड़ता है। उसके अनुसार उसका परिणमन होता है। यह एक विचित्र बात है कि पाँच वर्ष पहले के बने खिलौनों में अभी उत्पन्न भी नहीं हुए बच्चे का अदृष्ट कारण हो। यह तो कदाचित् समझ में भी आ जाय कि कुम्हार घड़ा बनाता है और उसे

बेचकर वह अपनी आजीविका का चलाता है, अत: उसके निर्माण में कुम्हार का अदृष्ट कारण भी हो, पर उस व्यक्ति के अदृष्ट को घड़े की उत्पत्ति में कारण मानना, जो उसे खरीदकर उपयोग में लायगा, न तो युक्तिसिद्ध ही है और न अनुभवगम्य ही। फिर जगत् में प्रतिक्षण अनन्त ही कार्य ऐसे उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं, जो किसी के उपयोग में नही आते। पर भौतिक सामग्री के आधार से वे बराबर परस्पर परिणत होते जाते हैं।

कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट को कारण मानने के पीछे यह ईश्वरवाद छिपा हुआ है कि जगत् के प्रत्येक अणु–परमाणु की क्रिया ईश्वर की प्रेरणा से होती है, बिना उसकी इच्छा के पत्ता भी नहीं हिलता और संसार की विषमता और निर्दयतापूर्ण परिस्थितियों के समाधान के लिए प्राणियों के अदृष्ट की आड़ लेना, जब आवश्यक हो गया तब 'अर्थात्' ही अदृष्ट को जन्यमात्र की कारणकोटि में स्थान मिल गया; क्योंकि कोई भी कार्य किसी न किसी के साक्षात् या परम्परा से उपयोग में आता ही है और विषमता और निर्दयतापूर्ण स्थिति का घटक होता ही है। जगत् में परमाणुओं के परस्पर संयोग–विभाग से बड़े–बड़े पहाड़, नदी, नाले, जंगल और विभिन्न प्राकृतिक दृश्य बने हैं। उनमें भी अदृष्ट को और उसके अधिष्ठाता किसी चेतन को कारण मानना वस्तुत: अदृष्ट कल्पना ही है। 'दृष्टकारणवैफल्ये अदृष्टपरिकल्पनोपपत्ते:– जब दृष्टकारण की संगति न बैठे तो अदृष्ट हेतु की कल्पना की जाती है', यह दर्शनशास्त्र का न्याय है। दो मनुष्य समान परिस्थितियों में उद्यम और यत्न करते हैं पर एक की कार्य की सिद्धि देखी जाती है और दूसरे को सिद्धि तो दूर रही, उल्टा नुकसान होता है, ऐसी दशा में 'कारणसामग्री' की कमी या विपरीतता की खोज न करके किसी अदृष्ट को कारण मानना दर्शनशास्त्र को युक्ति के क्षेत्र से बाहर कर मात्र कल्पनालोक में पहुँचा देना है। कोई भी कार्य अपनी कारण सामग्री की पूर्णता और प्रतिबनध की शून्यता पर निर्भर करता है। वह कारण सामग्री जिस प्रकार की सिद्धि या असिद्धि के लिए अनुकूल बैठती है वैसा कार्य अवश्य ही उत्पन्न होता है। जगत् के विभिन्न कार्यकारणभाव सुनिश्चित हैं। द्रव्यों में प्रतिक्षण अपनी पर्याय बदलने की योग्यता स्वयं है। उपादान और निमित्त उभयसामग्री जिस प्रकार की पर्याय बदलने की योग्यता स्वयं है। उपादान और निमित्त उभयसामग्री जिस प्रकार की पर्याय के लिए अनुकूल होती है वैसी ही पर्याय उत्पन्न हो जाती है। 'कर्म या अदृष्ट जगत् में उत्पन्न होनेवाले यावत् कार्यों के कारण होते हैं' इस कल्पना के कारण ही अदृष्ट का पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आत्मा को व्यापक मानना पड़ा।

कर्म क्या है?

फिर कर्म क्या है? और उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध कैसे होता है? उसके परिपाक की क्या सीमा है? इत्यादि प्रश्न हमारे हैं? वर्तमान में आत्मा की स्थिति अर्धभौतिक पाती। जैसी हो रही है।[५५] उसका ज्ञानविकास, क्रोधादिविकार, इच्छा और संकल्प आदि सभी, बहुत कुछ शरीर, मस्तिष्क और ह्मदय की गति पर निर्भर करते हैं मस्तिष्क की एक कील ढीली हुई कि सारी स्मरण—शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। शरीर के प्रकृतिस्थ रहने से ही आत्मा के गुणों का विकास और उनका अपनी उपयुक्त अवस्था में संचालित रहना बनता है। बिना इन्द्रिय आदि उपकरणों के आत्मा की ज्ञानशक्ति प्रकट ही नहीं हो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, विचार, कला, सौन्दर्याभिव्यक्ति और संगीत आदि ध सम्बन्ाी प्रतिभाओं का विकास भीतरी और बाहरी दोनों उपकरणों की अपेक्षा रखता है।

आत्मा के साथ अनादिकाल से कर्मपुद्गल (कार्मण शरीर) का सम्बन्ध हे,जिसके कारण वह अपने पूर्ण चैतन्यरूप में प्रकाशमान नहीं हो पाता। यह शंका स्वाभाविक है कि 'क्यों चेतन के साथ अचेतन का सम्पर्क हुआ? दो विरोधी द्रव्यों का सम्बन्ध हुआ ही क्यों? हो भी गया तो एक द्रव्य दूसरे विजातीय द्रव्य पर प्रभाव क्यों डालता हे?' इसका उत्तर इस छोर से नहीं दिया जा सकता; किन्तु दूसरे छोर से दिया जा सकता है— आत्मा अपने पुरुषार्थ और साधनाओं से क्रमश: वासनाओं और वासना से उद्बोधक कर्मपुद्गलों से मुक्ति पा जाता है और एक बार शुद्ध (मुक्त) होने के बाद उसे पुन: कर्मबन्धन नहीं होता, अत: हम समझते हैं कि दोनों पृथक् द्रव्य हैं। एक बार इस कार्मण शरीर से संयुक्त आत्मा का चक्र चला तो फिर कार्यकारणव्यवस्था जमती जाती है। आत्मा एक संकोच—विकासशील सिकुड़ने और फेलनेवाला द्रव्य है जो अपने संस्कारों के परिपाकानुसार छोटे—बड़े स्थूल शरीर के आकार हो जाता है। देहात्मवाद (जडवाद) की बजाय देहप्रमाण आत्मा मानने से सब समस्याएँ हल हो जाती हैं।

---

[55] 'नवनीत' जनवरी ५३ के अंक में 'साइंसवीकली' से एक 'टुथड्रग' का वर्णन दिया है। जिसका इंजेक्शन देने से मनुष्य साधारणतया सतय बात बता देता है। 'नवनीत' नवम्बर ५२ में बताया है कि 'सोडियम पेटोथल' का इंजेक्शन देने पर भयंकर अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता े। इन इंजेक्शनोंके के प्रभाव से मनुष्य की उन ग्रन्थियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है जिनके कारण उसकी झूठबोलने की प्रवृत्ति होती है।

अगस्त ५२ के 'नवनीत' में साइन्स डाइजेस्ट के एक लेख का उद्धरण हे, जिसमें 'क्रोमोसोम' में तब्दीली कर देने से १२ पौण्ड वनज का खरगोश उत्पन्न किया गया है। ह्दय और आँखें बदलने के भी प्रयोग विज्ञान ने कर दिखाये हैं।

आत्मा देहप्रमाण भी अपने कर्मसंस्कारों के कारण ही होता है। कर्मसंस्कार छूअ जाने के बाद उसके प्रसार का कोई कारण नहीं रह जाता; अतः वह अपने अन्तिम शरीर के आकार बना रहता है, न सिकुड़ता है और न फेलता है। ऐसे संकोचविकासशील शरीरप्रमाण रहनेवाले, अनादि कार्मण शरीर से संयुक्त, अर्धभौतिक आत्मा की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विचार और वचनव्यवहार अपना एक संस्कार तो आत्मा और उसके अनादिसाथी कार्मण शरीर पर डालते हैं। संस्कार तो आत्मा पर पड़ता है, पर उस संस्कार का प्रतिनिधि द्रव्य उस कार्मण शरीर से बँध जाता है जिसके परिपाकानुसार आत्मा में वही भाव और विचार जाग्रत होते हैं और उसी का असर बाह्य सामग्री पर भी पड़ता है, जो हित ओर अहित में साधक बन जाती है। जैसे कोई छात्र किसी दूसरे छात्र की पुस्तक चुराता है या उसकी लालटेन इस अभिप्राय से नष्ट करता है कि 'वह पढ़ने न पावे' तो वह इस ज्ञानविरोधक क्रिया तथा विचार से अपने आत्मा में एक प्रकार का विशिष्ट कुसंस्कार डालता है। उसी समय इस संस्कार का मूर्तरूप पुद्गलद्रव्य आत्मा के चिरसंगी कार्मणशरीर से बँध जाता है। जब उस संस्कार का परिपाक होता है तो उस बँधे हुए कर्मद्रव्य के उदय से आत्मा स्वयं उस हीन ओर अज्ञान अवस्था में पहुँच जाता है जिससे उसका झुकाव ज्ञानविकास की ओर नहीं हो पाता। वह लाख प्रयत्न करे, पर अपने उस कुसंस्कार के फलस्वरूप ज्ञान से वञ्चित हो ही जाता है। यही कहलाता है 'जैसी करनी तैसी भरनी।' वे विचार और क्रिया न केवल आत्मा पर ही असर डालते हैं; किन्तु आसपास के वातावरण पर भी अपना तीव्र, मन्द और मध्यम असर छोड़ते हैं। शरीर, मस्तिष्क और हृदय पर तो उसका असर निराला ही होता है। इस तरह प्रतिक्षणवर्ती विचार और क्रियाएँ यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म के परिपाक से उत्पन्न हुई हैं पर उनके उत्पन्न होते ही जो आत्मा की नयी आसक्ति, अनासक्ति, राग, द्वेष और तृष्णा आदि रूप परिणति होती है ठीक उसी के अनुसार नये–नये संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल सम्बन्धित होते जाते हैं और पुराने झड़ते जाते हैं। इस तरह यह कर्मबन्धन का सिलसिला तब तक बराबर चालू रहता है जब तक आत्मा सभी पुरानी वासनाओं से शून्य होकर पूर्ण वीतराग या सिद्ध नहीं हो जाता।

कर्मविपाक–

विचारणीय बात यह है कि कर्म पुद्गलों का विपाक कैसे होता है? क्या कर्मपुद्गल स्वयमेव किसी सामग्री को जुटा लेते हैं और अपने आप फल दे देते हैं या इसमें कुछ पुरुषार्थ की भी अपेक्षा है? अपने विचार, वचनव्यवहार और क्रियाएँ अन्ततः संस्कार तो आत्मा में ही उत्पन्न करती हैं और उन संस्कारों को प्रबोध देनेवाले पुद्गल कार्मणशरीर से बँधते हैं। ये पुद्गल शरीर के बार से भी खिंचते हैं और शरीर के भीतर से भी। उम्मीदवार कर्मयोग्य पुद्गलों में से कर्म

बन जाते हैं। कर्म के लिए एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म और असरकार पुद्‌गलद्रव्यों की अपेक्षा होती है। मन, वचन और काय की प्रत्येक क्रिया, जिसे योग कहते हैं, परमाणुओं में हलन–चलन उत्पन्न करती है और उसके योग्य परमाणुओं को बाहर भीतर से खींचती जाती है। यों तो शरीर स्वयं एक महान्‌ पुद्‌गल पिण्ड है। इसमें असंख्य परमाणु श्वासोच्छ्‌वास तथा अन्य प्रकार से शरीर में आत–जाते रहते हैं। इन्हीं में से छटकर कर्म बनते जाते हैं।

जब कर्म के परिपाक का समय आता है, जिसे उदयकाल कहते हैं, तब उसके उदयकाल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री उपस्थित होती है वैसा उसका तीव्र, मध्यम और मन्द फल होता है। नरक और स्वर्ग में औसतन असाता और साता की सामग्री निश्चित है। अतः वहाँ क्रमशः असाता और साता का उदय अपना फलोदय करता है और साता और असाता प्रदेशोदय के रूप में अर्थात्‌ फलदेनेवाली सामग्री की उपस्थिति न होने से बिना फल दिये ही झड़ जाते हैं। जीव में साता और असाता दोनों बँधी हैं; किन्तु किसी ने अपने पुरुषार्थ से साता की प्रचुर सामग्री उपस्थित की है तथा अपने चित्त को सुसमाहित किया है तो उसको आनेवाला असाता का उदय फलविपाकी न होकर प्रदेशविपाकी ही होगा। स्वर्ग में असाता के उदय की बाह्य सामग्री न होने से असाता का प्रदेशोदय या उसका साता रूप में परिणमन होना माना जाता है। इसी तरह नरक में केवल असाता की सामग्री होने से वहाँ साता का या तो प्रदेशोदय ही होगा या उसका असातारूप से परिणमन हो जायगा।

जगत्‌ के समस्त पदार्थ अपने–अपने उपादान और निमित्त के सुनिश्चित कार्यकारणभाव के अनुसार उत्पन्न होते हैं और सामग्री के अनुसार जुटते और बिखरते हैं। अनेक सामाजिक और राजनैतिक मर्यादाएँ साता और असाता के साधनों की व्यवस्थाएँ बनाती हैं। पहले व्यक्तिगत सम्पत्ति और साम्राज्य का युग था तो उसमें उच्चतम पद पाने में पुराने साता के संस्कार कारण होते थे, तो अब प्रजातन्त्र के युग में जो भी उच्चतम पद हैं, उन्हें पाने में संस्कार सहायक होंगे।

जगत्‌ के प्रत्येक कार्य में किसी न किसी के अदृष्ट को निमित्त मानना न तर्कसिद्ध है और न अनुभवगम्य ही। इस तरह यदि परम्परा से कारणों की गिनती की जाय तो कोई व्यवस्था ही नही रहेगी। कल्पना कीजिए– आज कोई व्यक्ति नरक में पड़ा हुआ असाता के उदय में दुःख भोग रहा है और एक दरी किसी कारखाने में बन रही है जो २० वर्ष बाद उसके उपयोग में आयगी और साता उत्पन्न करेगी तो आज उस दरी में उस नरकस्थित प्राणी के अदृष्ट को कारण मानने

में बड़ी विसंगति उत्पन्न होती है। अत: समस्त जगत् के पदार्थ अपने–अपने साक्षात् उपादान और निमित्तों से उत्पन्न होते हैं और यथासम्भव सामग्री के अन्तर्गत होकर प्राणियों के सुख और दु:ख में तत्काल निमित्तता पाते रहते हैं। उनकी उत्पत्ति में किसी न किसी के अदृष्ट को जोड़ने की न तो आवश्यकता ही है और न उपयोगिता ही और न कार्यकारणव्यवस्था का बल ही उसे प्राप्त है।

कर्मों का फल देना, फलकाल की सामग्री के ऊपर निर्भर करता है। जैसे एक व्यक्ति के असाता का उदय आता है, पर वह किसी साधु के सत्संग में बैठा हुआ तटस्थभाव से जगत् के स्वरूप को समझकर स्वात्मानन्द में मग्न हो रहा है। उस समय आनेवाली असाता का उदय उस व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकता; किन्तु वह बाह्य असाता की सामग्री न होने से बिना फल दिये ही झड़ जायगा। कर्म अर्थात् पुराने संस्कार। वे संस्कार अबुद्ध व्यक्ति के ऊपर ही अपना कुत्सित प्रभाव डाल सकते हैं, ज्ञानी के ऊपर नहीं। यह तो बलाबल का प्रश्न है। यदि जाग्रत नहीं है तो वे कुसंस्कार ही फूलते–फलते जाँएगें। आत्मा जब से चाहे तब से नया कदम उठा सकता है और उसी समय से नवनिर्माण की धारा प्रारम्भ कर सकता है। इसमें न किसी ईश्वर की प्रेरणा की आवश्यकता है और न ''कर्मगति टाली नाहि टलै'' के अटल नियम की अनिवार्यता ही है।

जगत् का अणु–परमाणु ही नहीं; किन्तु चेतन–आत्माएँ भी प्रतिक्षण अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य स्वभाव के कारण अविराम गति से पूर्व पर्याय को छोड़ उत्तर पर्याय को धारण करती जा रही हैं। जिस क्षण जैसी बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री जुटती जाती है उसी के अनुसार उस क्षण का परिणमन होता जाता है। हमें जो स्थूल परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी असंख्य सूक्ष्म परिणमनों का जोड़ और औसत है। इसी में पुराने संस्कारों की कारणसामग्री के अनुसार सुगति या दुर्गति होती जाती है। इसी कारण सामग्री के जोड़–तोड़ और तरतमता पर ही परिणमन का प्रकार निश्चित होता है। वस्तु के कीाी सदृश, कभी विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश ओर असदृश आदि विविध प्रकार के परिणमन हमारी दृष्टि से बराबर गुजरते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य अपने कार्यकारणभाव को उल्लंघन करके उत्पन्न नहीं हो सकता। द्रव्य में सैकड़ों ही योग्यताएँ विकसित होने के प्रतिसमय तैयार बैठी हैं, उनमेंसे उपयुक्त योग्यता का उपयुक्त सयम में विकास करा लेना, यही नियति केबीच पुरुषार्थ का कार्य हे। इस पुरुषार्थ से कर्म भी एक हद तक नियन्त्रित होते हैं।

यदृच्छावाद–

यदृच्छावाद का अर्थ है– अटकलपच्चू। मनुष्य जिस कार्यकारण–परम्परा का सामान्य ज्ञान भी नहीं कर पाता है उसके सम्बन्ध में वह यदृच्छा का सहारा लेता है। वस्तुतः यदृच्छावाद उस नियति और ईश्वरवाद के विरुद्ध एक प्रतिशब्द है, जिनने जगत् को नियन्त्रित करने का रूपक बाँधा था। यदि यदृच्छाका अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अपनी कारणसामग्री से होता है और सामग्री को कोई बन्धन नहीं कि वह किसी समय, किसे, कहाँ, कैसे रूप में मिलेगी, तो यह एक प्रकार से वैज्ञानिक कार्यकारणभाव का ही समर्थन है। पर यदृच्छा के भीतर वैज्ञानिकता और कार्यकारण भाव दोनों की ही उपेक्षा का भाव है।

पुरुषवाद–

'पुरुष ही इस जगत् का कर्ता, हर्ता और विधाता है' यह मत सामान्यतः पुरुषवाद कहलाता है। प्रलय काल में भी उस पुरुष की ज्ञानादि शक्तियाँ अलुप्त रहती हैं।[५६] जैसे कि मकड़ी जालेके लिए और चन्द्रकान्तमणि जल के लिए तथा वटवृक्ष प्ररोह–जटाओं के लिए कारण होता है उसी तरह पुरुष समस्त जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय में निमित्त होता है। पुरुषवाद में दो मत सामान्यतः प्रचलित हैं। एक तो है ब्रह्मवाद, जिसमें ब्रह्म ही जगत् के चेतन–अचेतन, मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थों का उपादान कारण होता है। दूसरा है ईश्वरवाद, जिसमें वह स्वयंसिद्ध जड़ और चेतन द्रव्यों के परस्पर संयोजन में निमित्त होता है।

ब्रह्मवाद में एक ही तत्त्व कैसे विभिन्न पदार्थों के परिणमन में उपादान बन सकता है? यह प्रश्न विचारणी है। आज के विज्ञान ने अनन्त एटम की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उनके परस्पर संयोग और विभाग से इस विचित्र सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। यह युक्तिसिद्ध भी है और अनुभवगम्य भी। केवक माया कह देने मात्र से अनन्त जड़ पदार्थ तथा अनन्त चेतन–आत्माओं का पारस्परिक यथार्थ भेद–व्यक्तित्व, नष्ट नहीं किया जा सकता। जगत् में अनन्त आत्माएँ अपने–अपने संस्कार और वासनाओं के अनुसार विभिन्न पर्यायों को धारण करती है। उनके व्यक्तित्व अपने–अपने हैं। एक भोजन करता है तो तृप्ति दूसरे को नहीं होती। इसी तरह जड़ पदार्थों के परमाणु अपना स्वतन्त्र

---

56 ''ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्।।''
–उपनिषत्, उद्धृत प्रमेयक. पृत्र ६५।

अस्तित्व रखते हैं। अनन्त प्रयत्न करने पर भी दो परमाणुओं की स्वतन्त्र सत्ता मिटा के उनमें एकत्व नहीं लाया जा सकता। अतः जगत् में प्रत्यक्षद्धि अनन्त सत्व्यक्तियों का अपलाप करके केवल एक पुरुषको अनन्त कार्यों के प्रति उपादान मानना कोरी कल्पना ही है।

इस अद्वैतैकान्त में[57] कारण और कार्य का, कारक और क्रियाओं का, पुण्य और पाप कर्म का, सुख–दुःख फल का, इहलोक और परलोक का, विद्या और अविद्या का तथा बन्ध और मोक्ष आदि का वास्तविक भेद ही नहीं रह सकता। अतः प्रतीतिसिद्ध जगतृव्यवस्था के लिए ब्रह्मवाद कथमपि उचित सिद्ध नहीं होता। सकल जगतृ में 'सत' का अन्वय देखकर एक 'सत्' तत्त्व की कल्पना करना और उसे ही वास्तविक मानना प्रतीतिविरुद्ध है। जैसे विद्यार्थीमण्डल में 'मण्डल' अपने आप में कोई चीज नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र सत्तावाले अनेक विद्यार्थियों को सामूहिक रूप से व्यवहार करने के लिए एक 'मण्डल' की कल्पना कर ली जाती है, इसमें तत्तत् विद्यार्थी तो परमार्थसत् है, एक मण्डल नहीं;उसी तरह अनेक सद्व्यक्तियों में कल्पित एक सत्त्व व्यवहारसत्य ही हो सकता है परमार्थसत्य नहीं।

ईश्वरवाद–

ईश्वरवाद में ईश्वर को जन्यमात्र के प्रति निमित्त माना जाता हैं उसकी इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। विचारणीय बात यह है कि जब संसार में अनन्त जड़ और चेतन पदार्थ, अनादिकाल से स्वतन्त्र सिद्ध हैं, ईश्वर ने भी असत् से किसी एक भी सत् को उत्पन्न नहीं किया, वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार अपना परिणमन करते रहते हैं तब एक सर्वाधिष्ठाता ईश्वर मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? यदि ईश्वर कारुणिक है; तो उसने जगत् में दुःख और दुःखी प्राणियों की सृष्टि ही क्यों की? अदृष्ट का नाम लेना तो केवल बहाना है; क्योंकि अदृष्ट भी तो ईश्वर से ही उत्पन्न होता है। सृष्टि के पहले तो अनुकम्पा के योग्य प्राणी ही नहीं थे, फिर उसने किस पर अनुकम्पा की? इस तरह जैसे–जैसे हम इस सावैनियन्तृवाद पर विचार करते हैं, वैसे–वैसे इसकी निःसारता सिद्ध होती जाती है।

अनादिकाल से जड़ और चेतन पदार्थ अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप स्वभाव के कारण परस्पर–सापेक्ष भी होकर तथा क्वचित् स्थूल बाह्य सामग्री से निरपेक्ष भी रहकर स्वयं परिणमन करते जाते हैं। इनके लिए न किसी को चिंता करनेकी जरूरत है और

---

[57] देखो– आप्तमीमांसा २।१–६।

नियन्त्रण करने की। नित्य, एक और समर्थ ईश्वर से समस्त क्रमभावी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जाने चाहिए। सहकारी कारण भी तो ईश्वर को ही उत्पन्न करना है। सर्वव्यापक ईश्वर में क्रिया भी नहीं हो सकती। उसकी इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी नित्य हैं, अत: क्रम से कार्य होना कथमपि सम्भव नहीं है।

जगत् के उद्धार के लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना तो द्रव्यों के निज स्वरूप को ही परतन्त्र बना देना है। हर आत्मा अपने विवेक और सदाचरण से अपनी उन्नति के लिए स्वयं जवाबदार है। उसे किसी विधाता के सामने उत्तरदायी नहीं होना है। अत: जगत् के सम्बन्ध में पुरुषवाद भी अन्य वादों की तरह नि:सार है।

भूतवाद—

भूतवादी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु स भूतचतुष्टय से ही चेतन—अचेतन और मूर्त—अमूर्त सभी पदार्थों की उत्पत्ति मानते हैं। चेतना भी इनके मत से पृथिव्यादि भूतों की ही एक विशेष परिणति है, जो विशेष प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न होती है और उस परिस्थिति के बिखर जाने पर वह वहीं समाप्त हो जाता है। जैसे कि अनेक प्रकार के छोटे—बड़े पुर्जों से एक मशीन तैयार होती है और उन्हीं के परस्पर संयोग से उसमें गति भी आ जाती है और कुछ समय के बाद पुर्जोंके घिस जाने पर वह टूटकर बिखर जाती है, उसी तरह का यह जीवनयन्त्र है। यह भूतात्मवाद उपनिषद् काल से ही यहाँ प्रचलित है।

इसमें विचारणीय बात यही है कि— इस भौतिक पुतले में, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, जिजीविषा और विविध कलाओं के प्रति जो नैसर्गिक झुकाव देखा जाता है, वह अनायास कैसे आ गया? स्मरण ही एक ऐसी वृत्ति है, जो अनुभव करनेवाले के चिरकाल स्थायी संस्कार की अपेक्षा रखती है।

विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार जीवजाति का विकास मानना भी भौतिकवाद का एक परिष्कृत रूप है। इसमें क्रमश: अमीबा, घोंघा आदि बिना रीढ़ के प्राणियों से, रीढ़दार पशु और मनुष्यों की सृष्टि हुई। जहाँ तक इनके शरीर के आनुवंशिक विकास का सम्बन्ध है वहाँ तक इस सिद्धान्त की संगति किसी तरह खींचतान करके बैठाई भी जा सकती है, पर चेतन और अमूर्तिक आत्मा की उत्पत्ति, जड़ और मूर्तिक भूतों से कैसे सम्भव हो सकती है?

इस तरह जगत् की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, कर्म, पुरुष और भूत इत्यादि को कारण

मानने की विचार–धाराएँ जब से इस मानवके जिज्ञासा–नेत्र खुले, तब से बराबर चली आतीं हैं। ऋग्वेद के एक ऋषि तो चकित होकर विचारते हैं कि सृष्अि के पहले यहाँ कोई सत् पदार्थ नहीं था और असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई है। तो दूसरे ऋषि सोचते हैं कि असत् से सत् कैसे हो सकता है? अत: पहले भी सत् ही था और सत् से ही सत् हुआ है। तो तीसरे ऋषि का चिन्तन सत् और असतृ उभय की ओर जाता है। चौथा ऋषि उस तत्त्व को जिससे इस जगत् का विकास हुआ है, वचनों के अगोचर कहता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि की व्यवस्था के सम्बन्ध में आज तक सहस्रों चिन्तकों ने अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत किये हैं।

अव्याकृतवाद–

भगवान् बुद्ध से 'लोक सान्त है या अनन्त, शाश्वत है या अशाश्वत, जीव और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न, मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं?' इसप्रकार के प्रश्न जब मोलुक्यपुत्र ने पूँछे तो उन्होंने इनको अव्याकृत कोटि में डाल दिया ओर कहा कि मैंने इन्हें अव्याकृत इसलिए कहा है कि 'उनके बारे में कहना सार्थक नहीं है, न भिक्षुचर्या के लिए और न ब्रह्मचर्य के लिए ही उपयोगी है, न यह निर्वेद, शान्ति, परमज्ञान और निर्वाण के लिए आवश्यक ही है।' आत्मा आदि के सम्बन्ध में बुद्ध की यह अव्याकृतता हमें सनदेह में डाल देती है। जब उस समय के वातावरण में इन दार्शनिक प्रश्नों की जिज्ञासा सामान्यसाधक के मन में उत्पन्न होती थी और इसके लिए वाद तक रोपे जाते थे, तब बुद्ध जैसे व्यवहारी चिन्तक का इन प्रश्नों के सम्बन्ध में मौन रहना रहस्य से खाली नहीं हैं। यही कारण है कि आज बौद्ध तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में अनेक विवाद उत्पन्न हो गए हैं। कोई बौद्ध के निर्वाण को शून्यरूप या अभावात्मक मानता है, तो कोई उसे सद्भावात्मक। आत्मा के सम्बन्ध में बुद्ध का यह मत तो स्पष्ट था कि वह न तो उपनिषद्वादियों की तरह शाश्वत ही है और न भूतवादियों की तरह सर्वथा उच्छिन्न होनेवाल ही है। अर्थात् उन्होंने आत्मा को न शाश्वत माना और न उच्छिन्न। इस अशाश्वतानुच्छेदरूपी उभयप्रतिषेध के होने पर भी बुद्ध का आत्मा किस रूप था, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। इसीलिए आज बुद्ध के दर्शन को अशाश्वतानुच्छेदवाद कहा जाता है। पाली साहित्य में हम जहाँ बुद्ध के आर्यसत्यों का सांगोपांग विधिवत् निरूपण देखते हैं, वहाँ दर्शन का स्पष्अ वर्णन नहीं पाते।

उत्पादादित्रयात्मकवाद–

निग्गंथ नाथपुत्त वर्धमान महावीर ने लोकव्यवस्था और द्रव्यों के स्वरूप के सम्बन्ध में अपने सुनिश्चित विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने

षट्द्रव्यमय लोक तथा द्रव्यों के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यात्मक स्वरूप को बहुत स्पष्ट और सुनिश्चित पद्धति से बताया। जैसे कि इस प्रकरण के शुरू में लिख चुका हूँ। प्रत्येक वर्तमान पर्याय अपने समस्त अतीत संस्कारों का परिवर्तित पुञ्ज है और है अपनी समस्त भविष्यत् योग्यताओं का भण्डार। उस प्रवहमान पर्याय परम्परा में जिस समय जैसी कारण सामग्री मिल जाती है, उस समय उसका वैसा परिणमन उपादान और निमित्त के बलाबल के अनुसार होता जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के इस सार्वद्रव्यिक और सार्वकालिक नियम का इस विश्व में कोई भी अपवाद नहीं है। प्रत्येक सत् को प्रत्येक समय अपनी पर्याय बदलनी ही होगी, चाहे आगे आनेवाली पर्याय सदृश, असदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश या विसदृश ही क्यों न हो। इस तरह अपने परिणामी स्वभाव के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानयोग्यता और सन्निहित निमित्त सामग्री के अनुसार पिपीलका क्रम या मेंढक कुदान के रूप में परिवर्तित हो ही रहा है।

दो विरुद्ध शक्तियाँ—

द्रव्य में उत्पाद शक्ति यदि पहले क्षण में पर्याय को उत्पन्न करती हैं तो विनाश शक्ति उस पर्याय का दूसरे क्षण में नाश कर देती हैं। यानी प्रतिसमय यदि उत्पाद शक्ति किसी नूतन पर्याय को लाती है तो विनाश शक्ति उसी समय पूर्व पर्याय को नाश करके इसके लिए स्थान खाली कर देती है। इस तरह इस विरोधी समागम के द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और इसकी कभी विच्छिन्न न होनेवाली ध्रौव्य—परम्परा के कारण त्रिलक्षण है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य के इस स्वाभाविक परिणमन—चक्र में जब जैसी कारण सामग्री के घटक द्रव्यों को प्रभावित भी करता है। यानी यदि एक पर्याय किसी परिस्थिति से उत्पन्न हुई है तो वह परिस्थिति को बनाती भी है। द्रव्य में अपने सम्भाव्य परिणमनों की असंख्य योग्यताएँ प्रतिसमय मौजूद हैं। पर विकसित वही योग्यता होती है जिसकी सामग्री परिपूर्ण हो जाती है। जो इस प्रवहमान चक्र में अपना प्रभाव छोड़ने का बुद्धिपूर्वक यत्न करते हैं वे स्वयं परिस्थिति के निर्माता बनते हैं और जो प्रवाहपतित हैं वे परिवर्तन के थपेड़ों में इतस्ततः अस्थिर रहते हैं।

लोक शाश्वत भी है—

यदि लोक को समग्र भाव से संतति की दृष्टि से देखें तो लोक अनादि और अनन्त है। कोई भी द्रव्य इसके रंगमंच से सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता और न कोई असत् से सत् बनकर इसकी नियत द्रव्यसंख्या में एक की भी वृद्धि ही कर सकता है। यदि प्रतिसमयभावी, प्रतिद्रव्यगत पर्यायों की दृष्टि से देखें तो लोक 'सान्त'

भी है। उस द्रव्यदृष्टि से देखने पर लोक शाश्वत है और इस पर्याय दृष्टि से देखने पर लोक अशाश्वत है। इसमें कार्यों की उत्पत्ति में काल एक साधारण निमित्तकारण है, जो प्रत्येक परिणमनशील द्रव्य के परिणाम में निमित्त होता है और स्वयं भी अन्य द्रव्यों की तरह परिवर्तनशील है।

द्रव्ययोग्यता और पर्याययोग्यता—

जगत् का प्रत्येक कार्य अपने सम्भाव्य स्वभावों के अनुसार ही होता है, यह सर्वमत साधारण सिद्धान्त है। यद्यपि प्रत्येक पुद्गल परमाणु में घट, पट आदि सभी कुछ बनने की द्रव्ययोग्यता है; किन्तु यदि वह परमाणु मिट्टी के पिण्ड में शामिल हैं तो वह साक्षात् घट ही बन सकता है, पट नहीं। सामान्य स्वभाव होने पर भी उन द्रव्यों की स्थूल पर्यायों में साक्षात् विकसनेयोग्य कुछ नियत योग्यताएँ होती हैं। यह नियतिपन समय और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। यद्यपि यह पुरानी कहावत प्रसिद्ध है कि 'घड़ा मिट्टी से बनता है बालू से नहीं। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में बालू को काँच की भट्टी में पकाकर उससे अधिक सुन्दर और पारदर्शी घड़ा बनने लगा है।

अत: द्रय योग्यताएँ सर्वथा नियत होने पर भी, पर्याय योग्यताओं की नियतता परिस्थिति के ऊपर निर्भर करती है। जगत् में समस्त कार्यों के परिस्थिति भेद से अनन्त कार्यकारणभाव हैं और उन कार्यकारण परम्पराओं के अनुसार ही प्रत्येक कार्य उत्पन्न होता है। अत: अपने अज्ञान के कारण किसी भी कार्य को यदृच्छा—अटकल पच्चू कहना अतिसाहस है।

पुरुष उपादान होकर केवल अपने ही गुण और अपनी ही पर्यायों का कारण बन सकता है, उन ही रूप से परिणमन कर सकता है, अन्य रूप से कदापि नहीं। एक द्रव्य दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्य में केवल निमित्त ही बन सकता है, उपादान कदापि नहीं, यह एक सुनिश्चित मौलिक द्रव्यसिद्धान्त है। संसार के अनन्त कार्यों का बहुभाग अपने परिणमन में किसी चेतन—प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रखता। जब सूर्य निकलता है तो उसके सम्पर्क से असंख्य जलकण भाप बनते हैं और क्रमश: मेघों की सृष्टि होती है। फिर सर्दी—गर्मी का निमित्त पाकर जल बरसता है। इस तरह प्रकृतिनटी के रंगमंच पर अनन्त कार्य प्रतिसमय अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते ळें। उनका अपना द्रव्यगत ध्रौव्य ही उन्हें क्रमभंग करने से रोकता है अर्थात् वे अपने द्रव्यगत स्वभाव के कारण अपनी ही धारा में स्वयं नियन्त्रित हैं— उन्हें किसी दूसरे द्रव्य के नियन्त्रण की न कोई अपेक्षा है और न आवश्यकता ही। यदि कोई चेतनद्रव्य भी किसी द्रव्य की कारणसामग्री

में सम्मिलित हो जाता है तो ठीक है, वह भी उसके परिणमन में निमित्त हो जायगा। यहाँ तो परस्पर सहकारिता की खुली स्थिति है।

कर्म की कारणता—

जीवों के प्रतिक्षण जो संस्कार संचित होते हैं वे ही परिपाककाल में कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों की कोई स्वतन्त्र कारणता नहीं है। उन जीवों के परिणमन में तथा उन जीवों से सम्बद्ध पुद्गलों के परिणमन में वे संस्कार उसी तरह कारण होते हैं जिस तरह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में। अर्थात् अपने भावों की उत्पत्ति में वे उपादान होते हैं और पुद्गलद्रव्य या जीवान्तर के परिणमन में निमित्त। समग्र लोक की व्यवस्था या परिवर्तन में कोई कर्म नाम का एक तत्त्व महाकारण बनकर बैठा हो, यह स्थिति नहीं है।

इस तरह काल, आत्मा, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूतादि अपनी—अपनी मर्यादा में सामग्री के घटक होकर प्रतिक्षण परिवर्तमान इस जगत् के द्रव्य के परिणमन में यथासम्भव निमित्त और उपादान होते रहते हैं। किसी एक कारण का सर्वाधिपत्य जगत् के अनन्त द्रव्यों पर नहीं है। आधिपत्य यदि हो सकता है तो प्रत्येक द्रव्य का केवल अपनी ही गुण और पर्यायों पर हो सकता है।

जड़वाद और परिणामवाद—

वर्तमान जड़वादियों ने विश्व के स्वरूप को समझाते समय इन चार सिद्धान्तों का निर्णय किया है।

(१) ज्ञाता और ज्ञेय अथवा समस्त सद्वस्तु नित्य परिवर्तनशील है। वस्तुओं का स्थान बदलता रहता है। उनके घटक बदलते रहते हैं और उनके गुण—धर्म बदलते रहते हैं; परन्तु परिवर्तन का अखण्ड प्रवाह चालू है।

(२) दूसरा सिद्धान्त यह है कि सद्वस्तु का सम्पूर्ण विनाश नहीं होता और सम्पूर्ण अभाव में से सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती। यह क्रम नित्य निर्बाध रूप से चलता रहता है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी न किसी अन्य सद् वस्तु में से ही निर्मित होती है, सद्वस्तु का निर्माण होता है? जिस एक वस्तु में से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे द्रव्य कहते हैं। जिससे वस्तुएँ बनती हैं और जिसके गुण—धर्म होते हैं वह द्रव्य है और गुणों का समुच्चय जगत् है। यह जगत् कार्य—कारणभाव की अनादि एवं अनन्त माला का एक मनका है। कार्यकारणभाव के विशिष्ट नियम से प्रत्येक घटना एक—दूसरे के साथ बँधी रहती है।

(३) तीसरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभावसिद्ध गति–शक्ति किंवा परिवर्तन–शक्ति अवश्य रहती है। अणुरूप द्रव्यों का जगत् बना करता है। उन अणुओं को आपस में मिलने तथा एक–दूसरे से अलग–अलग होने के लिए जो गति मिलती रहती है वह उनका स्वभावधर्म है। उनको परचालित करनेवाला, उनको इकट्ठा करनेवाला और अलग–अलग करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस विश्व में जो प्रेरणा या गति है, वह वस्तुमात्र के स्वभाव में से निर्मित होती है। एक के बाद दूसरी गति की एक अनादि परम्परा इस विश्व में विद्यमान है। यह प्रश्न ठीक नहीं है कि 'प्रारम्भ में इस विश्व में कितने गति उत्पन्न की।' 'प्रारम्भ में' शब्दों का अभिप्राय उस काल से है जब गति नहीं थी अथवा किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं था। ऐसे काल की तर्कसम्मत कल्पना नहीं की जा सकती जब कि किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन न रहा हो। ऐसे काल की कल्पना करने का अर्थ तो यह मानना हुआ कि एक समय था, जब सर्वत्र सर्वशून्यता थी। जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु है, तो वह निश्चय ही कार्यकारणभाव से बँधी रहती है। इसीलिए गति और परिवर्तन का रहना आवश्यक हो जाता है। सर्वशून्य स्थिति में से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु की घटना में दो प्रकार से परिवर्तन होता है। एक तो यह है कि वस्तु में स्वाभाविक रीति से परिवर्तन होता है। दूसरा यह कि वस्तु का उसके चारों ओर की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने से परिवर्तन होता है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से जुड़ी या संलग्न रहती है। यह संलग्नता तीन प्रकार की होती है– एक वस्तु का चारों तरफ की वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है, दूसरी वह वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न हुई है उसके साथ कार्यकारण–सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं तीसरी उस वस्तु की घटना के गर्भ में दूसरी घटना रहती है और वह वस्तु तीसरी घटना के गर्भ में रहती है। ये जो सारे वस्तुओं के सम्बन्ध हैं उनकी ठीक से जानकारी हो जाने पर यह भ्रान्ति या आशंका दूर हो जाती है कि वस्तुओं की गति किंवा क्रिया के लिए कोई पहला प्रवर्तक चाहिए। कोई भी क्रिया पहली नहीं हुआ करती। प्रत्येक गति से किंवा क्रिया से पूर्व दूसरी गाति और क्रिया रहती है। इस क्रिया का स्वरूप एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना ही नहीं होता। क्रिया–शक्ति का केवल स्थानान्तर होना या चलायमान होना ही स्वरूप नहीं है। बीज का अँखुआ बनता है और अँखुए का वृक्ष बन जाता है, ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन का पानी बनता है, प्रकाश के अणु बनते हैं अथवा लहरें बनती हैं, यह सारा बनना और होना भी क्रिया ही हैं। इसप्रकार की क्रिया वस्तु का मूलभूत स्वभाव है। वह यदि न रहता, तो जो पहली बार गति देता है उसके लिए भी वस्तु में गति उत्पन्न करना सम्भव न होता। विश्व स्वयं प्रेरित है। उसे किसी बाह्य प्रेरक की आवश्यकता नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त यह है कि रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तु का मूलभूत स्वभाव है। हम जब भी किसी वस्तु का, किंवा वस्तुसमुदाय का वर्णन करते हैं तब वस्तुओं की रचना, किंवा व्यवस्था का ही वर्णन किया करते हैं। वस्तु में योजना या व्यवस्था नहीं, इसका अर्थ यही होता है कि वस्तु ही नहीं वस्तु है, इस कथन का यही अर्थ निकलता है कि एक विशेष प्रकार की योजना और विशेष प्रकार की व्यवस्था है। वस्तु की योजना का आकलन होना ही वस्तुस्वरूप का आकलन है। विश्व की रचना अथवा योजना किसी दूसरे ने नहीं की है। अग्नि जलाना स्वाभाविक धर्म है। यह एक व्यवस्था अथवा योजना है। यह व्यवस्था किंवा योजना अग्नि में किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लाई हुई नहीं है। यह तो अग्नि के अस्तित्व का ही एक पहलू है। संख्या, परिमाण एवं कार्यकारणभाव वस्तु स्वरूप के अंग है। हम संख्या वस्तु में उत्पन्न नहीं कर सकते, वह वस्तु में रहती ही है। वस्तुओं के कार्यकारणभाव को पहिचाना जा सकता है; किन्तु निर्माण नहीं किया जा सकता।''[५८]

जड़वाद का आधुनिक रूप–

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी[५९] वैज्ञानिक भौतिकवाद पुस्तक में भौतिकवाद के आधुनिकतम स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि ''जगत् का प्रत्येक परिवर्तन जिन सीढ़ियों से गुजरता है वे सीढ़ियाँ वैज्ञानिक भौतिकवाद की त्रिपुटी हैं– (१) विरोधी समागम (२) गुणात्मक परिवर्तन और (३) प्रतिषेध का प्रतिषेध। वस्तु के उदर में विरोधी प्रवृत्तियाँ जमा होती हैं, इससे परिवर्तन के लिए सबसे आवश्यक चीज गति पैदा होती है। फिर हेगेल की द्वंद्ववादी प्रक्रिया के वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से नया गुण पैदा होता है। इसे दूसरी सीढ़ी गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। पहले जो वाद था उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ी से मिलाने पर वह किसी का प्रतिषेध करनेवाला संवाद था। अब गुणात्मक परिवर्तन–आमूल परिवर्तन जबसे उसका प्रतिषेध हुआ तो यह प्रतिषेध का प्रतिषेध है। दो या अधिक, एक–दूसरे से गुण और स्वभाव में विरोधी वस्तुओं का समागम दुनिया में पाया जाता है। यह बात हर एक आदमी को जब तब नजर आती है; किन्तु उसे देखकर यह ख्याल नहीं आता कि एक बार इस विरोधी समागम को मान लेने पर फिर विश्व के संचालक ईश्वर की जरूरत नहीं रहती। न किसी अभौतिक दिव्य, रहस्यमय नियम की आवश्यकता है। विश्व के रोम–रोम में गति है। दो परस्पर विरोध शक्तियों का मिलना

---

58 देखो, 'जड़वाद और अनीश्वरवाद', पृ. ६०–६६।

59 पृ. ४५–४६।

ही गति पैदा करने के लिए पर्याप्त है। गति का नाम विकास है। यह 'लेनिन' के शब्दों में कहिये तो विकास विरोधियों के संघर्ष का नाम है। विरोधी जब मिलेंगे तब संघर्ष जरूर होगा। संघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, नयी परिस्थिति अर्थात् विकास को जरूर पैदा करेगा। यह बात साफ है। विरोधियों के समागम को परस्पर अन्तरव्यापन या एकता भी कहते हैं। जिसका अर्थ यह है कि वे एक ही (अभिन्न) वास्तविकता के ऐसे दोनों प्रकार के पहलू होते हैं। ये दोनों विरोध दार्शनिकों को परमार्थ की तराजू पर तुले सनातन काल से एक दूसरे से सर्वथा अलग अवस्थित भिन्न–भिन्न होकर रहते हैं। जो कर्जखोर के लिए ऋण है, वही महाजन के लिए धन है। हमारे लिए जो पूर्व का रास्ता है, वही दूसरे के लिए पश्चिम का भी रास्ता है। बिजली में धन और ऋण के छोर दो अलग स्वतन्त्र तरल पदार्थ नहीं हैं। लैनिन विरोध को द्वंद्ववाद का सार कहा है। केवल परिमाणात्मक परिवर्तन ही एक खास सीमा पर होने पर गुणात्मक भेदों में बदल जाता है।''

जड़वाद का एक और स्वरूप–

कर्नल इंगरसोल प्रसिद्ध विचारक और निरीश्वरवादी थे। ये अपने व्याख्यान में लिखते हैं।[६०] कि मेरा– एक सिद्धान्त है और उसके चारों कोनों पर रखने के लिए मेरे पास चार पत्थर हैं। पहला शिलान्यास है कि– पदार्थ–रूप नष्अ नहीं हो सकता, अभाव को प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरा शिलान्यास है कि गति–शक्ति का विनाश नहीं हो सकता, वह अभाव को प्राप्त नहीं हो सकती। तीसरा शिलान्यास है कि पदार्थ ओर गति पृथक्–पृथक नहीं रह सकती। बिना गति के पदार्थ नहीं और बिना पदार्थ के गति नहीं। चौथा शिलान्यास है कि जिसका नाश नहीं वह कभी पैदा भी नहीं हुआ होगा, जो अविनाशी है वह अनुत्पन्न है। यदि ये चारों बातें यथार्थ हैं तो उनका यह परिणाम अवश्य निकलता है कि– पदार्थ और गति सदा से हैं और सदा रहेंगे। वे न बढ़ सकते हैं और न घट सकते हैं। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि न कोई चीज कभी उत्पन्न हुई है और न उत्पन्न हो सकती है और न कभी कोई रचयिता हुआ है और न हो सकता है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि पदार्थ और गति के पीछे न कोई योजना हो सकती थी और न कोई बुद्धि। बिना गति के बुद्धि नहीं हो सकती। बिना पदार्थ के गति नहीं हो सकती। इसलिए पदार्थ से पहले किसी भी तरह किसी बुद्धि की, किसी गति की सम्भावना हो नहीं सकती। इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रकृति से परे न कुछ है और न हो सकता है। यदि ये चारो शिलान्यास यथार्थ बाते हैं तो प्रकृति का कोई स्वामी नहीं। यदि पदार्थ और गति अनादि काल से अनन्त काल तक है तो यह अनिवार्य परिणाम निकलता है कि कोई

---

[60] स्वतन्त्र चिन्तन, पृ. २१४–१५।

परमात्मा नहीं है और न किसी परमात्मा ने जगत् को रचा है और न कोई इस पर शासन करता है। ऐसा कोई परमात्मा नहीं, जो प्रार्थनाएँ सुनता हो। दूसरे शब्दों में इससे यह सिद्ध होता है कि आदमी को भगवान् से कभी कोई सहायता नहीं मिली, तमाम प्रार्थनाएँ अनन्त आकाश में यों ही विलीन हो गईं। यदि पदार्थ और गति सदा से चली आई है तो इसका यह मतलब है कि जो सम्भव था वह हुआ है, जो सम्भव है वह हो रहा है और जो सम्भव होगा वही होगा। विश्व में कोई भी बात यों ही अचानक नहीं होती। हर घटना जनित होती है। जो नहीं हुआ वह हो ही नहीं सकता था। वर्तमान तमाम भूत का अवश्यमीावी परिणाम है और भविष्य का अवश्यम्भावी कारण।

यदि पदार्थ और गति सदा से हैं तो हम यह कह सकते हैं कि आदमी का कोई चेतन रचयिता नहीं हुआ है, आदमी किसी की विशेष रचना नहीं है। यदि हम कुछ जानते हैं तो यह जानते हैं कि उस दैवी कुम्हार ने, उस ब्रह्मा ने कभी मिट्टी और पानी मिला कर पुरुषों तथा स्त्रियों की रचना नहीं की और उनमें कभी जान नहीं फूँकी।''

समीक्षा और समन्वय– भौतिकवाद के उक्त मूल सिद्धान्त के विवेचन से निम्नलिखित बाते फलित होती हैं–

१. विश्व अनन्त स्वतन्त्र मौलिक पदार्थों का समुदाय है।
२. प्रत्येक मौलिक में विरोधी शक्तियों का समागम है, जिसके कारण उसमें स्वभावत: गति या परिवर्तन होता रहता है।
३. विश्व की रचना योजना और व्यवस्था, उसके अपने निजी स्वभाव के कारण है, किसी के नियन्त्रण से नहीं।
४. किसी सत् का न तो सर्वथा विनाश होता है और सर्वथा असत् का उत्पाद ही।
५. जगत् का प्रत्येक अणु परमाणु प्रतिक्षण गतिशील याने परिवर्तनशील है। ये परिवर्तन परिणामात्मक भी होते हैं और गुणात्मक भी।
६. प्रत्येक वस्तु सैकड़ों विरोधी शक्तियों का समागम है।
७. जगत् का यह परिवर्तन चक्र अनादि–अनन्त है।

हम इन निष्कर्षों पर ठण्डे दिल और दिमाग से विचार करें तो ज्ञात होगा कि भौतिकवादियों की यह वस्तुरूप की विवेचना वस्तुस्थिति के विरुद्ध नहीं है। जहाँ तक भूतों के विशिष्ट रासायनिक मिश्रण से जीवतत्त्व की उत्पत्ति का प्रश्न है वहाँ तक उनका कहना एक हद तक विचारणीय है। पर सामान्यस्वरूप की व्याख्या न केवल तर्कसिद्ध ही है; किन्तु अनुभवगम्य भी है। इनका सबसे मौलिक सिद्धान्त यह है

कि– प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से ही दो विरोधी शक्तियाँ मौजूद हैं, जिनके संघर्ष से उसे गति मिलती है, उसका परिवर्तन होता है और जगत् का समस्त कार्यकारण चक्र चलता है। मैं पहले लिख आया हूँ कि जैनदर्शन की द्रव्यव्यवस्था का मूल मन्त्र उत्पादन–व्यय–ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणता है। भौतिकवादियों ने जब वस्तु के कार्यकारणप्रवाह को अनादि और अनन्त स्वीकार किया है और वे सत् का सर्वथा विनाश और असत् की उत्पत्ति जब नहीं मानते तो उन्होंने द्रव्य की अविच्छिन्न धारा रूप ध्रौव्यत्व को स्पष्ट स्वीकार किया ही है। ध्रौव्य का अर्थ सर्वथा अपरिणामी नित्य और कूटस्थ नहीं है; किन्तु जो द्रव्य अनादि काल से इस विश्व के रंगमंच पर परिवर्तन करता हुआ चला आ रहा है, उसकी परिवर्तन धारा का कभी समूलोच्छेद नहीं होना है। इसके कारण एक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पर्यायों में बदलता हुआ भी, कभी न तो समाप्त होता है और न द्रव्यान्तर में विलीन ही होता है। इस द्रव्यान्तर असंक्रान्ति का और द्रव्य की किसी न किसी रूप में स्थिति का नियामक ध्रौव्यांश है। जिससे भौतिकवादी भी इनकार नहीं कर सकते।

विरोधी समागम अर्थात् उत्पाद और व्यय–

जिस विरोधी शक्तियों के समागम की चर्चा उन्होंने द्वन्द्ववाद (Diaiectism) के रूप में की है वह प्रत्येक द्रव्य में रहनेवाले उनके निजी स्वभाव उत्पाद और व्यय हैं। इन दो विरोधी शक्तियों की वजह से प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यानि पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तरपर्याय का उत्पाद प्रतिक्षण वस्तु में निरपवादरूप से होता रहता है।[६१] पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर का उत्पाद है। ये दोनों शक्तियाँ एक साथ वस्तु में अपना काम करती हैं और ध्रौव्यशक्ति द्रव्य का मौलिकत्व सुरक्षित रखती है। इस तरह अनन्तकाल तक परिवर्तन करते रहने पर भी द्रव्य कभी नि:शेष नहीं हो सकता। उसमें चाहे गुणात्मक परिवर्तन हों या परिमाणात्मक, किन्तु उसका अपना अस्तित्व किसी न किसी अवस्था में अवश्य ही रहेगा। इस तरह प्रतिक्षण त्रिलक्षण पदार्थ एक क्रम से अपनी पर्यायों में बदलता हुआ और परिणमनों को प्रभावित करता हुआ भी निश्चित कार्यकारणपरम्परा से आबद्ध है।

इस तरह 'भौतिकवाद' के वस्तुविवर्तन के सामान्य सिद्धान्त जैनदर्शन के अनन्त द्रव्यवाद और उत्पादादि त्रयात्मक सत् के मूल सिद्धान्त से जरा भी भिन्न नहीं है। जिस तरह आज का विज्ञान अपनी प्रयोगशाला में भौतिकवाद के इन सामान्य सिद्धान्तों की कड़ी परीक्षा दे

---

[61] 'कार्योत्पाद: क्षयो हेतोर्नियमात्'' – आप्तमी. श्लोक. ५८।

रहा है इसी तरह भगवान् महावीर ने अपने अनुभव प्रसूत तत्त्वज्ञान के बल पर आज से २५०० वर्ष पहले जो यह घोषणा की थी कि– 'प्रत्येक पदार्थ चाहे जड़ हो या चेतन, उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप से परिणामी है। ''उपपन्नइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा'' (स्थाना. स्था. १०) अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है।' उनकी इस मातृकात्रिदी में जिस त्रयात्मक परिणामवाद का प्रतिपादन हुआ था, वही सिद्धान्त विज्ञान की प्रयोशाला में भी अपनी सत्यता को सिद्ध कर रहा है।

चेतनसृष्टि–

विचारणीय प्रश्न इतना रह जाता है कि भौतिकवाद में इन्हीं जड़ परमाणुओं से ही जो जीवसृष्टि और चेतनसृष्टि का विकास गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा माना है, वह कहाँ तक ठीक है? अचेतन को चेतन बनने में करोड़ों वर्ष लगे हैं। इस चेतन सृष्टि के होने में करोड़ों वर्ष या अरब वर्ष जो भी लगे हों उनका अनुमान तो आज का भौतिक विज्ञान कर लेता है; पर वह जिस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन को मिलाकर जल बना देता है और जल का विश्लेषण कर पुनः ऑक्सीजन और हाइड्रोजन रूप से भिन्न–भिन्न कर देता है उस तरह असंख्य प्रयोग करने के बाद भी न तो आज वह एक भी जीव तैयार कर सका है और न स्वत:सिद्ध जीव का विश्लेषण कर उस अदृश्य शक्ति का साक्षात्कार ही करा सका है, जिसके कारण जीवित शरीर में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि उत्पन्न होते हैं।

यह तो निश्चित है कि– भौतिकवाद ने जीवसृष्टि की परम्परा करोड़ों वर्ष पूर्व से स्वीकार की है और आज जो नया जीव विकसित होता है, वह किसी पुराने जीवित सेल को केन्द्र बनाकर ही। ऐसी दशा में यह अनुमान कि ''किसी समय जड़ पृथ्वी तरह रही होगी, फिर उसमें घन्त्व आया और अमीबा आदि उत्पन्न हुए'' केवल कल्पना ही मालूम होती है। जो हो, व्यवहार में भौतिकवाद भी मनुष्य या प्राणिसृष्टि को प्रकृति की सर्वोत्तम सृष्टि मानता है और उनका पृथक्–पृथक अस्तित्व भी स्वीकार करता है।

विचारणीय बात इतनी ही है कि एक ही तत्त्व परस्पर विरुद्ध चेतन और अचेतन दोनों रूप से परिणमन कर सकता है क्या? एक ओर तो ये जड़वादी है जो जड़ का परिणमन चेतनरूप से मानते हैं, तो दूसरी ओर एक ब्रह्मवाद तो इससे भी अधिक काल्पनिक है, जो चेतना का ही जड़रूप से परिणमन मानता है। जड़वाद में परिवर्तन का प्रकार, अनन्त जड़ों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने से बन जाता है। इसमें केव एक ही प्रश्न शेष रहता है कि क्या जड़ भी चेतन बन

सकता है? पर इस अद्वैत चेतनवाद में तो परिवर्तन भी असत्य है, अनेकत्व भी असत्य है और जड़ चेतन का भेद भी असत्य है। एक किसी अनिर्वचनीय माया के कारण एक ही ब्रह्म जड़ चेतन नानारूप से प्रतिभासित होने लगता है। जड़वाद के सामानय सिद्धान्तों का परीक्षण विज्ञान की प्रयोगशाला में किया जा सकता है और उसकी तथ्यता सिद्ध की जा सकती है। पर इस ब्रह्मवाद के लिए तो सिवाय विश्वास के कोई प्रबल युक्तिबल भी प्राप्त नहीं है। विभिन्न मनुष्यों में जन्म से ही विभिन्न रुझान और बुद्धि का कविता, संगीत और कला आदि के विविध क्षेत्रों में विकास आकस्मिक नहीं हो सकता। इसका कोई ठोस और सत्य कारण अवश्य होना ही चाहिए।

समाजव्यवस्था के लिए जड़वादी की अनुपयोगिता—

जिस सहयोगात्मक समाजव्यवस्था के लिए भौतिकवाद मनुष्य का संसार गर्भ से मरण तक ही मानना चाहता हे, उस व्यवस्था के लिए यह भौतिकवादी प्रणाली कोई प्राभाविक उपाय नहीं है। जब मनुष्य यह सोचता है कि मेरा अस्तित्व शरीर के साथ ही समाप्त होनेवाला है, तो वह भोगविलास आदि की वृत्ति से विरक्त होकर क्यों राष्ट्रनिर्माण और समाजवादी व्यवस्था की ओर झुकेगा? चेतन आत्माओं के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व स्वीकार कर लेने पर उनमें प्रतिक्षण स्वाभाविक परिवर्ततन योगयता मान लेने पर तो अनुकूल विकास का अनन्त क्षेत्र सामने उपस्थित हो जाता हे, जिसमें मनुष्य अपने समग्र पुरुषाथ्र का, खुलकर उपयोग कर सकता है। यदि मनुष्यों को केवल भोतिक माना जाता है, तो भूतजन्य वर्ण और वंश आदि की श्रेष्ठता और कनिष्ठता का प्रश्न सीधा सामने आता है; किन्तु इस भूतजन्य वंश, रंग आदि के स्थूल भेदों की ओर दृष्अि न कर जब समस्त मनुष्य आत्माओं का मूलतः समान अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना जाता है, तो ही सहयोगमूलक समाज—व्यवस्था के लिए उपयुक्त भूमि का प्रस्तुत होती है।

समाजव्यवस्था का आधार समता—

जैनदर्शन ने प्रत्येक जड़—चेतन तत्त्व का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। मूलतः एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं है। सब अपने—अपने परिणामी स्वभाव के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तित होते जा रहे हैं। जब इस प्रकार की स्वाभाविक समभूमिका द्रव्यों की स्वीकृत है, तब यह अनधिकार चेष्टा से इकट्ठे किये गए परिग्रह के संग्रह से प्राप्त विषमता, अपने आप अस्वाभाविक और अप्राकृतिक सिद्ध होती जाती है। यदि प्रतिबुद्ध मानव—समाज समान अधिकार के आधार पर अपने व्यवहार के लिए सर्वोदय की दृष्टि से

कोई भी व्यवस्था का निर्माण करते हैं तो वह उनकी सहजसिद्ध प्रवृत्ति ही मानी जानी चाहिए। एक ईश्वर को जगन्नियन्ता मानकर उसके आदेश या पैगाम के नाम पर किसी जाति की उच्चता और विशेषाधिकार तथा पवित्रता का ढिंढोरा पीटना और उसके द्वारा जगत् में वर्ग स्वार्थ की सृष्टि करना, तात्त्विक अपराध तो है ही, साथ ही यह नैतिक भी नहीं है। इस महाप्रभु का नाम लेकर वर्गस्वार्थी गुटने संसार में जो अशान्ति युद्ध ओर खून की नदियाँ बहाई हैं उसे देखकर यदि सचमुच कोई ईश्वर होता तो वह स्वयं आकर अपने इन भक्तों को साफ–साफ कह देता कि 'मेरे नाम पर इस निकृष्टरूप में स्वार्थ का नग्न पोषण न करो।' तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में दृष्टि–विपर्यास होने से मनुष्य को दूसरे प्रकार से सोचने का अवसर ही नहीं मिला। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपने–अपने ढंग से इस दुदृष्टि की ओर ध्यान दिलाया और मानव को समता ओर अहिंसा की सर्वोदयी भूमि पर खड़े होकर सोचने की प्रेरणा दी।

जगत् के स्वरूप के दो पक्ष– (१) विज्ञानवाद–

जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में स्थूल रूप से दो पक्ष पहले से ही प्रचलित रहे हैं। एक पक्ष तो इन भौतिकवादियों का था, जो जगत् को ठोस सत्य मानते रहे। दूसरा पक्ष विज्ञानवादियों का था, जो संवित्ति या अनुभव के सिवाय किसी बाह्य ज्ञेय की सत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहतें उनके मत से[६२] बुद्धि ही विविध वासनाओं के कारण नाना रूप में प्रतिभासित होती है। विशप, वर्कले, योम और हैगल आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ता भी संवेदनाओं के प्रवाह से भिन्न संवेद्यका अस्तित्व नहीं मानना चहते। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी अनेक प्रकार के अर्थ क्रियाकारी दृश्य उपस्थित होते हैं उसी तरह जागृति भी एक लम्बा सपना है। स्वप्नज्ञान की तरह जागृतज्ञान भी निरालम्बन है, केवल प्रतिभासमात्र है। इसके मत से मात्र ज्ञान की ही पारमार्थिक सत्ता है। इनमें भी अनेक मतभेद हैं–

१. वेदान्ती एक नित्य और व्यापक ब्रह्म का ही पारमार्थिक अस्तितत्व स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओं ओर घट–पटादि बाह्य अर्थों के रूप में प्रतिभासित होता है।
२. संवेदनाद्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणों का पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनके मत से ज्ञानसन्तान ही अपनी–अपनी वासनाओं के अनुसार विभिन्न रूप में भासित होती हैं।
३. एक ज्ञान सन्तान माननेवाले भी संवेदनाद्वैतवादी हैं।

---

[62] "अविभागोऽपि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।।" –प्रमाणवा. ३।४३५।

बाह्यार्थलोप की इस विचारधारा का आधार यह मालूम होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार पदार्थों में शब्द–संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तक को देखकर उस धर्म का अनुयायी उसे 'धर्मग्रन्थ' समझकर पूज्य मानता है, पुस्तकाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकों की तरह एक 'सामान्य पुस्तक' समझता है, तो दुकानदार उसे 'रद्दी' के भाव खरीदकर उससे पुड़िया बाँधता है, भंगी उसे 'कूड़ा कचड़ा' समझकर झाड़ देता है और गाय–भैंस आदि उसे 'पुद्गलों का पुञ्ज' समझकर 'घास' की तरह खा जाते हैं। अब आप विचार कीजिए कि पुस्तक में धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा और एक खाद्य आदि की संज्ञाएँ तत्–तत् व्यक्तियों के ज्ञान से ही आयी हैं, अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदि का सद्भाव उन व्यक्तियों के ज्ञान में है, बाहर नहीं। इस तरह धर्मग्रन्थ और पुस्तक आदि की व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नहीं। यदि इनकी पारमार्थिक सत्ता होती तो बिना किसी संकेत और संस्कार के वह सबको उसी रूप में दिखनी चाहिए थी। अत: जगत् केवल कल्पना मात्र है, उसका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं।

बाह्य पदार्थों के स्वरूप पर जैसे–जैसे विचार करते हें– उनका स्वरूप एक, अनेक, उभय और अनुभय आदि किसी रूप में भी सिद्ध नहीं हो पाता। अन्तत: उनका अस्तित्व तदाकार ज्ञान से ही तो सिद्ध किया जा सकता है। यदि नीलाकार ज्ञान मौजूद है, तो बाह्य नील के मानने की क्या आवश्यकता है?[६३] और यदि नीलाकार ज्ञान नहीं है तो उस बाह्य नील का अस्तित्व ही कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अत: ज्ञान ही बाह्य और आन्तर, ग्राह्य और ग्राहक रूप में स्वयं प्रकाशमान है, कोई बाह्यार्थ नहीं है।

सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि– ज्ञान या अनुभव किसी पदार्थ का ही तो होता है। विज्ञानवाद स्वप्न का दृष्टान्त देकर बाह्यपदार्थ का लोप करना चाहते हैं; किन्तु स्वप्न की अग्नि और बाह्य सत् अग्नि में जो वास्तविक अन्तर है, वह तो एक छोटा बालक भी समझ सकता है। समस्त प्राणी घट पट आदि बाह्य पदार्थों से अपनी इष्ट अर्थक्रिया करके आकांक्षाओं को शान्त करते हैं और संतोष का अनुभव करते हैं, जबकि स्वप्नदृष्टि वा ऐन्द्रजालिक पदार्थों से न तो अर्थक्रिया ही होती है न तज्जन्य संतोष का अनुभव ही। उनकी काल्पनिकता तो प्रतिभासकाल में ही ज्ञात हो जाती है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि संज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती हैं, पर जिस वजनवाले

---

63 ''धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थ: किंप्रमाणक:?
धियोऽनीलादिरूपत्वे स तस्यानुभव: कथम्।।''

—प्रमाणवा. ३।४३३।

रूप–रंग–गंध–स्पर्शवाले स्थूल ठोस पदार्थ को अपने–अपने संकेत के अनुसार चाहे कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई किताब, कोई बुक या अन्य कुछ कहे, ये संकेत व्यवहार के लिए अपनी परम्परा और वासनाओं के अनुसार होते हें, उनमें कोई आपत्ति नहीं है, पर उस ठोस पुद्गल से इनकार नहीं किया जा सकता।

दृष्टि–सृष्टि का अर्थ यही है कि सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थ में अपनी–अपनी दृष्टि के अनुसार अनेक पुरुष अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं। उनकी व्यवहार संज्ञाएँ भले ही प्रातिभासिक हों, पर वह पदार्थ, जिसमें ये संज्ञाएँ की जाती है, विज्ञान की तरह ही परमार्थसत् है। ज्ञान पदार्थ पर निर्भर हो सकता है, न कि पदार्थ ज्ञान पर। जगत् में अनन्त ऐसे पदार्िा भरे पड़े हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के पहले भी वे पदार्थ थे और ज्ञान के बाद भी रहेंगे। हमारा इन्द्रिय–ज्ञान तो पदार्थों की उपस्थिति के बिना हो ही नहीं सकता। नीलाकार ज्ञान से तो कपड़ा नहीं रंगा जा सकता। कपड़ा रंगने के लिए ठोस जड़ नील चाहिए, जो ठोस और जड़ कपड़े के प्रत्येक तन्तु को नीला बनाता है। यदि कोई परमार्थसत् नील अर्थ न हो, तो नीलाकार वासना कहाँ से उत्पन्न होगी? वासना तो पूर्वानुभव की उत्तर दशा है। यदि जगत् में नील अर्थ नहीं है तो ज्ञान में नीलाकार कहाँ से आया? वासना नीलाकार कैसे बन गई?

तात्पर्य यह कि व्यवहार के लिए की जानेवाली संज्ञाएँ, इष्ट–अनिष्ट और सुन्दर–असुन्दर आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हों और दृष्टि–सृष्टि की सीमा में हों, पर जिस आधार पर ये कल्पनाएँ कल्पित होती हैं, वह आधार ठोस और सत्य है।[६४] विष के ज्ञान से मरण नहीं होता। विष का ज्ञान जिस प्रकार परमार्थसत् है, उसी तरह विष पदार्थ, विष का खानेवाला और विष के संयोग से होनेवाला शरीरगत रासायनिक परिणमन भी परमार्थसत् ही हैं। पर्वत, मकान, नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं, तो उनमें मूर्तत्व, सीूलत्व और तरहलता आदि कैसे आ सकते हैं? ज्ञानस्वरूप नदी में स्नान या ज्ञानात्मक जल से तृषा की शान्ति और ज्ञानात्मक पत्थर से सिर तो नहीं फूट सकता?

यदि ज्ञान से भिन्न मूर्त शब्द की सत्ता न हो तो संसर का समस्त शाब्दिक व्यवहार लुप्त हो जायगा। पर प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान से अतिरिक्त वचन की सत्ता मानना आवश्यक है। फिर, 'अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक अप्रमाण' यह भेद ज्ञानों में कैसे किया जा सकता है। ज्ञान में तत्त्व–अतत्त्व, अर्थ–अनर्थ और प्रमाण–अप्रमाण

---

64 ''न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति।'' –न्यायवि. १।६९।

का भेद बाह्य वस्तु की सत्ता पर ही निर्भर करती है। स्वामी समन्तभद्र ने ठीक ही कहा है–

> ''बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नाऽसति।
> सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु।।''
>
> –आप्तमी. श्लोक ८७।

अर्थात् बुद्धि और शब्द की प्रमाणता बाह्यपदार्थ होने पर ही सिद्ध की जा सकती है, अभाव में नहीं। इसी तरह अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही सत्यता और मिथ्यापन बताया जा सकता है।

बाह्यपदार्थों में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का समागम देखकर उसके विराट् स्वरूप तक न पहुँचसकने के कारण उसकी सत्ता से ही इनकार करना, अपनी अशक्ति या नासमझी को विचारे पदार्थ पर लाद देना है।

यदि हम बाह्य पदार्थों के एकानेक स्वभावों का विवेचन नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उन पदार्थों के असितत्व से ही सर्वथा इनकार किया जाय। अनन्तधर्मात्मक पदार्थ का पूर्ण विवेचन, अपूर्ण ज्ञान और शब्दों के द्वारा असम्भव भी है। जिस प्रकार एक संवेदन ज्ञान स्वयं ज्ञेयाकार, ज्ञानाकार और ज्ञप्ति रूप से अनेक आकार–प्रकार का अनुभव में आता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आधार है।

अफलातुँ तर्क करता था कि७ ''कुर्सी का काठ कड़ा है। कड़ा न होता तो हमारे बोझ को कैसे सहारता? और काठ नर्म है, यदि नर्म न होता तो कुल्हाड़ा उसे कैसे काट सकता? और चूँकि दो विरोधी गुणों का एक जगह होना असम्भव है, इसलिए यह कड़ापन, यह नरमपन और कुर्सी सभी असत्य हैं।'' अफलातुँ विरोधी दो धर्मों को देखकर ही घबड़ा जाता है और उन्हें असत्य होने का फतवा दे देता है, जब कि स्वयं ज्ञान भी ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार इन विरोधी दो धर्मोंका आधार बना हुआ उसके सामने है। अत: ज्ञान जिस प्रकार अपने में सत्य पदार्थ है, उसी तरह संसार के अनन्त जड़ पदार्थ भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। ज्ञान पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता; किन्तु अपने–अपने कारणों से उत्पन्न अनन्त जड़ पदार्थों को ज्ञानमात्र जानता है। पृथक् सिद्ध ज्ञान और पदार्थ में ज्ञेयज्ञायकभाव होता है। चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थ स्वयं सिद्ध हैं और स्वयं अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं।

लोक और अलोक–

चेतन अचेतन द्रव्यों का समुदाय यह लोक शाश्वत और अनादि इसलिए है कि इसके घटक द्रव्य प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहने पर भी अपनी संख्या में न तो एक की कमी करते हैं और न एक की बढ़ती ही। इसलिए यह अवस्थित कहा जाता है। आकाश अनन्त है। पुद्गलद्रव्य परमाणु रूप हैं। कालद्रव्य कालाणुरूप हैं। धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशवाले हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल में ही क्रिया होती है। आकाश के जितने हिस्से तक ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक कहलाता है और उससे परे केवल आकाशमात्र अलोक। चूँकि जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य साधारण निमित्त होते हैं। अत: जहाँतक धर्म और अधर्म द्रव्य का सद्भाव है, वहीं तक जीव और पुद्गल का गमन और स्थान सम्भव है। इसीलिए आकाश के उस पुरुषाकार मध्य भाग को लोक कहते हैं जो धर्मद्रव्य के बराबर है। यदि इन धर्म ओर अधर्म द्रव्य को स्वीकार न किया जाय तो लोक और अलोक का विभाग ही नहीं बन सकता ये तो लोक के मापदण्ड के समान हैं।

लोक स्वयं सिद्ध है–

यह लोक स्वयं सिद्ध है; क्योंकि इनके घटक सभी द्रव्य स्वयं सिद्ध हैं। उनकी कार्यकारण परम्परा, परिवर्तन स्वभाव, परस्पर निमित्तता और अन्योन्य प्रभावकता, अनादि काल से बराबर चली आ रही है। इसके लिए किसी विधाता, नियन्ता, अधिष्ठाता या व्यवस्थापक की आवश्यकता नहीं है। ऋतुओं का परिवर्तन, रात–दिन का विभाग, नदी–नाले, पहाड़ आदि का विवर्तन आदि सब पुद्गलद्रव्यों के परस्पर संयोग, विभाग, संश्लेष और विश्लेष आदि के कारण सवयं होते रहते हैं। सामान्यत: हर द्रव्य अपनी पर्यायों का उपादान है और सम्प्रात सामग्री के अनुसार अपने को बदलता रहता है। इसी तरह अनन्त कार्यकारणभावों की स्वयमेव सृष्टि होती रहती है। हमारी स्थूल दृष्टि जिन परिवर्तनों को देखकर आश्चर्यचकित होती है, वे अचानक नहीं हो जाते; किन्तु उनके पीछे परिणमनों की सुनिश्चित परम्परा है। हमें तो असंख्य परिणमनों का औसत और स्थूल रूप ही दिखाई देता है। प्रतिक्षणभावी सूक्ष्म परिणमन और उनके अनन्त कार्यकारण जाल को समझना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है। दूर की बात जाने दीजिए, सर्वथा और सर्वदा अतिसमीप शरीर को ही ले लीजिएं उनके भीतर नसाजाल, रुधिरप्रवाह और पाकयन्त्र में कितने प्रकार के परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान करना दु:शक्य है। जब वे

परिवर्तन एक निश्चित धारा को पकड़कर किसी विस्फोटक राग के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, तब हमें चेत आता है।

जगत् पारमार्थिक और स्वतःसिद्ध है—

दृश्य जगत् परमाणुरूप स्वतन्त्र द्रव्यों का मात्र दिखाव ही नहीं है; किन्तु अनन्त पुद्गल परमाणुओं के बने हुए स्कन्धों का बनाव है। हर स्कन्ध के अन्तर्गत परमाणुओं में परस्पर इतना प्रभावक रासायनिक सम्बन्ध है कि सबका अपना स्वतन्त्र परिणमन होते हुए भी उनके परिणमनों में इतना सादृश्य होता है कि लगता है, जैसे इनकी पृथक् सत्ता ही न हो। एक आम के फलरूप स्कन्ध में सम्बद्ध परमाणु अमुक काल तक एक जैसा परिणमन करते हुए भी परिपाक काल में कहीं पीले, कहीं हरे, कहीं खट्टे, कहीं मीठे, कहीं पक्वगन्धी, कहीं आमगन्धी, कहीं कोमल और कहीं कठोर आदि विविध प्रकार के परिणमनों को करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी तरह पर्वत आदि महास्कन्ध सामान्यतया स्थूलदृष्टि से एक दिखाई देते हैं, पर हैं वे असंख्य पुद्गलाणुओं के विशिष्ट सम्बन्धों को प्राप्त पिण्ड ही।

जब परमाणु किसी स्कन्ध में शामिल होते हें, तब भी उनका व्यक्तिशः परिणमन रुकता नहीं है, वह तो अविरामगति से चलता रहता है। उसके घटक सभी परमाणु अपने बलाबल के अनुसार मोर्चेबन्दी करके परिणमन युद्ध आरम्भ करते हैं और विजयी परमाणुसमुदाय शेष परमाणुओं को अमुक प्रकार का परिणमन करने के लिए बाध्य कर देते हैं। यह युद्ध अनादि काल से चला है और अनन्तकाल तक बराबर चलता जायगा। प्रत्येक परमाणु में भी अपनी उत्पादन और व्यय शकित का द्वन्द्व सदा चलता रहता है। यदि आप सीमेन्ट फैक्टरी के उस बायलरा को ठण्डे शीशे से देखें तो उसमें असंख्य परमाणुओं की अतितीव्र गति से होनेवाली उथल—पुथल आपके माथे को चकरा देगी।

तात्पर्य यह कि मूलतः उत्पाद—व्ययशील और गतिशील परमाणुओं के विशिष्ट समुदायरूप विभिन्न स्कन्धों का समुदाय यह दृश्य जगतृ ''प्रतिक्षणं गच्छतीति जगत्'' अपनी इस गतिशील 'जगत्' संज्ञा को सार्थक कर रहा है। इस स्वाभाविक, सुनियन्त्रित ?, सुव्यवस्थित, सुयोजित और सुसम्बद्ध विश्व का नियोजन स्वतः है उसे किसी सर्वान्तर्यामी की बुद्धि की कोई अपेक्षा नहीं है।

यह ठीक है कि मनुष्य प्रकृति के स्वाभाविक कार्यकारणतत्त्वों की जानकारी करके उनमें तारतम्य, हेर—फेर और उन पर एक हद तक प्रभुत्व स्थापित कर सकता है और इस यान्त्रिक युग में मनुष्य ने

विशालकाय यन्त्रों में प्रकृति के अणुपुञ्जों को स्वेच्छित परिणमन करने के लिए बाध्य भी किया हैं और जब तक यन्त्र का पंजा उनको दबोचे है तब तक वे बराबर अपनी द्रव्ययोग्यता के अनुसार उस रूप से परिणमन कर भी रहे हैं और करते भी रहेंगे; किन्तु अनन्त महासमुद्र में बुद्‌बुद् के समान इन यन्त्रों का कितना—सा प्रभुत्व? इसी तरह अनन्त परमाणुओं के नियन्त्रक एक ईश्वर की कल्पना मनुष्य के अपने कमजोर आश्चर्यचकित दिमाग की उपज है। जब बुद्धि के उषाकाल में मानव ने एकाकए भयंकर तूफान, गगनचुम्बी पर्वत मालाएँ, विकराल समुद्र और फटती हुई ज्वालामुखी के शैलाव देखे तो यह सिर पकड़कर बैठ गया और अपनी समझ में न आनेवाली अदृश्य शक्ति के आगे उसने माथा टेका और हर आश्चर्यकारी वस्तु में उसे देवत्व की कल्पना हुई। इन्हीं असंख्य देवों में से ऐ देवों का देव महादेव भी बना, जिसकी बुनियाद भय, कौतूहल और आश्चर्य की भूमि पर खड़ी हुई है और कायम भी उसी भूमि पर रह सकती है।

५. पदार्थ का स्वरूप

हम पहले बता आये हैं कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिलक्षण हे। द्रव्य का सामान्यलक्षण परिणमन की दृष्अि से उत्पादव्यय—ध्रौव्यात्मकत्व ही है। प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण और पर्यायों का आधार है।[६५] गुण द्रव्य में रहते हैं, पर स्वयं निर्गुण होते हैं।[६६] ये गुण द्रव्य के स्वभाव होते हैं। इन्हीं गुणों के परिणमन से द्रव्य का परिणमन लक्षित होता है। जैसे कि चेतन द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीय्र आदि अनेक सहभावी गुण हैं ये गुण प्रतिक्षण द्रव्य के उत्पाद—व्यय स्वभाव के अनुसार किसी न किसी अवस्था को प्रतिक्षण धारण करते रहते हैं। ज्ञान गुण जिस समय जिस पदार्थ को जानता है, उस समय तदाकार होकर 'घटज्ञान, पटज्ञान' आदि विशेष पर्यायों को प्राप्त होता है। इसी तरह सुख आदि गुण भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्री के अनुसार तरतमादि पर्यायों को धारण करते हैं। पुद्‌गल का एक परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श इन विशेष गुणों का युगपत् अविरोधी आधार है। परिवर्तन पर चढ़ा हुआ यह पुद्‌गल परमाणु अपने उत्पाद और व्यय को भी इन्हीं गुणों के द्वारा प्रकट करता है, अर्थात् रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि गुणों का परिवर्तन ही द्रव्य का परिवर्तन है। इन गुणों की वर्तमानकालीन जो अवस्था होती है वह पर्याय का द्रव्य ही ठोस और मौलिक आधार है। यह द्रव्य गुणों की कोई—न—कोई पर्याय प्रतिक्षण धारण करता है और किसी—न—किसी पूर्व पर्याय को छोड़ता है।

---

65 ''गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।'' —तत्त्वार्थसूत्र ५।३८।

66 ''द्रव्याश्रया निर्गुण गुणाः।'' —तत्त्वार्थसूत्र ५।४०।

गुण और धर्म–

वस्तु में गुण परिगणित हैं; किन्तु पर की अपेक्षा व्यवहार में आनेवाले धर्म अनन्त होते हैं। गुण स्वभावभूत हैं और इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है, जब कि धर्मों की प्रतीति परसापेक्ष होती है और व्यवहार के लिए इनकी अभिव्यक्ति वस्तु की योग्यता के अनुसार होती रहती है। जीव के असाधारण गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सुख औ वीर्य आदि और साधारण गुण हैं वस्तुत्व, प्रमेयत्व, सत्त्व आदि। पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श असाधारण गुण हैं। धर्म द्रव्य का गतिहेतुत्त्व, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्त्व, आकाश का अवगाहननिमित्तत्व और काल का वर्तनाहेतुत्व आसाधारण गुण है। इनके साधारण गुण वस्तुत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व और अभिधेयत्व आदि हैं। जीव में ज्ञानादि गुणों की सत्ता और प्रतीति परनिरपेक्ष अर्थात् स्वाभाविक है; किन्तु छोटापन–बड़ापन, पितृत्व–पुत्रतत्व और गुरुत्व–शिष्यत्व आदि धर्म परसापेक्ष हैं। यद्यपि इनकी योग्यता जीव में है, पर ज्ञानादि के समान ये स्वरसतः गुण नहीं है। इसी तरह पुद्गल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक–परनिरपेक्ष गुण हैं; परन्तु छोटापन, बड़ापन, एक, दो, तीन आदि संख्याएँ और संकेत के अनुसार होनेवाली शब्दवाच्यता आदि ऐसे धर्म हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहारार्थ होती है। एक ही पदार्थ अपने से भिन्न अनन्त दूर–दूरतर और दूरतम पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार की दूरी और समीपता रखता है। इसी तरह अपने से छोटक और बड़े अनन्त पर पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का छोटापन और बड़ापन रखता है। पर ये सब धर्म चूँकि परसापेक्ष प्रकट होनेवाले हैं, अतः इन्हें गुणों की श्रेणी में नहीं रख सकते। गुण का लक्षण आचार्य ने निम्नलिखित प्रकार से किया है–

"गुण इति दव्वविहाणं दव्ववियारो य पज्जवो भणियो।"[६७]

अर्थात्– गुण द्रव्य का विधान, यानी निज प्रकार है और पर्याय द्रव्य का विकार अर्थातृ अवस्थाविशेष है। इस तरह द्रव्य परिणमन की दृष्टि से गुणपर्यायात्मक होकर भी व्यवहार में अनन्त पर द्रव्यों की अपेक्षा अनन्तधर्मा रूप से प्रतीति का विषय होता है।

अर्थ सामान्यविशेषात्मक है–

बाह्य अर्थ की पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाने के बाद विचारणीय प्रश्न यह है कि अर्थ का वास्तविक स्वरूप क्या है? हम पहले बता आये हैं कि सामान्यतः प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक और

---

[67] उद्धृत–सर्वार्थसिद्धि ५।३८।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यशाली है। इसका संक्षेप में हम सामान्यविशेषात्मक के[६८] रूप में भी विवेचन कर सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अस्तित्व हैं– स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य को अन्य सजातीय या विजातीय द्रव्य से असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसी के कारण प्रत्येक द्रव्य की पयाएँ अपने से भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्यायों से असंकीर्ण बनी रहती हैं और अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखती हैं। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतर द्रव्यों से विवक्षितद्रव्य की व्यावृत्ति कराता है, वहाँ अपनी कालक्रम से होनेवाली पर्यायों में अनुगत भी रहता है। इस स्वरूपास्तित्व से अपनी पर्यायों में अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है और इतर द्रव्यों से व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्व को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। यही द्रव्य कहलाता है, क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायों में द्रवित होता है संततिपरम्परा से प्राप्त होता है। बौद्धों की संतति और इस स्वरूपास्तित्व में निम्नलिखित भेद विचारणीय है।

स्वरूपास्तित्व और सन्तान–

जिस तरह जैन एक स्ववरूपास्तित्व अर्थात् ध्रौव्य या द्रव्य मानते हैं, उसी तरह बौद्ध सन्तान स्वीकार करते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूप से परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्यायों के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश बिल्कुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश परिवर्तनशील; तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षों में दिये जानेवाले दोष ऐसी वस्तु में आएँगे। कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायों के परिवर्तित होने पर द्रव्य में कोई अपरिवर्तिष्णु अंश बच ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही सिद्ध होंगे। इस तरह कोई एक मार्ग ही पकड़ना होगा– या तो वस्तु नित्य मानी जाय, या बिल्कुल परिवर्तनशील यानी चेतन वस्तु भी अचेतनरूप से परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओं के मध्य का ही वह मार्ग है, जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न बिल्कुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला, जिससे एक द्रव्यरूप से परिणत हो जाय।

सीधे शब्दों में ध्रौव्य की यही परिभाषा हो सकती है कि ''किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूप से परिणमन नहीं होना।' इस

---

68 ''द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनम्।'' –न्यायविनि. १।३।

स्वरूपास्तित्व का नाम ही द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्धों के द्वारा मानी गई सन्तान का भी यही कार्य है। वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही समन्तरप्रत्यय के रूप में कार्यकारणभाव बनाता है, अन्य सजातीय या विजातीय क्षणान्तर से नहीं। तात्पर्य यह है कि इस सन्तान के कारण एक पूर्वचेतनक्षण अपनी धारा के उत्तरचेतनक्षण के लिए ही समनन्तर प्रत्यय यानी उपादान होता है, अन्य चेतनान्तर या अचेतनक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप के निरूपण में।

बौद्ध[६९] इस सन्तान को पंक्ति और सेना व्यवहार की तरह 'मृषा' कहते हैं। जैसे दस मनुष्य एक लाइन में खड़े हैं ओर अमुक मनुष्य घोड़े आदि का एक समुदाय है, तो उनमें पंक्ति या सेना नाम की कोई एक अनुस्यूत वस्तु नहीं है, फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है, उसी तरह पूर्व और उत्तर क्षणों में व्यवहृत होनेवाली सन्तान भी 'मूषा' याने असत्य है। इस सन्तान की स्थिति से द्रव्य की स्थिति विलक्षण प्रकार की है। वह किसी मनुष्य के दिमाग में रहनेवाली केवल कल्पना नहीं है; किन्तु क्षण की तरह सत्य है। जैसे पंक्ति के अन्तर्गत दस भिन्न सत्तावाले पुरुषों में एक पंक्ति नाम का वास्तविक पदार्थ नहीं है, फिर भी इसप्रकार के संकेत से पंक्ति व्यवहार हो जाता है, उसी तरह अपनी क्रमिक पर्यायों में पाया जानेवाला स्वरूपास्तित्व भी सांकेतिक नहीं है; किन्तु परमार्थसत् है। 'मृषा' से सत्यव्यवहार नहीं हो सकता। बिना एक तात्त्विक स्वरूपास्तित्व के क्रमिक पर्याएँ एक धारा में असंकरभाव से नहीं चल सकती। पंक्ति के अन्तर्गत एक पुरुष अपनी इच्छानुसार उस पंक्ति से विच्छिन्न हो सकती है और न द्रव्यान्तर में विलीन ही और न अपना क्रम छोड़कर आगे जा सकती है और न पीछे।

सन्तान का खोखलापन—

बौद्ध के सन्तान की अवास्तविकता और खोखलापन तब समझमें आता है, जब वे निर्वाण में चित्तसंतति का समूलोच्छेद स्वीकार कर लेते हें, अर्थात् सर्वथा अभाववादी निर्वाण में यदि चित्त दीपक की तरह बुझ जाता है, तो चित्त एक दीर्घकालिक धारा के रूप में ही रहनेवाला अस्थायी पदार्थ रहा। उसका अपना मौलिकत्व भी सार्वकालिक नहीं हुआ; किन्तु इस तरह एक स्वतन्त्र पदार्थ का सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है। यद्यपि बुद्ध ने निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना मौन रखकर इस प्रश्न

69 ''सन्तानः समुदायश्च पंक्तिसेनादिवन्मृषा।''

—बोधिचर्या., पृ. ३३४।

को अव्याकृत कोटि में रखा था, किन्तु आगे के आचार्यों ने उसकी प्रदीप–निर्वाण की तरह जो व्याख्या की है, उससे निर्वाण का उच्छेदात्मक स्वरूप ही फलित होता है। यथा–

''दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
आत्मा तथा निवृतिमभ्युपेतः
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।''

–सौन्दरनन्द
१६।२८–२९।

अर्थात्– जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न किसी दिशा को जाता है, न विदिशा को, न आकाश को और न पाताल को; किन्तु तेल के क्षय हो जाने पर केवल बुझ जाता है, उसी तरह निर्वाण अवस्था में चित्त न दिशा को जाता है, न विदिशा को, न आकाश को और न पृथ्वी को। वह क्लेश के क्षय से केवल शान्त हो जाता है।

उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रातीतिक है–

इस तरह जब उच्छेदात्मक निर्वाण में चित्त की सन्तान भी समाप्त हो जाती है, तो उस 'मृषा' सन्तान के बल पर संसार अवस्था में कर्मफलसम्बन्ध, बन्ध, मोक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदि की व्यवस्थाएँ बनाना कच्ची नीवं पर मकार बनाने के समान हैं। झूठी सन्तान में कर्मवासना का संस्कार मानकर उसी में कपास के बीज में लाख के संस्कार से रंगभेद की[७०] कल्पना की तरह फल की संगति बैठाना भी नहीं जम सकता। कपास के बीज के जिन परमाणुओं को लाख के रंग से सींचा था, वे ही स्वरूपसत् परमाणुपर्याय बदलकर रुई के पौधे की शकल में विकसित हुए हैं और उन्हीं में उस संस्कार का फल विलक्षण लाल रंग के रूप में आया है। यानी इस दृष्आन्त में सभी चीजें वस्तुसतृ है, 'मृषा' नहीं; किन्तु जिस सनतान पर बौद्ध कर्मवासनाओं का संस्कार देना चाहते हें और सि उसका फल भुतवाना चाहते हैं, उस सन्तान को पंक्ति की तरह बुद्धिकल्पित नहीं माना जा सकता और न उसका निर्वाण अवस्था में समूलोच्छेद ही स्वीकार किया

---

70 ''यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा।।''

–तत्त्वसं. पं., पृ. १८२ में उद्धृत।

जा सकता है। अत: निर्वाण का यदि कोई युक्तिसिद्ध और तात्त्विक स्वरूप बन सकता है तो निरास्रवचित्तोत्पाद रूप ही, जैसा कि तत्त्वसंग्रह की पञ्जिक (पृष्ठ १८४) में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक से फलित होता है–

''चित्तमेव हि संसारी रागादिक्लेशवासितमृ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते।।''

अर्थात्– रागादि क्लेश से दूषित चित्त ही संसार है और रागादि से रहित वीतराग चित्त ही भवान्त अर्थात् मुक्ति है।

जब वही चित्त संसार अवस्था से बदलता–बदलता मुक्ति अवस्था में निरास्रव हो जाता है, तब उसकी परम्परारूप संतति को सर्वथा अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। इस तरह द्रव्य का प्रतिक्षण पर्याय रूप से परिवर्तन होने पर भी जो उसकी अनाद्यनन्त स्वरूपस्थिति है और जिसके कारण उसका समूलोच्छेद नहीं हो पाता, वह स्वरूपास्तित्व या ध्रौव्य है। यह काल्पनिक न होकर परमार्थसत्य है। इसी को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं।

दो सामान्य–

दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है, इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्यों में 'गौ: गौ:' या 'मनुष्य: मनुष्य:' इसप्रकार के अनुगत व्यवहार के किसी नित्य, एक और अनेकानुगत गोत्व या मनुष्यत्व नाम के सामान्य की कल्पना करना उचित नहीं है; क्योंकि दो स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्यों में अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता। वह उन दोनों द्रव्यों की संयुक्त पर्याय तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि एक पर्याय में दो अतिभिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते। फिर अनुगत व्यवहार तो संकेत ग्रहण के बाद होता है। जिस व्यक्ति ने अनेक मनुष्यों में बहुत से अवयवों की समानता देखकर सादृश्य की कल्पना की है, उसी को उस सादृश्य के संस्कार के कारण 'मनुष्य: मनुष्य:' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है। अत: दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत प्रतीति का कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना चाहिए, जो कि प्रत्येक द्रव्य में परिसमाप्त होता है। ऊर्ध्वता सामान्य, जो स्वरूपास्तित्वरूप है, ऊपर कहा जा चुका है। इस तरह दो सामान्य हैं।

दो विशेष–

इसी तरह एक द्रव्य की पर्यायों में कालक्रम से व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला पर्याय नाम का विशेष है। दो द्रव्यों में व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक नामका विशेष है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य की दो पर्यायों में अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वता[७१] सामान्य से होता है और व्यावृत्त प्रत्यय पर्याय[७२] नाम के विशेष से। दो विभिन्न द्रव्यों में अनुवृत्त प्रत्यय तिर्यक् सामान्य[७३] (सादुश्यास्तित्व) से तथा व्यावृत्त प्रत्यय व्यतिरेक[७४] नामक विशेष से होता है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक–

जगत् का प्रत्येक पदार्थ इसप्रकार सामान्य–विशेषात्मक है। पदार्थ का सामान्य विशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है जो अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है। पदार्थ की उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकता परिणमन से सम्बन्ध रखती है। ऊपर जो सामान्य और विशेष को धर्म बताया है, वह तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक विशेष से ही सम्बन्ध रखता है। द्रव्य के ध्रौव्यांश को ही ऊर्ध्वता सामान्य और उत्पाद–व्यय को ही पर्याय नामक विशेष कहते हैं। वर्तमान के प्रति अतीत का और भविष्य के प्रति वर्तमान का उपादान कराण होना, यह सिद्ध करता है कि तीनों क्षणों की अविच्छिन्न कार्यकारण परम्परा है। प्रत्येक पदार्थ की यह सामानयविशेषात्मकता उसके अनन्त धर्मात्मकत्व का ही लघु स्वरूप है।

तिर्यक् सामान्यरूप सादृश्य की अभिव्यक्ति यद्यपि परसापेक्ष है; किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य जुदा–जुदा है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येक में परिसमाप्त है।

पदार्थ न तो केवल सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही। यदि केवल ऊर्ध्वतासामान्यात्मक अर्थात् सर्वथा नित्य अविकारी पदार्थ स्वीकार किया जाता है तो वह त्रिकाल में सर्वथा एकरस, अपरिवर्तनशील और कूटसथ बना रहेगा। ऐसे पदार्थ में कोई परिणमन न होने से जगत् के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जाएँगे। कोई भी क्रिया फलवती नहीं हो सकेगी। पुण्य–पाप ओर बन्ध–मोक्षादि व्यवस्था नष्ट हो जायगी। अत: उस वस्तु में परिवर्तन तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा। हम नित्यप्रति देखते हैं कि बालक दोज के चन्द्रमा के समान बढ़ता है, सीखता है और जीवन–विकास को प्राप्त कर रहा है। जड़

---

71 ''परापरविवर्तव्यापि द्रव्यम् ऊर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।'' –परी. ४।५।

72 ''एकस्मिद् द्रव्ये क्रमभाविन: परिणामा: पर्याय: आत्मनि हर्षविषादादिवत्।''
–परी. ४।८।

73 ''सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गीत्ववत्।'' –परीत्र ४।४।

74 ''अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवतृ।'' –परीक्षामुख ४।९।

जगत् के विचित्र परिवर्तन तो हमारी आँखों के सामने है। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हों तो उनमें क्रम या युगपत् किसी भी रूप से कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रिया के अभाव में उनकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाती है।

इसी तरह यदि पदार्थ को पर्याय नामक विशेष के रूप में ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् सर्वथा क्षणिक माना जाय, यानि पूर्वक्षण का उत्तरक्षण के साथ कोई सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय; तो देन–लेन, गुरु–शिष्यादि व्यवहार तथा बन्ध–मोक्षादि व्यवस्थाएँ समाप्त हो जाएँगी। न कारण–कार्यीााव होगा और न अर्थक्रिया ही। अत: पदार्थ को ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय नामक विशेष के रूप में सामान्य विशेषात्मक यह द्रव्यपर्यायात्मक ही स्वीकार करना चाहिए।

५.षट्द्रव्य विवेचन

छह द्रव्य–

द्रव्य का सामान्य लक्षण यह है– जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायों को क्रमश: प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त[७५] होता है। इसका विशेष विवेचन पहले किया जा चुका है। उसके मूल छह भेद हैं– १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश, ६. काल। ये छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

१. जीव द्रव्य–

जीव द्रव्य को, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शन में एक स्वतन्त्र मौलिक माना है। उसका सामान्यलक्षण उपयोग[७६] है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीव का आसाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से इस चैतन्य के ज्ञान और दर्शन रूप से दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेय को जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। चूँकि उसका अनादिकाल से सूक्ष्म कार्मण शरीर से सम्बन्ध है, अत: वह कर्मोदय से प्राप्त शरीर के आकार के अनुसार

---

75 ''अपरिचत्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति बुच्चंति।।३।।'' –प्रवचनसार।
''दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं।'' –पंचा. गा. ९।

76 ''उपयोगो लक्षणम्'' –तत्त्वार्थसूत्र २।८।

छोटे—बड़े आकार को धारण करता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित गाथा में बहुत स्पष्ट बताया गया है—

> ''जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।''
>
> —द्रव्यसंग्र
> ह गाथा २।

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीव में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार पुद्गल के धर्म नहीं पाये जाते, इसलिए वह स्वभाव से अमूर्तिक है। फिर भी प्रदेशों में संकोच और विस्तार होने से वह अपने छोटे—बड़े शरीर के परिमाण हो जाता है। आत्मा के आकार के विषय में भारतीय दर्शनों में मुख्यतया तीन मत हैं।[७७] उपनिषद् में आत्मा के सर्वगत और व्यापक होने का जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके[७८] अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप होने का भी कथन है।

व्यापक आत्मवाद—

वैदिक दर्शनों में प्राय: आत्मा को अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होने पर भी शरीर और मन के सम्बन्ध से शरीरावच्छिन्न (शरीर के भीतर के) आत्मप्रदेशों में ज्ञानादि विशेषगुणों की उत्पत्ति होती है। अमूर्त होने के कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमें गति नहीं होती। शरीर और मन चलता है, और अपने से सम्बद्ध आत्मप्रदेशों में ज्ञानादि की अनुभूति का साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवाद में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि— एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागों में सगुण और कुछ भागों में निर्गुण कैसे रह सकता है? फिर जब सब आत्माओं का सम्बन्ध सबके शरीर के साथ है, तब अपने—अपने सुख, दुख और भोग का नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक के अदृष्ट का सम्बन्ध उसकी आत्मा की तरह अन्य शेष आत्माओं के साथ भी है। शरीर से बाहर अपनी आत्मा की सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापक पक्ष में एक के भोजन करने पर दूसरे को तृप्ति होनी

---

[77] ''सर्वव्यापिनमात्मानम्।'' —श्वे. १।१६।

[78] ''अंगुष्ठमात्र: पुरुष:'' —श्वे. ३।१३। कठो. ४।१२।
अणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा......'' —छान्दो. ३।१४।३।

चाहिए और इस तरह समस्त व्यवहारों का सांकर्य हो जायगा। मन और शरीर के सम्बन्ध की विभिन्नता से व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्ष की व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती हैं। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते है, वहीं उसके आधारभूत द्रव्य का सद्भाव माना जाता है। गुणों के क्षेत्र से गुणी का क्षेत्र न तो बड़ा होता है, और न छोटा ही। सर्वत्र आकृति में गुणी के बराबर ही गुण होते हें। अब यदि हम विचार करते हैं तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्मा के गुण हमें शरीर के बाहर उपलब्ध नहीं होते तब गुणों के बिना गुणी का सद्भाव शरीर के बाहर कैसे माना जा सकता है?

अणु आत्मवाद—

इसी तरह आत्मा को अणुरूप मानने पर, अँगूठे में काँटा चुभने से सारे शरीर के आत्मप्रदेशों में कम्पन्न और दु:ख का अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप आत्मा की सारे शरीर में अतिशीघ्र गति मानने पर भी इस शंका का उचित समाधान नहीं होता; क्योंकि क्रम अनुभव में नहीं आत। जिस समय अणु आत्मा का चक्षु के साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिननक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियों के साथ युगपत् सम्बन्ध होना असम्भव है; किन्तु नीबू को आँख से देखते ही जिह्वा इन्द्रिय में पानी का आना यह सिद्ध करता है कि दोनों इन्द्रियों के प्रदेशों से आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिर से लेकर पैर तक अणुरूप आत्मा के चक्कर लगाने में कालभेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्य से ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूति के विरुद्ध है। यही कारण है कि जैनदश्नन में आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार की शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्ध में उठता है कि— 'अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे—बड़े शरीर में भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप?'; किन्तु जब अनादिकाल से इस आत्मा में पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभाव का आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत हैं? 'इस प्रकार का एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमें कि स्वभाव से संकोच और विस्तार होता है।' यह मानने में युक्ति का बल अधिक है; क्योंकि हमें अपने ज्ञान और सुखादि गुणों का अनुभव अपने शरीर के भीतर ही होता है।

भूत—चैतन्यवाद—

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टय के विशिष्ट रासायनिक मिश्रण से शरीर की उत्पत्ति की तरह आत्मा की

भी उत्पत्ति मानते हैं। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थों के सड़ाने से शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टय के विशिष्ट संयोग से चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अत: चैतन्य आत्मा का धर्म न होकर शरीर का ही धर्म है और इसलिए जीवन की धारा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त ही चलती है। मरण–काल में शरीरयन्त्र में विकृति आ जाने से जीवन–शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदों में भी देखा जाता है।

देह से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दु:खी' आदि के रूप में प्रत्येक प्राणी के अनुभव में आता है। मनुष्यों के अपने–अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्म में अपना विकास करते हैं। जन्मान्तरस्मरण की अनेकों घटनाएँ सुनी गई हें, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीर को छोड़कर आत्मा नये शरीर को धारण करता है। यह ठीक है कि– इस कर्मपरतन्त्र आत्मा की स्थिति बहुत कुछ शरीर और शरीर के अवयवों के आधीन हो रही है। मस्तिष्क के किसी रोग से विकृत हो जाने पर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृति के गर्भ में चला जाता है। रक्तचाप की कमी–बेशी होने पर उसका हृदय की और मनोभावों के ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियों ने भी थाइराइड और पिचुयेटरी (Thyroyd and Pituatury) ग्रन्थियों में से उत्पन्न होनेवाले हारमोन (Hormone) नामक द्रव्य के कम हो जाने पर ज्ञानादिगुणों में कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया जाता है; किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के मानने पर ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि संसारी दशा में आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणों का विकास भी बिना इन्द्रियादि के सहारे नहीं हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकास में उसी तरह सहारा देते हैं, जैसे कि झरोखे से देखनेवाले पुरुष को देखने में झरोखा सहारा देता है।[७९] कहीं–कहीं जैनग्रन्थों में जीव के स्वरूप का वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुत: वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीव का वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियों के सहारे होता है वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्त की दृष्िअ से उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूप की दृष्टि से नहीं। आत्मवाद के प्रसंग

---

79 ''जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।''
–उद्धृतं, धवला टी. प्र. पु., पृ. ११८।

में जैनदर्शन का उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियों के द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपों का निराकरण हो जाता है।

इच्छा आदि स्वतन्त्र आत्मा के धर्म है—

इच्छा, संकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्क की उपज नहीं कही जा सकती; क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्र में स्वयं चलने, अपने आपको टूटने पर सुधारने और अपने सजातीय को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्था के अनुसार बढ़ना, घाव का अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकता से नहीं हो सकता। हजारों प्रकार के छोटे—बड़े यन्त्रों का आविष्कार, जगत् के विभिन्न कार्य—कारणभावों का स्थिर करना, गणित के आधार पर ज्योतिषविद्या का विकास, मनोरम कल्पनाओं से साहित्याकाश को रंग—विरंगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्य का ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु—परिमाण या मध्यम परिणाम का हमारे सामने हे। अनुभव—सिद्ध कार्यकारणभाव हमें उसे संकोच और विस्तार—स्वभाववाला स्वभावत: अमूर्तिक द्रव्य मानने को प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्य के गुणों का विकास नियत प्रदेशों में नहीं हो सकता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्मा को शरीरपरिमाण मानने पर भी देखने की शक्ति आँख में रहनेवाले आत्मप्रदेशों में ही मानी जाती है और सूँघने की शक्ति नाक में रहनेवाले आत्मप्रदेशों में ही, उसी तरह आत्मा को व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशों में ज्ञानादि गुणों का विकास माना जा सकता है? परन्तु शरीर प्रमाण आत्मा में देखने और सूँघने की शक्ति केवल उन—उन आत्मप्रदेशों में ही नहीं मानी गई है, अपितु सम्पूर्ण आत्मा में। वह आत्मा अपने पूर्ण शरीर में सक्रिय रहता है, अत: वह उन—उन चक्षु, नाक आदि उपकरणों के झरोखों से रूप और गन्ध आदि का परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्म—संस्कारों के कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न—विच्छिन्न रूप से प्रकट होती है। जब कर्मवासनाओं और सूक्ष्म कर्मशरीर का सम्पर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूप में लीन हो जाता है। उस समय इसके आत्मप्रदेश अन्तिम समय के आकार रह जाते हैं; क्योंकि उनके फेलने और सिकुड़ने का कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीर के आकार रह जाना स्वाभाविक ही है।

संसार अवस्था में उसकी इतनी परतन्त्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्ति का विकास बिना शरीर और इन्द्रियों के सहारे नहीं कर सकता है और तो जाने दीजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत शक्ति को भी उपयोग में नहीं ला सकता। देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियाएँ जैसे इन्द्रियों के बिना नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी बिना मन के नहीं हो पाते; और मन की गति–विधि समग्र शरीर–यन्त्र के चालू रहने पर निर्भर करती है। इसी अत्यन्त परनिर्भरता के कारण जगत् के अनेक विचारक इसकी स्तन्त्र सत्ता मानने को भी प्रस्तुत नहीं है। वर्तमान शरीर के नष्ट होते ही जीवनभार का उपार्जित ज्ञान, कला–कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूल रूप में समापत हो जाती हैं। इनके अतिसूक्ष्म संस्कार–बीज ही शेष रह जाते हैं। अतः प्रतीति, अनुभव ओर युक्ति हमें सहज ही इस नतीजे पर पहुँचा देती हैं कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है; किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्ति को विकसित करनेवाला, स्वतन्त्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्व के खासे प्रमाण है। राग और द्वेष का होना तथा उनके कारण हिंसा आदि के आम्भ में जुट जाना भौतिकयन्त्र का काम नहीं हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वयं बिगड़ जाय और बिगड़ने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ–बूझकर चले, यह असम्भव है।

कर्ता और भोक्ता–

आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता है और उनके फलों का भोक्ता है। सांख्य की तरह वह अकर्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृति के द्वारा किये गए कर्मों का भोक्ता ही। इस सर्वदा परिणामी जगत् में प्रत्येक पदार्थ का परिणमन–चक्र प्राप्त सामग्री से प्रभावित होकर और अन्य को प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्मा की कोई भी क्रिया, चाहे वह मन से विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीर की प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीर में और आसपास के वातावरण में निश्चित असर डालती है। आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्र से प्रमाणित की जा चुकी है। जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्ति के उठ जाने के बाद अमुक समय तक वहाँ के वातावरण में उस व्यक्ति का प्रतिबिम्ब कैमरे से लिया गया है। विभिन्न प्रकार के वातावरण में उस व्यक्ति का प्रतिबिम्ब कैमरे से लिया गया है। विभिनन प्रकार के विचारों और भावनाओं की प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्क में पड़ती हैं। यह भी प्रयोगों से सिद्ध किया जा चुका है।

चैतन्य इन्द्रियों का धर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियों के बने रहने पर चैतन्य नष्ट हो जाता है। यदि प्रत्येक इन्द्रिय का धर्म चैतन्य माना जाता है; तो एक इन्द्रिय के द्वारा जाने गये पदार्थों का इन्द्रियान्तर से अनुसन्धान नहीं होना चाहिए। पर इमली को या आम की फाँक को देखते ही जीभ में पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियों का प्रयोक्ता कोई पृथक् सूत्र–संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं, अतः अचेतन से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हो; तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि का अन्वय चैतन्य में उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टी के रूपादि का अन्वय मिट्टी से उत्पन्न घड़े में होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए बालक में दूध पीने आदि की चेष्टाएँ उसके पूर्वभव के संस्कारों को सूचित करती हैं। कहा भी है–

> ''तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेः भवस्मृते।
> भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः।।''
> –उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४।८।

अर्थात– तत्काल उत्पन्न हुए बालक की स्तनपान की चेष्टा से, भूत, राक्षस आदि के सद्भाव से, परलोक के स्मरण से और भौतिक रूपादि गुणों का चैतन्य में अन्वय न होने से एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

रागादि वातपित्तादि के धर्म नहीं–

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्य के ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्यों के धर्म नहीं हैं, क्योंकि[८०] वातप्रकृतिवाले के भी पित्तजन्य द्वेष और पित्तप्रकृतिवाले के भी कफजन्य राग और कफ–प्रकृतिवाले के भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादि की वृद्धि में रागादि की वृद्धि नहीं देखी जाती, अतः इन्हें बात, पित्त आदि का धर्म नहीं माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हों, तो सभी वातादि–प्रकृतिवालों के समान रागादि होने चाहिए। पर ऐसा नहीं देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओं से रागादि का क्षय नहीं होना चाहिए।

विचार वातावरण बनाते है–

---

80 ''व्यभिचारान्न वातादिधर्मः, प्रकृतिसंकरात्।' –प्रमाणवा. १।१५०।

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थों का स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करने का है और वातावरण के अनुसार प्रभावित होने का तथा वातावरण को भी प्रभावित करने का है; तब इस बात के सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारों का भौतिक जगत् पर क्या असर पड़ता है? हमारा छोटे से छोटा शब्द ईथर की तरंगों में अपने वेग के अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो–यन्त्रों के द्वारा कानों से सुनी जा सकती है और जहाँ प्रेषक रेडियो–यन्त्र मौजूद हैं, वहाँ से तो यथेच्छ शब्दों को निश्चित स्थानों पर भेजा जा सकता है। ये संस्कार वातावरण पर सूक्ष्म और स्थूल रूप में बहुत काल तक बने रहते हैं। काल की गति उन्हें धुँधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रिया से आस–पास के वातावरण में एक प्रकार की खलबली मच जाती है और उस विचार की शक्ति के अनुसार वातावरण में क्रिया–प्रतिक्रिया होती है। जगत् के कल्याण और मंगल–कामना के विचार चित्त को हल का और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके संस्कार वातावरण पर एक रोशनी डालते हैं तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओं को अपने शरीर के भीतर से ही, या शरीर के बाहर से खींच लेते हैं। उन विचारों के संस्कारों से प्रभावित उन पुद्गल द्रव्यों सम्बन्ध अमुक कालतक उस आत्मा के साय बना रहता है। इसी के परिपाक से आत्मा कालान्तर में अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओं को पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्हीं विचारों से प्रभावित होकर खिंचा बँधा है, उसमें भी कालान्तर में दूसरे–दूसरे विचारों से बराबर हेर–फेर होता रहता है। अन्त मं जिस–जिस प्रकार के जितने संसकार बचे रहते हैं; उस–उस प्रकार का वातावरण उस व्यक्ति को उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिबिम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भाव से होनेवाले प्रत्येक स्पन्दन के संस्कारों को वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्रिया को हम 'प्रभाव' शब्द से कहते हैं। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्ति को देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है? और क्यों अचानक किसी व्यक्ति को देखकर जी घृणा और क्रोध के भावों से भर जाता है? इसका कारण चित्त की वह प्रतिबिम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखों की दूरबीन से शरीर की स्थूल दीवार को पार करके सामनेवाले के मनोभावों का बहुत कुछ आभास पा लेती है। इसीलिए तो एक प्रेमी ने अपने मित्र के इस प्रश्न के उत्तर में कि "तुम मुझे कितना चाहते हो?" कहा था कि "अपने हृदय में देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोर ने प्रेम की व्याख्या इन शब्दों में की

है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावों में बहने लगे वही प्रेम है और सौन्दर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यों मुझे अच्छे लगते हो?'' इसीलिए प्रेम और सौन्दर्य की भावनाओं के कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचार से उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभाव का परस्पर आदान–प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकार का भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेश में गये पति के ऊपर आपत्ति आने पर पतिपरायणा नारी का सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्र के कारण होता है।

इसीलिए जगत् के महापुरुषों ने प्रत्येक भव्य को एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावों को चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगी के अचिन्त्य प्रेम और अहिंसा की विश्वमैत्री रूप संजीवन धारा से आसपास की वनस्पतियों का असयम में पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप–नेवला आदि प्राणियों का अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरण में परस्पर मैत्री के क्षणों का अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभाव की अचिन्त्य शक्ति का साधारण स्फुरण है।

जैसी करनी वैसी भरनी–

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और काय की क्रियाओं के द्वारा वातावरण से पुद्गल परमाणुओं को खींच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप बना देता है, जिनके सम्पर्क में आते ही वह फिर उसी प्रकार के भावों को प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थान में किसी हत्यारे ने दुष्टबुद्धि से किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या की। मरते सम उसने जो शब्द कहे और चेष्टाएँ कीं वे यद्यपि किसी दूसरे ने नहीं देखीं, फिर भी हत्यारे के मन और उस स्थान के वातावरण में उनके फोटो बराबर अन्कित हुए हैं। जब कभी भी वह हत्यारा शान्ति के क्षणों में बैठता है, तो उसके चित्तपर पड़ा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखों के सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानो से टकराते हैं। वह उस स्थान में जाने से घबड़ाता है और स्वयं अपने में परेशान होता है। इसी को कहते हैं कि 'पाप सिर पर चढ़कर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझे में आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरे के प्रभाव को स्थूल या सूक्ष्म रूप से ग्रहण करता है रहता है; और उन्हीं प्रभावों की औसत से चित्र–विचित्र वातावरण और अनेक प्रकार के अच्छे–बुरे मनोभावों का सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीय में घुल–मिल जाता है और विजातीय से संघर्ष करता है।

जहाँ हमारे विचारों के अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब–करीब हमारी विचार–धारा के होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच–पच जाता है; किन्तु प्रतिकूल वातावरण में चित्त को आकुलता–व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावे में नहीं डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्त में दूसरे के प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्ति में सद्‌भाव का संचार नहीं कर सकती और वातावरण को निर्मल नहीं बना सकतीं। इसके फलस्वरूप तुम्हें भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते हैं– 'जैसी करनी तैसी भरनी।'

हृदय से अहिंसा और सद्‌भावना का समुद्र कोई महात्मा अहिंसाका अमृत लिए क्यों खूँखार और बर्बरों के बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्त पर विश्वास रहता है कि जब हमारे मन में इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नहीं है और हम इन्हें प्रेम का अमृत पिलाना चाहते हैं तो ये कब तक हमारे सद्‌भाव को ठुकराएँगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्ति के लगातार अनादर करने पर भी सच्चे हृदय से सदा उसकी हित चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खड़े हुए हैं जहाँ चारों ओर हमारे भीतर–बाहर के प्रभाव को ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे हैं और हमारी प्रत्येक क्रिया का लेखा–जोखा प्रकृति की उस महाबही में अन्कित होता जाता है, जिसका हिसबा–किताब हमें हर समय भुगतना पड़ता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तर में। पापकर्मा व्यक्ति स्वयं अपने में शन्कित रहता है और अपने ही मनोभावों से परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरण से उसकी इष्टसिद्धि नहीं करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकार के व्यापार में जुटते हैं, पर चारों मो अलग–अलग प्रकार का जो नफा–नुकसान होता है, वह अकारण ही नहीं है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणों का निचोड़ उन–उन व्यक्तियों के सफल, असफल या अर्धसफल होने में कारण पड़ जाते हें। पुरुष की बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्‌भाव और प्रशस्त वातावरण का निर्माण करे। इसी के कारण वह जिनके सम्पर्क में आता है उनकी सद्‌बुद्धि और हृदय की रुझान को अपनी ओर खींच लेता है, जिसका परिणाम होता है– उसकी लौकिक कार्यों की सिद्धि में अनुकूलता मिलना। एक व्यक्ति के सदाचरण और सद्‌विचारों की शोहरत जब चारों ओर फेलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सन्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरण से जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्री का लाभ हुआ है

उसमें यद्यपि परम्परा से व्यक्ति के पुराने संस्कारों ने काम लिया है; पर सीधे उन संस्कारों ने उन पदार्थो के जुटने और जुटाने में पुराने संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्य के विपाक ने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन–उन पदार्थों का संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबल की बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओं से जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसी के तारतम्य से मनुष्यों के इष्टानिष्ट का चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्य का ठीक कार्यकारण भाव हमारी समझ में न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरण के क्रम में भी कुद हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इह लोक का जीवन–व्यापार सब मिलाकर कारण बनते हैं।

नूतन शरीर धारण की प्रक्रिया–

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीर को छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारों, वचन–व्यवहारों और शरीर की क्रियाओं से जिस–जिस प्रकार के संस्कार आत्मा पर और आत्मा से चिरसंयुक्त कार्मण–शरीर पर पड़ हैं, अर्थात् कार्मणशरीर के साथ उन संस्कारों के प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्यों का जिस प्रकार के रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनों से युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी प्रकार के अनुकूल परिणमनवाली पसिस्थिति में यह आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करने का अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीर के नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रिया में प्राणी के शरीर छोड़ने के समय के भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। इसीलिए जैन परम्परा में समाधिमरण को जीवन की अन्तिम परीक्षा का समय कहाँ है; क्योंकि एक बार नया शरीर करने के बाद उस शरीर की स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहने की सम्भावना रहती है। मरणकाल की इस उत्क्रान्ति को सम्हाल लेने पर प्राप्त परिस्थितियों के अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मों में हीनाधिकता होने की सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रों में एक मारणान्तिक समुद्घात नाम की क्रिया का वर्णन आता है। इस क्रिया में मरणकाल के पहले इस आत्मा के कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीर को छोड़कर भी बाहर निकलते हैं और अपने अगले जन्म के योग्य क्षेत्र को स्पर्श कर वापिस आ जाते हैं। इन प्रदेशों के साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकार के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि के परिणमनों का तारतम्य है, उस प्रकार के अनुकूल क्षेत्र की ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसक

जीवन में सदा धम्र और सदाचार की परम्परा रही है, उसके कार्मण शरीर में प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओं की बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होने के कारण स्वाभावत: प्रकाशमय लोक की ओर होता है और जिसके जीवन मे हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्छा आदि के काले, गुरु और मैले परमाुणओं का सम्बन्ध विशेषरूप से हुआ है, वह स्वभावत: अन्धकार लोक की ओर नीचे की तरफ जाता है। यही बात सांख्य शास्त्रों में—

''धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।''

—सांख्यका

. ४४।

इस वाक्य के द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होने के कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और काय की क्रियाओं से उन—उन प्रकार के शुभ और अशुभ संस्कारों में स्वयं परिणत होता जाता है और वातावरण को भी उसी प्रकार से प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीर में कुछ नये कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध करा देते हैं, जिनके परिपाक से वे संस्कार आत्मा में अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारों का कर्ता है और स्वयं ही उनके फलों का भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूप की ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूप दर्शन के द्वारा धीरे—धीरे पुराने कुसंस्कारों को काटकर स्वरूप स्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी—कभी विशेष आत्माओ में स्वरूपज्ञान को इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है कि उसके महाप्रकाश में कुसंस्कारों का पिण्ड क्षणभर में ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीर को धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्था में आत्मगुणों के घातक संस्कारों का समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीर के साध्ज्ञ समाप्त हो जाते हैं; तब यह आत्मा पूर्णरूप् से सिद्ध होकर अपने स्वाभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोक के ऊपरी छोर में जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वयं अपने संस्कारों और बद्धकर्मों के अनुसार असंख्य जीव—योनियों में जन्म—मरण के भार को ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नहीं हैं; किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या सवाभाविक किसी भी अवस्था में स्वयं बदलनेवाला है। यही निश्चित है कि एक बार स्वाभाविक अवस्था में पहुँचने पर फिर वैभाविक परिणमन नहीं होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते हैं। उन्हें सृष्टि—कर्तृत्व आदि का कोई कार्य शेष नहीं रहता।

सृष्टिचक्र स्वयं चालित है—

संसारी जीव और पुद्गलों के परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग—वियोगों से इस सृष्टि का महाचक्र स्वयं चल रहा है। इसके लिए किसी नियन्त्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशक की आवश्यकता नहीं है। भौतिक जगत् का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबल के अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक परिणमन के लिए किसी चेतन अधिष्ठाता की नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाता के बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारणसामग्री के अनुसार होते रहते हैं। इस स्वभावत: परिणामी द्रव्यों के महासमुदाय रूप जगत् को किसी ने सर्वप्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे काल की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए इस जगत् को स्वयं सिद्ध और अनादि कहा जाता है। अत: न तो सर्वप्रथम इस जगत्—यन्त्र को चलाने के लिए किसी चालक की आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवों के पुण्य—पाप को लेखा—जोखा रखनेवाले किसी महालेखक की और अच्छे—बुरे कर्मों का फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभु की ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूप में उस व्यक्ति को अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर संसार के प्रत्येक अणु—परमाणु की क्रियाक: संचालक बने और प्रत्येक जीव के अच्छे—बुरे कार्यों का भी स्वयं वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवों के अच्छे—बुरे कर्मों का न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गति में भेजे, उन्हें सुख—दु:ख भोगने को विवश करे यह कैसी क्रीड़ा है। दुराचार के लिए प्रेरणा भी वही दे और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोइ एक ऐसा नियन्ता है तो जगत् की विषम स्थिति के लिए मूलत: वही जवाबदेह है। अत: इस भूल—भुलैया के चक्र से निकलकर हमें वस्तुस्वरूप की दृष्टि से ही जगत् का विवेचन करना होगा और उस आधार से ही जब तक हम अपने ज्ञान को सच्चे दर्शन की भूमि पर नहीं पहुँचाएँऐ, तक तक तत्त्वज्ञान की दिशा में नहीं बढ़ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवाले को भी प्रेरणा देता है और जिसकी हत्या होती है उसे भी और जब हत्या हो जाती है, तो वही एक को हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्य में स्वतन्त्र ही नहीं है, तब वह हत्या का कर्ता कैसे? अत: प्रत्येक जीव अपने कार्यों का स्वयं प्रभु है, स्वयं कर्ता है और स्वयं भोक्ता है।

अतः जगत्–कल्याण की दृष्टि से और वस्तु के स्वाभाविक परिणमन की स्थिति पर गहरा विचार करने से यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभाव के कारण प्राप्त सामग्री के अनुसार परिवर्तनमान है। उसमें विभिन्न व्यक्तियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता से अच्छेपन और बुरेपन की कल्पना होती रहती है। जगतृ तो अपनी गति से चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्यों के परिणमन कहीं चेतन से प्रभावित होते हैं, कहीं अचेतन से प्रभावित और कही परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नहीं है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

जीवों के भेद संसारी और मुक्त–

जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह जीव अपने संस्कारों के कारण स्वयं बँधा है और अपने पुरुषार्थ से स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है, उसी के अनुसार जीव दो श्रेणियों में विभाजित हो जाते हैं– (१) एक संसारी– जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीर को धारण कर जन्म–मरण रूप से संसरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त– जो समस्त कर्म संस्कारों से छूटकर अपने शुद्ध चैतन्य में सदा परिवर्तमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखा की तरह अपने ऊर्ध्व–गमन स्वभाव के कारण शरीर के बन्धनों को तोड़कर लोकाग्र में जा पहुँचता है और वहीं अनन्त काल तक शुद्धचैतन्यस्वरूप में लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशों का आकार अन्तिम शरीर के आकार के समान बना रहता है; क्योंकि आगे उसके विस्तार का कारण नामकर्म नहीं रहता। जीवों के प्रदेशों का संकोच और विस्तार दोनों ही कर्मनिमित्त से होते हैं। निमित्त के हट जाने पर जो अन्तिम स्थिति है, वही रह जाती है। यद्यपि जीव का स्वभाव ऊपर को गति करने का है, किन्तु गति करने में सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोक के अन्तिम भाग तक ही है, अतः मुक्त जीव की गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नहीं। इसीएिल सिद्धान्तों को 'लोकाग्रनिवासी' कहते हैं।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई हैं, अतः उनपर किसी दूसरे द्रव्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न वे परस्पर ही प्रभावित होती हैं। जिनका संसार चक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें संसार में रुलने का कोई कारण शेष नहीं रहता। इसलिए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीव की 'संसार–यात्रा कब से शुरु' हुई, यह नहीं बताया जा सकता; पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असंख्य जीवों ने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धों के सभी गुणों का परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य है,

निरंजन हैं और केवल अपने शुद्धचित् परिणमन के स्वामी हैं। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थ में है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहने पर भी कभी विकृत या नष्ट नहीं होती।

यह प्रश्न प्राय: उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एक–से रहते हैं, तो उनमें परिणमन मानने की क्या आवश्यकता है?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्य की मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्य को चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूलस्वभाव का अपवाद कैसे माना जा सकता है? उसे तो अपने मूल स्वभाव के अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूँकि उनके विभाव परिणमन का कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमनचक्र से बाहर नहीं जा सकता। 'तब परिणमन का क्या प्रयोजन?' इसका सीधा उत्तर है– 'स्वभाव'। चूँकि प्रत्येक द्रव्य का यह निज स्वभाव है, अत: उसे अनन्तकाल तक अपने स्वभाव में रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुण के कारण न कम होता है और न बढ़ता है। वह परिणमन की तीक्ष्ण धार पर चढ़ा रहने पर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नहीं होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अुगरुलघुगुणके कारण उसके न तो प्रदेशों में ही न्यूनाधिकता होती है और न गुणों में ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्ध का स्वरूप निम्नलिखित गाथा में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है७

''णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग–ठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।।''

–नियमसा
र गा. ७२।

अर्थात्– सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणों से युक्त हैं। अपने पूव्र अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद–व्यय से युक्त हैं तथा लोक के अग्रभाग में स्थित हैं।

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारों में विभाजित होकर भी मूल स्वभाव से समान गुण और समानशक्ति वाला है।

पुद्गल द्रव्य–

'पुद्गल' द्रव्य का सामान्य लक्षण[81] है– रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होना। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्था में पूरण अर्थात् अन्य–अन्य परमाणुओं से मिलना और गलन अर्थात् कुद परमाणुओं का बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचय को प्रापत होता है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस 'पुद्गल' का ही विस्तार है। मूल दृष्टि से पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है। स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल–परमाणुओं की संयुक्तद्रव्य पर्याय है। वे पुद्गलपरमाणु जब तक अपनी बन्धशक्ति से शिथिल या निबिड़रूप में एक–दूसरे से जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धों का बनाव और बिगाड़ परमाणुओं की बन्धशक्ति और भेदशक्ति के कारण होता है।

प्रत्येक[82] परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हें। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपों में से कोई एक रूप परमाणु में होता है जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों में से कोई एक रस परमाणुओं में होता है, जो परिवर्तित भी होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों में से कोई एक गन्ध परमाणु में अवश्य होती है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलों में से कोई एक–एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्ण में से एक और स्निग्ध तथा रूक्ष में से एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणु में अवश्य होते हैं। बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध–अवस्था के हैं। परमाणु–अवस्था में ये नहीं होते। यह एक प्रदेशी होता है। यह स्कन्धों का कारण भी है और स्कन्धों के भेद से उत्पन्न होने के कारण उनका कार्य भी है। पुद्गल की परमाणु–अवस्था स्वाभाविक पर्याय है और स्कन्ध अवस्था–विभाव–पर्याय है।

स्कन्धों के भेद–

स्कन्ध अपने परिणमनों की अपेक्षा छह प्रकार के होते हैं[83]–

---

81 ''स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त: पुद्गला:'' –तत्त्वार्थसूत्र, ५।२३।

82 ''एयरसवण्णगन्धं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।''
–पंचास्तिकाय गा. ८१।

83 ''अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादिगं होइ छब्भेयं।।'' –नियमसार गा. २१–२४।

१. अतिस्थूल–स्थूल (बादर–बादर)– जो स्कन्ध छिन्न–भिन्न होने पर स्वयं न मिल सकें, वे लकड़ी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल–स्थूल है।
२. स्थूल (बादर)– जो स्कन्ध छिन्न–भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जाँय, वे स्थूल स्कन्ध हैं। जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि।
३. स्थूल–सूक्ष्म (बादर–सूक्ष्म)– जो स्कन्ध दिखने में तो स्थूल हों, लेकिन छेदने–भेदने और ग्रहण करने में न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल–सूक्ष्म स्कन्ध हैं।
४. सूक्ष्म–स्थूल (सूक्ष्म–बादर)– जो सूक्ष्म होकर के भी स्थूल रूप में दिखें, वे पाँचों इन्द्रियों के विषय– स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म–स्थूल स्कन्ध हैं।
५. सूक्ष्म– जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।
६. अतिसूक्ष्म– कर्मवर्गणा से भी छोटे द्वयणुक स्कनध तक सूक्ष्मसूक्ष्म हैं।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्द का कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है– यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

स्कन्ध आदि चार भेद–

पुद्‌गल[८४] द्रव्य के स्कन्ध प्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेश का आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वतः अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियों के विषय और श्वासोच्छ्‌वास आदि सब कुछ पुद्‌गल द्रव्य के ही विविध परिणमन[८५] हैं।

बन्ध की प्रक्रिया–

इन परमाणुओं में स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होने के कारण परस्पर बन्ध[८६] होता है, जिससे स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

---

84 'खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होतिं परमाणु।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा।।'
–पञ्चास्तिकाय गा. ७४–७५।

85 ''शरीरवांमनः प्राणापानाः पुद्‌गलानाम्।''
–तत्त्वार्थसूत्र ५।१९।

86 ''स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्वयधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।''

स्निग्ध और रूक्ष गुणों के शक्त्यंश की अपेक्षा असंख्य भेद होते हैं और उनमें तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्तयंश (जघन्यगुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं का परस्पर बन्ध (रासायनिक मिश्रण) नहीं होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओं में बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणों के शक्त्यंश दो अधिक हों, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु से होगा। बन्धकाल में जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणु का अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप से परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओं से द्वयगुणक, तीन परमाणुओं से त्र्यगुणक और चार, पाँच आदि परमाणुओं से चतुरगुणक, पञ्चागुणक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते हैं। महास्कन्धों के भेद से भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनों से बनते हैं। स्कन्ध अवस्था में परमाणुओं का परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़ी–सी जगह में असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रूई और एक सेर लोहे में साधारणतया परमाणुओं की संख्या बराबर होने पर भी उनके निविड और शिथिल बन्ध के कारण रूई थुलथुली है और लोहा ठोस। रूई अधिक स्थान को रोकती है और लोहा कम स्थान को। इन पुद्गलों के इसी सूक्ष्म परिणमन के कारण असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्तानन्त परमाणु समाए हुए हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमन के अपवाद नहीं हैं और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल–बादरादि स्कन्धों के रूप में बनते बिगड़ते रहते हैं।

शब्द आदि पुद्गल की पर्याय हैं–

[८७]शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्य की ही पर्याएँ हैं। शब्द को वैशेषिक आदि आकाश का गुण मानते हैं; किन्तु आज के विज्ञान ने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रों से शब्द को पकड़कर और उसे इष्ट स्थान में भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोग से सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गल के द्वारा गहण किया जाता है, पुद्गल से धारण किया जाता है, पुद्गलों से रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, पुद्गल कान आदि के पर्दो को फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरण में अनुकम्पन पैदा करता है, अत: पौद्गलिक है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, संघर्षण और विभा से शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदि के संयोग से नाना प्रकार के भाषात्मक प्रायोगिक शब्द

–तत्त्वार्थसूत्र ५।३३–३७।

[87] ''शब्दबन्धसौक्ष्म्यसौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।''

–तत्त्वार्थसूत्र ५।२४।

उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्‌गलिक हैं,

जब दो स्कन्धों के संघर्ष से कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस–पास के स्कन्धों को अपनी शक्ति के अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्त से उन स्कन्धों में भी शब्दपर्याय उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्ति से पास के जल को क्रमश: तरंगति करती जाती है और यह 'वीचीतरंगन्याय' किसी न किसी रूप में अपने वेग के अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

शब्द शक्तिरूप नहीं है–

शब्द केवल शक्ति नहीं है; किन्तु शक्तिमान पुद्‌गलद्रव्य–स्कन्ध है, जो वायु स्कन्ध के द्वारा देशान्तर को जाता हुआ आसपास के वातावरण को झनझता जाता है। यन्त्रों से उसकी गति बढ़ाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहर को सुदूर देश से पकड़ा जा सकता है। वक्ता के तुाल आदि के संयोग से उत्पन्न हुआ एक शब्द मुख से बाहर निकलते ही चारों तरफ के वातावरण को उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वयं भी नियत दिशा में जाता है और जाते–जाते, शब्द से शब्द और शब्द से शब्द पैदा करता जाता है। शब्द के जाने का अर्थ पर्यायवाले स्कन्ध का जाना है और शब्द की उत्पत्ति का भी अर्थ है आसपास के स्कन्धों में शब्दपर्याय का उत्पन्न होना। तात्पर्य यह कि शब्द स्वयं द्रव्य की पर्याय है और इस पर्याय के आधार हैं पुद्‌गल स्कन्ध। अमूर्तिक आकाश के गुण में ये सब नाटक नहीं हो सकते। अमूर्त द्रव्य का गुण तो अमूर्त ही होगा, वह मूर्त के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता।

विश्व का समस्त वातावरण गतिशील पुद्‌गलपरमाणु और स्कन्धों से निर्मित है। उसी में परस्पर संयोग आदि निमित्तों से गर्मी, सर्दी, प्रकाश, अन्धकार, छाया आदि पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट होती रहती हैं। गर्मी, प्रकाश और शब्द ये केवल शक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी न किसी आधार में रहेंगी और उनका आधार है– यह पुद्‌गल द्रव्य परमाणु की गति एक समय में लोकान्त तक (चौदह राजू) हो सकती है और वह गतिकाल में आसपास के वातावरण को प्रभावित करता है। प्रकाश और शब्द की गति का जो लेखा–जोखा आज के विज्ञान ने लगाया है, वह परमाणु की इस स्वाभाविक गति का एक अल्प अंश है। प्रकाश और गर्मी के स्कन्ध एकदेश से सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग (force) के अनुसार वातावरण को प्रकाशमय और गर्मी पर्याय से युक्त बनाते हुए जाते हैं। यह भी सम्भव है कि जो प्रकाश आदि

स्कन्ध बिजली के टार्च आदि से निकलते हैं, वे बहुत दूर तक स्वयं चले जाते हैं और अन्य गतिशील पुद्‌गल स्कन्धों को प्रकाश, गर्मी या शब्दरूप पर्याय धारण कराके उन्हें आगे चला देते हैं। आज के वैज्ञानिकों ने बेतार का तार और बिना तार के टेलीफोन का भी आविष्कार कर लिया है। जिस तरह हम अमेरिका में बोले गये शब्दों को यहाँ सुन लेते हैं, उसी तरह अब बोलनेवाले के फोटो को भी सुनते समय देख सकेंगे।

पुद्‌गल के खेल–

यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदि का परिवहन तीव्र ग्रतिशील पुद्‌गल स्कन्धों के द्वारा ही हो रहा है। परमाणुबम की विनाशक शक्ति और हाइड्रोजन बम की महाप्रलय शक्ति से हम पुद्‌गल परमाणु की अनन्त शक्तियों का कुछ अन्दाज लगा सकते हैं।

१

एक दूसरे के साथ बँधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्‌कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषा की लाली आदि सभी कुछ पुद्‌गल स्कन्धों की पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक परिणमन वाले अनन्तानन्त परमाणुओं के परस्पर संयोग और विभाग से कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्व के रंगमञ्च पर प्रतिक्षण हो रहे हैं। ये सब माया या अविद्या नहीं है, ठोस सत्य हैं। स्वप्न की तरह काल्पनिक नहीं है, किन्तु अपने में वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञान ने एटम में जिन इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन को अविराम गति से चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्‌गल स्कन्ध में बँधे हुए परमाणुओं का ही गतिचक्र है। सब अपने–अपने क्रम से जब जैसी कारणसामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुष की कितनी–सी शक्ति। वह कहाँ तक इन द्रव्यों के परिणमनों को प्रभावित कर सकता है? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ–बूझ और शक्ति के अनुसार वह यन्त्रों के द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्‌गल का नियन्त्रण पौद्‌गलिक साधनों से ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अत: हमें द्रव्य की मूल स्थिति के आधार से ही तत्त्वविचार करना चाहिए और विश्वव्यवस्था का आधार ढूँढना चाहिए।

छाया पुद्‌गल की ही पर्याय है–

सर्यू आदि प्रकाशयुक्त द्रव्य के निमित्त से आस–पास पुद्‌गल स्कन्ध भासुररूप को धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। इसी प्रकाश को जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगह

के स्कन्ध काले रूप को धारण कर लेते हैं, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्‌गल द्रव्य के खेल हैं। केवल माया की आँखमिचौनी नहीं हैं और न 'एकोऽहं बहु स्याम्' की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्‌गल परमाणुओं की अविराम गति और परिणति के वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूँदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशाला में रासायनिक प्रक्रिया से किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्‌गलाणुओं में समान अनन्त शक्ति है, फिर भी विभिन्न स्कन्धों में जाकर उनकी शक्तियों के भी जुदे–जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणु में सामान्यत: मादकशक्ति होने पर भी उसकी प्रकटता की योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदि के स्कन्धों में ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादि के रासायनिक मिश्रण से। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन–उन स्थूल पर्यायों में प्रकट होती हैं और इन स्थूल पर्यायों के घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्था में विशिष्ट शक्ति को धारण करते हैं।

एक ही पुद्‌गल मौलिक है–

आधुनिक विज्ञान ने पहले ९२ मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्ति के अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्व का अर्थ होता है– 'एक तत्त्व का दूसरे रूप न होना।' परन्तु अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपने में चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन की संख्या के भेद से ऑक्सीजन, हाइड्रोन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओं को धारण कर लेता है। ऑक्सीजन के अमुक इलेक्ट्रॉन या प्रोटॉन को तोड़ने या मिलाने पर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्व की अवस्था–विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल अणु (Atom) है।

पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं–

नैयायिक–वैशेषिक पृथ्वी के परमाणुओं में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों, गुण, जल के परमाणुओं मे रूप, रस, और स्पर्श ये तीन गुण, अगिन के परमाणुओं में रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायु में केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारों को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं; किन्तु जब प्रत्यक्ष से सीप में पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती हैं, अग्नि भस्म बन जाती है पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती हैं, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? जैनदर्शन ने पहले से ही समस्त पुद्‌गलपरमाणुओं का परस्पर परिणमन

देखकर एक ही पुद्गलद्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेष में कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। अग्नि में रस अप्रकट रह सकता है, वायु में रूप और जल में गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्यों में उन गुणों का अभाव नहीं माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि 'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होंगे। इसी तरह जिन दो पदार्थों का एक–दूसरे के रूप से परिणमन हो जाता है वे दोनों पृथक्–जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आज के विज्ञान को अपने प्रयोगों से उसी एकजातिक अणुवाद पर आना पड़ा है।

प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं–

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्द को अभी केवल (Energy) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी–न–किसी ठोस आधार में रहनेवाली ही सिद्ध होंगी; क्योंकि शक्ति या गुण निराश्रय नहीं रह सकते। उन्हें किसी–न–किसी मौलिक द्रव्य के आश्रय में रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमों से गति करती हैं, उन माध्यमों को स्वयं उस रूप से परिणत कराती हुई ही जाती हैं। अत: यह प्रश्न मन में उठता है कि जिसे हम शक्ति की गति कहते हें वह आकाश में निरन्तर प्रचति परमाणुओं में अविराम गति से उत्पन्न होनेवाली शक्ति परम्परा ही तो नहीं है? हम पहले बता आये हैं कि शब्द, गर्मी और प्रकाश किसी निश्चित दिशा को गति भी कर सकते हैं और समीप के वातावरण को शब्दायमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद–व्ययस्वभाव के कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायों को धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मी को इन्हीं परमाणुओं की पर्याय मानने में ही वस्तुस्वरूप का संरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थों में पुद्गल द्रव्यों की जिन–कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि रूप से– २३ प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन मिलता है,[88] वे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। एक ही पुद्गल जातीय स्कन्धों में ये विभिन्न प्रकार के परिणमन, विभिन्न सामग्री के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में बन जाते हैं। यह नहीं है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए हैं; वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नहीं होंगे, या अन्यपरमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध–अवस्था में विकसित शक्ति भेद के कारण हैं। प्रत्येक द्रव्य में अपनी–अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओं के अनुसार, जैसी–जैसी सामग्री का जुटाव हो जाता है, वैसा–वैसा प्रत्येक

---

[88] देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३–९४।

परिणमन सम्भव है। जो परमाणु शरीर–अवस्था में नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्यु के बाद शरीर के खाक हो जाने पर अन्य विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं। एक जातीय द्रव्यों में किसी भी द्रव्यव्यक्ति के परिणमनों का बन्धन नहींं लगाया जाता सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्याय को प्राप्त पुद्‌गलों से साक्षात् हो सकते हैं, किसी से नहीं। जैसे मिट्टी–अवस्था को प्राप्त पुद्‌गल परमाणु ही घट–अवस्था को धारण कर सकते हैं, अग्नि–अवस्था को प्राप्त पुद्‌गल परमाणु नहीं, यद्यपि अग्नि और घट दोनों ही पुद्‌गल की ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्नि के परमाणु कालान्तर में मिट्टी बन जाँय और फिर घड़ा बनें; पर सीधे अग्नि से घड़ा नहीं बनाया जा सकता। मूलतः पुद्‌गलपरमाणुओं में न तो किसी प्रकार का जातिभेद है, न शक्ति भेद है और न आकार भेद ही। ये सब भेद तो किसी प्रकार का जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकारभेद ही। ये सब भेद तो बीच की स्कन्ध पर्यायों में होते हैं।

गतिशीलता–

पुद्‌गल परमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकार की होती है। उसमें वनज भी होता है; किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्था में होती है। इन स्कन्धों में अनेक प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्था भेद के कारण सम्भव होते हैं। इस तरह यह अणुजगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्री के अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकार की अवस्थाओं को स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमें जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीच के पड़ाव में पुरुष का प्रयत्न इनके परिणमनों को कुछ काल तक किसी विशेष रूप में प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीच में होनेवाली अनेक अवस्थाओं का अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते हैं, वे भी इन द्रव्यों की मूलयोग्यताओं के ही आधार से किये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य–

अनन्त आकाश में लोक के अमुक आकार को निश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधार पर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्‌गलों

का गमन वहीं तक हो सके; बाहर नहीं। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अत: उसके अमुक प्रदेशों तक पुद्गल और जीवों का गमन हो और आगे नहीं, यह नियन्त्रण स्वयं अखण्ड आकाशद्रव्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें प्रदेश भेद होकर भी स्वभावभेद नहीं है। जीव और पुद्गल स्वयं गतिसवभाववाले हैं, अत: यदि वे गति करते हैं तो स्वयं रुकने का प्रश्न ही नहीं है; इसलिए जैन आचार्यों ने लोक और अलोक के विभाग के लिए लोकवर्ती आकाशक बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलों को गमन करने में साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्य को प्रेरणा करके नहीं चलाता; किन्तु जो स्वयं गति करते हैं, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोक के भीतर तो साधारण है पर लोक की सीमाओं पर नियन्त्रक के रूप में है। सीमाओं पर पता चलता है। कि धर्मद्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है; जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करने को विवश हैं, उसके आगे नहीं जा सकते।

जिस प्रकार गति के लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है; उसी तरह जीव और पुद्गलों की स्थिति के लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है– अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाश के बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित–अमूर्तिक है; निष्क्रिय है और उत्पाद–व्ययरूप से परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक सन्तुलन रखनेवाले अनन्त अगुरुलघुगुणों से उत्पाद–व्यय करता हुआ, ठहरनेवाले जीव–पुद्गलों की स्थिति में साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्व का पता भी लोक की सीमाओं पर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होने के कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नहीं कर सकते तब स्थिति के लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनों द्रव्य स्वयं गति नहीं करते; किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में साधारण निमित्त होते हैं। लोक और अलोक का विभाग ही इनके सद्भाव का अचूक प्रमाण है।

यदि आकाश को ही स्थिति का कारण मानते हैं, तो आकाश तो अलोक में भी मौजूद है। वह चूँकि अखण्डद्रव्य है, अत: यदि वह लोक के बाहर के पदार्थों की स्थिति में कारण नहीं हो सकता; तो लोक के भीतर भी उसकी कारणता नहीं बन सकती। इसलिए स्थिति के साधारण कारण के रूप में अधर्मद्रव्य का पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पाप के पर्यायवाची नहीं हैं– स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इनके असंख्यात प्रदेश हैं, अत: बहुप्रदेशी होने के कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते हैं और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूप में भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्य के मूल परिणामी स्वभाव के अनुसार पूर्व पर्याय को छोड़ने और उत्तर पर्याय को धारण करने का क्रम अपने प्रवाही अस्तित्व को बनाये रखते हुए अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा।।

आकाश द्रव्य–

समस्त जीव–अजीवादि द्रव्यों को जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव–पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्यों में भी परस्पर हीनाधिक रूप में एक दूसरे को आकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तन में पानी आदि का, फिर भी समस्त द्रव्यों को एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। इसके मध्य भाग में चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों में है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्य का गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्य का स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नहीं–

इसी आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं की कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों की पंक्तियाँ सब तरफ कपड़े में तन्तु के तरह श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इन नाप से अकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होने के कारण दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारों से 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पड़ेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुत से स्वतन्त्र द्रव्यों की कल्पना करनी पड़ेगी।

शब्द आकाश का गुण नहीं–

आकाश में शब्द गुण की कल्पना भी आज के वैज्ञानिक प्रयोंगों ने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्‌गल द्रव्य के वर्णन में उसे पौद्‌गलिक सिद्ध कर आये हैं। यह तो मोटी–सी बात है कि जो शब्द पौद्‌गलिक इन्द्रियों से गृहीत होता है, पुद्‌गलों से टकराता है, पुद्‌गलों से रोका जाता है, पुद्‌गलों को रोकता है, पुद्‌गलों में भरा जाता है, वह पौद्‌गलिक ही हो सकता है। अतः शब्द गुण के आधार के रूप में आकाश का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। न 'पुद्‌गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है; क्योंकि एक ही द्रव्य के मूर्त और अमूर्त, व्यापक ओर अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नहीं हो सकते।

आकाश प्रकृति का विकार नहीं–

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसी के पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनों परिणमन मानते हैं; परन्तु विचारणीय बात यह है कि– एक प्रकृति का घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्यों के आकार में ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है, क्योंकि संसार के अनन्त रूपी भौतिक कार्यों की अपनी पृथक्–पृथक सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समानजातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नहीं। किञ्चित् समानता होने के कारण कार्यों का एक कारण से उत्पन्न होना भी आवश्यक नहीं है। भिन्न–भिन्न कारणों से उत्पन्न होनेवाले सैकड़ों घट–पटादि कार्य कुछ–न–कुछ जड़त्व आदि के रूप से समानता रखते ही हैं। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक; रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूप से विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि और आकाश को एक प्रकृति का परिणमन मानना ब्रह्मवाद की माया में ही एक अंश समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढ़कर चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को एक ब्रह्म का विवर्तन मानता है और ये सांख्य समस्त जड़ों को एक जड़ प्रकृति की पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्व का अन्वय होने से सब एक त्रिगुणात्मक कारण से समुत्पन्न हैं, तो आत्मत्व का अन्वय सभी आत्माओं में पाया जाता है और सत्ता का अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थों में पाया जाता है; तो इन सबको भी एक 'अद्वैतसत्' कारण से उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनों से विरुद्ध है। अपने–अपने विभिन्न कारणों से उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड़चेतन और मूर्त–अमूर्त आदि विविध पदार्थों में अनेक प्रकार के पर–अपर सामान्यों का सादृश्य देखा जाता है, पर इतने मात्र से सब

एक नहीं हो सकते। अत: आकाश प्रकृति की पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपने में जो अन्य पुद्गलादि द्रव्यों को अवकाश या स्थान देते हैं, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्ध के कारण बनता है। अन्तत: जलादि के भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाश से ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का गति और स्थितिरूप काम नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्यों की गति और स्थिति में निमित्त हो जाय तो लोक और अलोक का विभाग ही नही बन सकेगा और मुक्त जीव, जो लोकान्त में ठहरते हैं, वे सदा अनन्त आकाश में ऊपर की ओर उड़ते रहेंगे। अत: आकाश को गमन और स्थिति में साधारण कारण नहीं माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्यों की भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्य लक्षण से युक्त है और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरु–लघु गुण के कारण पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अत: यह भी परिणामीनित्य है।

आज का विज्ञान प्रकाश और शब्द की गति के लिए जिस ईथररूप माध्यम की कल्पना करता है, वह आकाश नहीं है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल–स्कन्ध ही है; क्योंकि मूर्त–द्रव्यों की गति का अन्तरंग आधार अमूर्त पदार्थ नहीं हो सकता। आकाश के अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते हैं कि जो आकाश का भाग काशी में है, वही पटना आदि में नहीं हैं, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्र में आ जाएँगे।

बौद्ध परम्परा में आकाश को सुसंस्कृत धर्मों में गिनाया है और उसका 'वर्णन'[८९] 'अनावृत्ति' (आवरणाभाव) रूप से किया है। यह किसी को आवरण नहीं करता और न किसी से आवृत होता है। संस्कृत का अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जाँय। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्ध का, आकाश को असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्म से रहित मानना कुछ समझ में नहीं आता। इसका वर्णन भले ही अनावृत्ति रूप से किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह

---

89 ''तत्राकाशमनावृति:'' –अभिधर्माकोश १।५।

वैभाषिकों के[९०] विवेचन से सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्ध के मत से उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादि का हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादि से इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मत्थसंगह' में आकाशधातु को परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतों की तरह निष्पन्न नहीं होता; किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओं के परिच्छेद–दर्शन मात्र से इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नहीं हो सकता; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है। अत: वह उत्पादादि लक्षणों से युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

कालद्रव्य–

समस्त द्रव्यों के उत्पादादिरूप परिणमन में सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारों में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों की तरह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक–एक काल–द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नहीं है; क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्रों में दिन, रात आदि का पृथक्–पृथक व्यवहार तत्तत्स्थानों के कालभेद के कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य मानने पर कालभेद नहीं हो सकता। द्रव्यों में परत्व–अपरत्व (लहुरा–जेठा) आदि व्यवहार काल से ही होते हैं। पुरानापन–नयापन भी कालकृत ही हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी काल की क्रमिक पर्यायों से होते हैं। किसी भी पदार्थ के परिणमन को अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना काल की अपेक्षा से ही हो सकता है।

वैशेषिक की मान्यता–

वैशेषिक काल को एक और व्यापक द्रव्य मानते हैं; परन्तु नित्य और एक द्रव्य में जब स्वयं अतीतादि भेद नहीं हैं, तब उसके निमित्त से अन्य पदार्थों में अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते हैं? किसी भी द्रव्य का परिणमन किसी समय में ही तो होता है। बिना समय के उस परिणमन को अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा

---

90 ''छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।''
–अभिधर्मकोश १।२८।

सकता है? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश–प्रदेश पर विभिन्न द्रव्यों के जो विलक्षण परिणमन हो रहे हैं, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समय पर्यायों के समुदाय में हम घड़ी घण्टा आदि स्थूल काल का नाप बनाते हैं। अलोकाकाश में जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती काल के कारण ही। चूँकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अतः लोकाकाश में होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाश में ही होता है। काल एकप्रदेशी होने के कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नहीं कहा जाता; क्योंकि बहुप्रदेशी द्रव्यों की ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

बौद्ध परम्परा में काल–

बौद्ध परम्परा में काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्ठशालिनी १।३।१६)। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल बिना नहीं हो सकते। जैसे कि बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव में ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्य के बिना नहीं बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य अनादि सिद्ध मौलिक हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है– उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्ता। इस लक्षण का अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हों या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षण से हर समय संयुक्त रहते हैं।

वैशेषिक की द्रव्यमान्यता का विचार–

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदि के चार द्रव्य तो 'रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–वत्त्व' इस सामान्य लक्षण से युक्त होने के कारण पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भूत हैं। दिशा का आकाश में अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह यथासम्भव जीव और पुद्गल की ही पर्याय है। मन दो प्रकार का होता है– एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्मा को विचार करने में सहायता देनेवाले पुद्गल–परमाणुओं का स्कन्ध है।[९१] शरीर के जिस–जिस भाग में

---

91 ''द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलामप्रत्ययाः गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानामिभूखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलाः वीर्यविशेष विसर्जनसमर्थाः

आत्मा का उपयोग जाता है; वहाँ–वहाँ के शरीर के परमाणु भी तत्काल मनरूप से परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय–प्रदेश में अष्टदल कमल के आकार का द्रव्यमन होता है, जो हिताहित के विचार में आत्मा का उपकरण बनता है। विचार–शक्ति आत्मा की है। अत: भावमन आत्मरूप ही होता है। जिसप्रकार भावेन्द्रियाँ आत्मा की ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाली आत्मा की एक विशेष शक्ति है; अतिरिक्त द्रव्य नहीं।

बौद्ध परम्परा में हृदय–वस्तु को एक पृथक् धातु माना है,[९२] जो कि द्रव्यमन का स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में[९३] छह ज्ञानों के समनन्तर कारणभूत पूर्वज्ञान को मन कहा है। यह भावमन का स्थान ग्रहण कर सकता है; क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मन की सहायता के बिना अपने विषयों का ज्ञान नहीं कर सकतीं; परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मन का कोई निश्चित विषय नहीं है। अत: वह सर्वविषयक होता है।

गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं–

वैशेषिक ने द्रव्य के सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिक की मान्यता प्रत्यय के आधार से चलती है। चूँकि 'गुण: गुण:' इसप्रकार का प्रत्यय होता है, अत: गुण एक पदार्थ होना चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्यय के कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्यय से पर और अपर रूप से अनेक प्रकार के सामान्य माने गये हैं। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थों के सम्बन्ध स्थापन के लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओं में, शुद्ध आत्माओं में तथा मुक्त आत्माओं के मनों में परस्पर विलक्षणता का बोध कराने के लिए प्रत्येक नित्य द्रव्य पर एक–एक विशेष पदार्थ माना गया है। कार्योत्पत्ति के पहले वस्तु के अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्ति के बाद होने वाला विनाश प्रध्वंसाभाव है। परस्पर पदार्थों के स्वरूप का अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक संसर्ग का निषेध करनेवाला अतयन्ताीाव होता है। इस तरह जितने प्रकार के प्रत्यय पदार्थों में होते हैं, उतने प्रकार के पदार्थ वैशेषिक ने माने हैं। वैशेषिक को

मनस्त्वेन परिणता इति कृतवा पौद्गलिकम् मनस्त्वेन हि परिणता: पुद्गला: गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रचयवन्ते।'' –तत्त्वार्थवा. ५।१९।

92 ''ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कल्पयन्ति।''
–स्फुटार्थ अभि. पृ. ४९।

93 ''पण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मन:।'' –अभिधर्मकोश १।१७।

'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्यय के आधार से पदार्थ की कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचार कर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्य का लक्षण है[९४] गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणों का आत्मा से तथा रूपादि गुणों का पुद्गल से पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणी को, क्रिया ओर क्रियावान् को, सामान्य ओर सामान्यवान् को, विशेष और नित्य द्रव्यों को स्वयं वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते हैं, अथ्रात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण आदि को छोड़कर द्रव्य की अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्य के बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्य के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कहीं ''गुणसन्द्रावो द्रव्यम्'' यह भी द्रव्य का लक्षण मिलता है।[९५]

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणों का अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय हैं उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्य की पर्याय है, स्वतन्त्र नहीं है। क्रिया या कर्म क्रियावान् से ाान्न अपना अस्तित्व नहीं रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही हैं। कोई एक, नित्य और व्यापक सामान्य अनेक द्रव्यों में मोतियों में सूत की तरह पिरोया हुआ नहीं है। जिन द्रव्यों में जिस रूप से सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्यों का वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नहीं है; किन्तु सादृश्य रूप से वस्तुनिष्ठ है; और वस्तु की तरह ही उत्पाद विनाश ध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थों की ही पर्याय है। ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा में मानने का यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्मा की ही सम्पत्ति है, आत्मा से भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों की अवस्थारूप ही हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थों में होनेवाला संयोग भी दो में न रहकर प्रत्येक में रहता ै, इसका संयोग उसमें और उसका संयोग इसमें। यानि संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दो के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

---

94 ''गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।'' –तत्त्वार्थसूत्र ५।३८।

95 ''अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।''
–पात. महाभाष्य ५।१।११९।

विशेष पदार्थ को स्तन्त्र मानने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब सभी द्रव्यों का अपना–अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्व के कारण ही हो सकता है। जिसप्रकार विशेष पदार्थों में विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करने के लिए अन्य विशेष पदार्थों की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं उनके स्वरूप से ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्यों के निजरूप से ही विलक्षणप्रत्यय मानने में कोई बाधा नहीं है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्य की पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निजस्वरूप अन्योन्याभाव है और असंर्गीयरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपने में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। एक द्रव्य का अपने स्वरूप में स्थिर होना ही उसमें पररूप का अभाव है। एक ही द्रव्य की दो भिन्न पर्यायों में परस्पर अभाव–व्यवहार कराना इतरेतराभाव का कार्य है और दो भिन्न पर्यायों में परस्पर अभाव–व्यवहार कराना इतरेतराभाव का कार्य है और दो द्रव्यों में परस्पर अभाव अत्यन्ताभाव से होता है। अतः गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है; किन्तु द्रव्य की ही पर्यायें हैं। भिन्न प्रत्यय के आधार से ही यदि पदार्थो की व्यवस्था की जाय; तो पदार्थों की गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्य को अवयवों से जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकार में परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते हैं। कोई अलग पट नाम का अवयवी तन्तु नामक अवयवों में समवाय–सम्बन्ध से रहता हो, यह अनुभवगम्य नहीं है; क्योंकि पट नाम के अवयवी की सत्ता तन्तुरूप अवयवों से भिन्न कहीं भी और कभी भी नहीं मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नहीं। जिन मिट्टी के परमाणुओं से घड़ा बनता है, वे परमाणु स्वयं घड़े के आकार को ग्रहण कर लेते हैं। घड़ा परमाणुओं की सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा नहीं है कि घड़ा पृथक् अवयवी बनकर कहीं से आ जाता हो, किन्तु मिट्टी के परमाणुओं का अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकार में क्रमबद्ध परिणमनों की औसत से ही घट के रूप में हो जाता है और घटव्यवहार की संगति बैठ जाती है। घट–अवस्था को प्राप्त परमाणुद्रव्यों का अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्था में बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घट के अमुक–अमुक हिस्सों में रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदि का अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखने पर भी सामुदायिक समान परिणमन की धारा में अपने व्यक्तिगत परिणमन को विलीन–सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमन की धारा अवयवभूत परमाणुओं में चालू

रहते है, तब तक उस पदार्थ की एक–जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे–जैसे उन परमाणुओं में सामुदायिक धारा से असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे–वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्ति में न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूप से विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलतः गुण और पर्यायों का आधार जो होता है। वही द्रव्य कहलाता और उसी की सत्ता द्रव्यरूप में गिनी जाती है। अनेक द्रव्यों के समान या असमान परिणमनों की औसत से जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्य की संज्ञा नहीं पा सकते।

जिन परमाणुओं से घट बनता है उन परमाणुओं में घट नाम के निरंश अवयवी को स्वीकार करने में अनेकों दूषण आते हैं। यथा– निरंश अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से रहता है, या सर्वात्मना? यदि एकदेश से रहता है; तो जितने अवयव हैं, उतने ही देश अवयवी के मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयव में रहता है; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी के मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयव में रहता है; तो जितने अवयव है उतने ही अवयवी हो जाएँगे। यदि अवयवी निरंश है; तो वस्त्रादि के एक हिस्से को ढँकने पर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिए और एक अवयव में क्रिया होने पर पूरे अवयवी में क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त है; तो चार छटाँक सूत से तैयार हुए वस्त्र का वनज बढ़ जाना चाहिए, पर ऐसा देखा नहीं जाता। वस्त्र के एक अंश के फट जाने पर फिर उतने परमाणुओं से नये अवयवी की उत्पत्ति मानने में कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है; क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़े का उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवी की उत्पत्ति मानना पड़ेगी।

वैशेषिक का आठ, नव, दस आदि क्षणों में परमाणु की क्रिया, संयोग आदि क्रम से अवयवी की उत्पत्ति और विनाश का वर्णन एक प्रक्रियामात्र हैं। वस्तुतः जैसे–जैसे कारणकलाप मिलते जाते हैं, वैसे–वैसे उन परमाणुओं के संयोग और वियोग से उस–उस प्रकार के आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओं से लेकर घट तक उनके स्वतन्त्र अवयवियों की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं है, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्य का उत्पाद और उसका सदा के लिए विनाश वस्तुसिद्धान्त के प्रतिकूल है। यह तो सम्भव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन–उन परमाणुओं की विभिन्न अवस्थाओं में पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्य के उत्पाद की बात नहीं है और न वनज बढ़ने के बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नहीं कर सकता और घट में जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रा से उसे पृथक् द्रव्य नहीं माना जा सकता। ये तो परमाणुओं के विशिष्ट संगठन के कार्य है; जो उस प्रकार के संगठन होने पर स्वत: होते हैं। एक परमाणु आँख से नहीं दिखाई देता, पर अमुक परमाणुओं का समुदाय जब विशिष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षता के कारण परमाणुओं के अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढ़ता और शिथिलता के अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध अवस्था में चूँकि परमाणुओं का स्वतन्त्र द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता, अत: उन–उन हिस्सों के परमाणुओं में पृथक् रूप और रसादि का परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपड़ा किसी हिस्से में अधिक मैला, किसी में कम मैला और किसी में उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूप से परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु अवस्था को छोड़कर स्कन्ध–अवस्था को प्राप्त हुए हैं। यह स्कन्ध अवस्था किसी नये द्रव्य की नहीं है; किन्तु उन सभी परमाणुओं की अवस्थाओं का योग है। यदि परमाणुओं को सर्वथा पृथक् ओर सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखों से नहीं दिखाई देता उसी तरह सैकड़ों परमाणुओं के अति–समीप रखे रहने पर भी, वे इन्द्रियों के गोचर नहीं हो सकेंगे। अमुक सकन्ध–अवस्था में आन पर उन्हें अपनी अदृश्यता को त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तु की मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवों के दृढ़ और शिथिल बन्ध के ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहे के स्कन्ध की अवस्था को प्राप्त कर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जब कि रूई अवस्था में मृदु और अचिरस्थायी रहते हैं। यह सब तो उनके बन्ध के प्रकारों से होता रहता है। यह तो समझ में आता है है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु द्रव्य में पुद्गल की सभी शक्तियाँ हों, और विभिन्न स्कन्धों में उनका न्यूनाधिकरूप में अनेक तरह का विकास हो। घट में ही जल भरा जाता है कपड़े में नहीं, यद्यपि परमाणु दोनों ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन अवस्था में शीतल होते हैं और वे ही जब अग्नि का निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियों की आग की तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्यों के परस्पर न्यूनाधिक सम्बनध से होनेवाले परिणमनों की न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्याय की एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनों पर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओं में समानपर्याय होती रहेगी, तब तक

वह वस्तु एक–सी रहेगी और ज्यों ही कुछ परमाणुओं में परिस्थिति के अनुसार असमान परिणमन शुरु होगा; तैसे ही वस्तु के आकार प्रकार में विलक्षणता आती जायगी। आज के विज्ञान से जल्दी सड़नेवाले आलू को बरफ में या बद्धवायु (Airtite) में रखकर जल्दी सड़ने से बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल–परमाणुओं के आकार और प्रकार की स्थिरता या अस्थिरता की कोई निश्चित जवाबदारी नहीं ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरण पर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे–चौड़े स्कन्ध के अमुक भाग के कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्व को कायम रखनेवाली परिणति को स्वीकार नहीं करते हैं तो उस भाग में तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करने के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओं का परस्पर एकरस मिलाव हुआ है या नहीं। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओं को सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्याय का विकास ही न हो सके।

अवयवी का स्वरूप–

यदि बौद्धों की तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं का पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूप से प्रतिभासित होता है, यह माना जाय; तो बिना सम्बन्ध के तथा स्थूल आकार की प्राप्ति के बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूप से कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नहीं है; किनतु प्रकृति की प्रयोगशाला में होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण हे, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्था को धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' (पृ. १९५) में यह स्वीकार किया हे कि परमाणुओं में विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति हो जाने से वे स्थूलरूप में इन्द्रियग्राह्य होते हैं, तो भी जब सम्बन्ध का निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्था प्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है? अन्ततः उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग ओर अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते हैं। इसप्रकार की परिणति के माने बिना बालू के पुञ्ज से घट के परमाणुओं के सम्बन्ध में कोई विशेषता नहीं बताई जा सकती। परमाणुओं में जब स्निग्धता और रूक्षता के कारण अमुक प्रकार के रासायनिक बन्ध के रूप में सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध–अवस्था को धारण कर सकते हैं; केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होने के कारण ही नहीं। यह ठीक है कि उस प्रकार का बन्ध होने पर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, पर नई अवस्था तो

उत्पन्न होती ही है और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण संयोग से जन्य नहीं है; किन्तु विशेष प्रकार के उभयपारिणामिक रासायनिक बन्ध से उत्पन्न होती है। परमाणुओं के संयोग–सम्बन्ध अनेक प्रकार होते हैं– कहीं मात्र प्रदेशसंयोग होता है, कहीं निविड, कहीं शिथिल और कहीं रासायनिक बन्धरूप।

बन्ध अवस्था में ही स्कन्ध की उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्ध को चाक्षुष बनने के लिए दूसरे स्कन्ध के विशिष्अ संयोग की उस रूप में आवश्यकता है, जिस रूप से वह उसकी सूक्ष्मता का विनाश कर स्थूलता ला सके; यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्था का त्याग कर स्थूल अवस्था को धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है। प्रत्येक परमाणु में अखण्डा और अविभागिता होने पर भी यह खुशी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचक के कारण वे एक दूसरे को स्थान दे देते हैं और असंख्य परमाणु मिलाकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभाव के कारण थोड़ी–सी जगह में समा जाते हैं। परमाणुओं की संख्या का अधिक होना ही स्थूलता का कारण नहीं। बहुत से कमसंख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमन के द्वारा स्थूल सकन्ध बन जाते हैं, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदि में सूक्ष्म परणिमन के द्वारा इन्द्रिय–आग्रह्य स्कन्ध के रूप में ही रह जाते हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यता के लिए परमाणुओं की संख्या अपेक्षित नहीं है; किन्तु उनका अमुक रूप में स्थूल परिणमन ही विशेषरूप से अपेक्षणीय होता है। ये अनेक प्रकार के बन्ध परमाणुओं के अपने निजी परिणमनों के योग से उस स्कन्ध से रूपादि का तारतम्य घटित हो जाता है।

एक स्थूल स्कन्ध में सैकड़ों प्रकार के बन्धवाले छोटे–छोटे अवयव–स्कन्ध शामिल रहते हैं; और उनमें प्रतिसमय किसी अवयव का टूटना, नये का जुड़ना तथा अनेक प्रकार के उपचय–अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध–अवस्था बिना रासायनिक बन्ध के नहीं होती। यों साधारण संयोग के आधार से भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहार के लिए नई संज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतने मात्र से स्कन्ध अवस्था नहीं बनती। इस रासायनिक बन्ध के लिए पुरुष का प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और बिना प्रयत्न के भी अनेकों बन्ध प्राप्त सामग्री के अनुसार होते हैं। पुरुष का प्रयत्न उनमें स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकड़ों प्रकार के भौतिक आविष्कार इसी प्रकार की प्रक्रिया के फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं का समा जाना आकाश की अवगाहशक्ति और पुद्‌गलाणुओं के सूक्ष्मपरिणमन के कारण सम्भव हो जाताह े। कितनी भी सुसम्बद्ध लकड़ी में कील ठोकी जा सकती है। पानी में हाथी का डूब जाना हमारी प्रतीति का विषय होता ही है। परमाणुओं की अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य है। आज के एटम बम ने उसकी भीषण संहारक शक्ति का कुछ अनुभव तो हमलोगों को कारा ही दिया है।

गुण आदि द्रव्यरूप ही है—

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है; परन्तु वह अनेक सहभावी गुणों का अभिन्न आधार होता है। अत: उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्‌गलपरमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणों का आधार होता है। प्रत्येक गुण का भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्य का कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्य से गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है और संज्ञा, संख्या, प्रयोजन आदि के भेद से उसका विभिन्नरूप से निरूपण किया जाता है; अत: वह भिन्न है। इस दृष्टि से द्रव्य में जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक् सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकी से देखा जाय तो पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायों में परिवर्तन होने पर भी जो एक अवच्छिन्नता का नियामक अंश है, वही तो गुण है। हाँ, गुण अपनी पर्यायों में सामान्य एकरूपता के प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्‌गलाणु में रूप अपनी किसी नई पर्याय को लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुण की सम्पत्ति (Property) या स्वरूप हैं।

रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं है—

एक पक्ष यह भी है कि परमाणु में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श आदि गुणों की सत्ता नहीं है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखों से रूप, जीभ से रस, नाक से गन्ध और हाथ आदि से स्पर्श के रूप में जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा उसमें रूपादि गुणों की प्रतीति होती है, वस्तुत: उसमें इन गुणों की सत्ता नहीं है; किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली हैं, गुणों की उत्पादक नहीं। जिस समय हम किसी आम को देख रहे हैं, उस

समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। हमारे न सूँघने पर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूने पर भी उसमें रस और स्पर्श है, यह बात प्रतिदिन के अनुभव की है, इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह चेतन आत्मा में एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेकों गुणों का युगपत् सद्भाव पाया जाता है और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्हीं अनेक रूपों में विकसित होता है। इसीलिए गुणों को सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायें व्यतिरेकी ओर क्रमभावी होती हैं। वे इन्हीं गुणों के विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्य में जिस क्षण ज्ञान की अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी–अपनी पर्यायों के रूप से बराबर परिणत हो रहे हैं। यद्यपि इन समस्त गुणों में एक चैतन्य अनुस्यूत है; फिर भी यह नहीं है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणों के रूप में केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणों की अपनी स्थिति स्वयं है और यही एक सत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु इन्हीं सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि–सृष्टि नहीं हैं कि अपनी–अपनी भावना के अनुसार उस द्रव्य में जब कभी प्रतिभासित हो जाते हों और प्रतिभास के बाद या पहले अस्तित्व–विहीन हों। इसी तरह प्रत्येक चेतन–अचेतन द्रव्य में अपने सहभावी गुणों के परिणमन के रूप में अनेकों उत्पाद और व्यय स्वभाव से होते हैं और द्रव्य उन्हीं में अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड–सत्तावाले गुण–पर्याय ही द्रव्य हैं । गुण प्रतिसमय किसी–न–किसी पर्याय रूप से परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्ता से अनुस्यूत रहते हैं, वह द्रव्य है। द्रव्य का अर्थ है, उन–उन क्रमभावी पर्यायों को प्राप्त होना और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है; क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायों में अनुस्यूत रहता ही है, किन्तु इसप्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मुख्य नहीं। एक द्रव्य से तादात्म्य रखने के कारण सभी गुण एक तरह से द्रव्य ही हैं, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक गुण उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होने के कारण स्वयं एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुतः द्रव्यांश कहे जा सकते हैं, द्रव्य नहीं। इस तरह द्रव्य गुण–पर्यायों का एक अखण, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हर एक प्रदेश में सम्पूर्ण गुणों की सत्ता का आधार होता है।

इस विवेचन का यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययों का और गुण रूप से ध्रौव्य का युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायों में जिस प्रकार का वास्तविक तादात्म्य रखता है, उस प्रकार तादात्म्य दो द्रव्यों में नहीं हो सकता। अतः अनेक विभिन्न सत्ता के परमाणुओं के बन्ध–काल में जो स्कन्ध–अवस्था होती है, वह उन्हीं परमाणुओं के सदृश परिणमन का योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नहीं आता, अपितु विशिष्अ अवस्था को प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धों के रूप में व्यवहृत होते हैं। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व–परिणतिरूप है।

सांख्य का सत्कार्यवाद–

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन वाद हैं। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्–असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है[९६] कि प्रत्येक कारण में उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यों की सत्ता है, क्योंकि सर्वथा असत् कार्य की खरविषाण की तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती। गेहूँ के अंकुर के लिए गेहूँ के बीज को ही ग्रहण किया जाता है, यवादि के बीज को नहीं। अतः ज्ञात होता है कि उपादान में कार्य का सद्भाव है। जगत् में सब कारणों से सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणों से प्रतिनियत कार्य होते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणों में जिन कार्यों का सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते हैं, अन्य नहीं। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्य को पैदा करता है, अशक्य को नहीं। यह शक्यता कारण में कार्य के सद्भाव के सिवाय और क्या हो सकती है? और यदि कारण में कार्य का तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसार में कोई किसी का कारण नहीं हो सकता। कार्यकारणभाव स्वयं ही कारण में किसी रूप से कार्य का सद्ीााव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकाल में किसी एक कारण में लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते हैं, उसमें उनका सद्भाव किसी रूप से रहा आता है। ये कारणों में कार्य की सत्ता शक्तिरूप से माने हैं, अभिव्यक्ति रूप से नहीं। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान–प्रकृति है, उसी से संसार के समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

नैयायिक का असत्कार्यवाद–

नैयायिकादि असत्कार्यवादी हैं। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है वह एक नया ही

---

96 ''असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भावाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य।।''
–सांख्यका. ९।

अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओं के संयोग के बिखर जाने पर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति के पहले उस अवयवी द्रव्य की कोई सत्ता नहीं थी। यदि कार्य की सत्ता कारण में स्वीकृत हो तो कार्य को अपने आकार–प्रकार में उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नहीं जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। कहीं भी अवयवी की उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवों में ही। अवयवों से भिन्न अर्थात् अवयवों से पृथक् अवयवी को जुदा निकालकर नहीं दिखाया जा सकता।

बौद्धों का असत्कार्यवाद–

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते हैं। उनकी दृष्टि में पूव्र और उत्त्र के साथ वर्तमान का कोई सम्बन्ध नहीं। जिस काल में जहाँ जो है, वह वहीं और उसी काल में नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य–कारणभाव आदि व्यवहारों की नियामिका है। वस्तुत: दो क्षणों का परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

जैनदर्शन का सदसत्कार्यवाद–

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ में मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होने पर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती हैं। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओं से बाहर की नहीं हैं, किन्तु उन्हीं में से विशेष अवस्थाओं में साक्षात् विकास को प्राप्त होनेवाली हैं। जैसे मिट्टीरूप पुद्‌गल के परमाणुओं में पुद्‌गल की घट–पट आदिरूप से परिणमन करने की सभी द्रव्ययोग्यताएँ हैं, पर मिट्टी की तत्पर्याययोग्यता घट को ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदि को नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्य में द्रव्ययोग्यता के साथ ही तत्पर्याय योग्यता या शक्ति के रूप में रहता ही है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूप से ही है पर्यायरूप से नहीं है।

सांख्य के यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' ही है, जिसमें जगत् के समस्त कार्यों के उत्पादन की शक्ति है। ऐसी दशा में जबकि उसमें शक्तिरूप से सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समय में अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारण के एक होने पर परस्परविरोधी अनेक कार्यों की युपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अत: सांख्य के यह कहने का कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारण में कार्य शक्तिरूप से है, व्यक्तिरूप से नहीं', क्योंकि शक्तिरूप से तो सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और

निरंश है, अतः उससे एक साथ विभिन्न देशों में परस्पर विरोधी अनेक कार्यों का आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामक कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टी के पिण्ड से घट की तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते?

जैनदर्शन का उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टी के परमाणुओं में यद्यपि पुस्तक और पटरूप से परिणमन करने की मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टी की पिण्डरूप पर्याय में साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बनने की तत्पर्याय योग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टी का पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्री के अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्यो का युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यता की है। जिस क्षण में कारणद्रव्यों में जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगी उनमें से किसी एक का विकास प्राप्त कारण सामग्री के अनुसार हो जाता है। पुरुष का प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकार में परिणत कराने के लिए विशेष साधक होता है। अपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यता के आधार पर होती है, मात्र द्रव्ययोग्यता के आधार से नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदों दोनों बीजों के परमाणुओं मे सभी अंकुरों को पैदा करने की समानरूप से है; परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदों के बीज में कोदों के अंकुर को ही उत्पन्न करने की है तथा गेहूँ के बीज में गेहूँ के अंकुर को ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न–भिन्न कार्यों की उत्पत्ति के लिए भिन्न–भिन्न उपादानों का ग्रहण होता है।

धर्मकीर्ति के आक्षेप का समाधान–

अतः बौद्ध का[९७] यह दूषण कि ''दही को खाओ, यह कहने पर व्यक्ति ऊँट को क्यों नहीं खाने दौड़ता? जबकि दही और ऊँट के पुद्गलों में पुद्गलद्रव्य रूप से कोई भेद नहीं है।'' उचित मालूम नहीं होता; क्योंकि जगत् का व्यवहार मात्र द्रव्य योग्यता से ही नहीं चलता; किन्तु तत्पर्याय योग्यता से चलता है। ऊँट के शरीर के पुद्गल और दही के पुद्गल, द्रव्यरूप से समान होने पर भी 'एक' नहीं हैं और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूप से भी अपना परस्पर भेद रखते हैं तथा उनकी तर्त्याययोग्यताएँ भी जुदी–जुदी हैं, अतः दही ही खाया जाता

---

97 सर्वस्योीायरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति।।''
–प्रमाणवा. ३।१८१।

है, ऊँट का शरीर नहीं। सांख्य के मत से यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनों रूप से विकसित हुआ है, तब उनमें भेद का नियामक क्या है? एक तत्त्व में एक ही समय विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के परिणमन नहीं हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टी के परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न हैं; तो क्या नियामक है जो घड़ा वहीं उत्पन्न हो अन्यत्र नहीं? प्रतिनियत कार्य–कारण की व्यवस्था के लिए कारण में योग्यता या शक्ति रूप से कार्य का सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारण में कार्योत्पादन की योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूलद्रव्यों में समान होने पर भी विभिन्न अवस्थाओं में उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतता के कारण जगत् में अनेक प्रकार के कार्य कारणभाव बनते हैं। यह तो हुई अनेक पुद्गल द्रव्यों के संयुक्त स्कन्ध की बात।

एक द्रव्य की अपनी क्रमिक अवसथाओं में अमुक उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोगयता पर ही निर्भर नहीं करता, किन्तु कारणभूत पर्याय की तत्पर्याय योग्यता पर भी। प्रत्येक द्रव्य के प्रतिसमय स्वभावतः उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप से परिणामी होने के कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवाद के आधार से जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारण में कार्याकार से असत् होकर भी योग्यता या शक्ति के रूप में सत् है। यदि कारणद्रव्य में वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाह में चलनेवाली धाराबद्ध पर्यायों का परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्याय में उपादान कारण हो सके, दूसरे की उत्तर पर्याय में नहीं। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्य के सत्कार्यवाद में सम्भव है और न बौद्ध तथा नैयायिक आदि के असत्कार्यवाद में ही। सांख्य के पक्ष में कारण के एक होने से इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेद को सिद्ध करना असम्भव है और बौद्धों के यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षण के साथ अमुक क्षण का उपादान उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकों के अवयवी द्रव्य का अमुक अवयवों के ही साथ समवाय सम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैन दर्शन में ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाण के प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य–विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण

और पर्याय द्रव्य से कथञ्चितादाम्य सम्बन्ध रखने के कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्य की तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हीं के एक–एक धर्मों में नयों की प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शन की दृष्टि में द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्य की पर्यायें हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं।

७. तत्त्व–निरूपण

तत्त्वव्यवस्था का प्रयोजन–

पदार्थव्यवस्था की दृष्टि से यह विश्व षट्द्रव्यमय है; परन्तु मुमुक्षु को जिनके तत्त्वज्ञान की आवश्यकता मुक्ति के लिए है, वे तत्त्व सात हैं। जिस प्रकार रोगी को रोग–मुक्ति के लिए रोग, रोग के कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्ति का उपाय इन चार बातों का जानना चिकित्साशास्त्र में आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्ष की प्राप्ति के लिए संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूह का जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपण के जुदे–जुदे प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्था का ज्ञान न होने पर भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष की साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होने पर विश्वव्यवस्था का समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगी के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपने को रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोग का भान नहीं होता, तब तक वह चिकित्सा के लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोग के ज्ञान के बाद रोगी को यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोग की साध्यता का ज्ञान ही उसे चिकित्सा में प्रवृत्ति कराता है। रोगी को यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणों से उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्य में उन अपथ्य आहार–विहारों से बचा रहकर अपने को नीरोग रख सके। रोग को नष्ट करने के उपायभूत औषधोपचार का ज्ञान तो आवश्यक है ही; तभी तो मौजूदा रोग का औषधोपचार से समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्य को पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणो से बँधा हे, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायों से टूट सकता है।' इन मूलभूत चार मुद्दों में तत्त्वज्ञानी की परिसमाप्ति भारतीय दर्शनों ने की है।

बौद्धों के चार आर्यसत्य–

म. बुद्ध ने भी निर्वाण के लिए चिकित्साशास्त्र की तरह दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यों का[98] उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, पलोक क्या है' आदि के दार्शनिक विवादों में न तो स्वयं गये और न शिष्यों को ही जाने दिया। इस सम्बन्ध का बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्न में दिया गया है कि 'जैसे किसी व्यक्ति को विष से बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीर को निकालने के लिए विषवैद्य को बुलाते हैं, तो उस समय उसकी यह मीमांसा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहे से बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया? यह कबतक स्थिर रहेगा? यह विषवैद्य किस गोत्र का है?' उसी तरह आत्मा की नित्यता और परलोक आदि का विचार निरर्थक है, वह न तो बोधि के लिए और न निव्राण के लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्यों का वर्णन इसप्रकार है। दुःख सत्य—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःक्ष है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दुःख हैं। संक्षेप में पाँचों उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप हैं। समुदय—सत्य—काम की तृष्णा, भव की तृष्णा और विभव की तृष्णा दुःख को उत्पन्न करने के कारण समुदाय कही जाती है। जितने इन्द्रियों के प्रिय विषय हैं, इष्ट रूपादि हैं, इनका वियोग न हो, वे सदा बने रहें, इस तरह उनसे संयोग के लिए चित्त की अभिनन्दिनी वृत्ति को तृष्णा कहते हैं। यही तृष्णा समस्त दुःखों का कारण है। **निरोध—सत्य—** तृष्णा के अत्यन्त निरोध या विनाश को निरोध आर्यसत्य कहते हैं। दुःख निरोधक का मार्ग है—आष्टांगिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य—भावना ही मुख्यरूप से मार्ग हैं। बुद्ध ने आत्मदृष्अि या सत्त्वदृष्अि को ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना[99] है कि एक आत्मा को शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुख में तृष्णा करता है। तृष्णा के कारण उसे दोष नहीं दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनों में ममत्व करता है, उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसार में रुलता है। इस एक आत्मा के मानने से वह अपने को

---

98 ''सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधी मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः।।'' —अभिध. को. ६।२।

99 ''यः पश्यत्यामानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषो।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।''
—प्र. वा. १।२१९—२१।

स्व और अन्य को पर समझता है। स्व–परविभाग से राग और द्वेष होते हैं और ये राग–द्वेष ही समस्त संसार परम्परा के मूल–स्रोत हैं। अतः इस सर्वानर्थमूल[100] आत्मदृष्टि का नाश कर नैरात्म्य–भावना से दुःख निरोध होता है।

बुद्ध का दृष्टिकोण–

उपनिषद् का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शन पर जोर देता है और आत्मदर्शन को ही मोक्ष का परम साधन मानता है और मुमुक्ष के लिए आत्मज्ञान को ही जीवन का सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्ध ने इस आत्मदर्शन को ही संसार का मूल कारण माना है। आत्मदृष्अि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्या दृष्टियाँ हैं। औपनिषद तत्त्वज्ञान की ओट में, यज्ञिक क्रियाकाण्ड की जो प्रश्रय मिल रहा था उसी की यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्ध को 'आत्मा' शब्द से ही घृणा हो गई थी। आत्मा को स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिक के प्रलोभन से अनेक क्रूर यज्ञों में होनेवाली हिंसा के लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवाद से ही राग और द्वेष की अमरबेलें फेलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनों ही राग, द्वेष और मोह का अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्ति को अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनों के इतने जुदे थे कि एक जिस आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण मानता था, दूसरा उसे संसार का मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्ध का मानस दार्शनिक की अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दों को बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओट में मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासों की सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्ध की नैरात्म्य–भावना का उद्देश्य 'बोधिचर्य्यावतार' (पृ. ४४९) में इस प्रकार बताया है–

> ''यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
> अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भीतिर्भविष्यति।।''

अर्थात्– यदि 'मै' नाम का कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था; परन्तु जब 'मैं' ही नहीं है, तब भय किसे होग?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्त को खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिकवाद को भी दूसरा अन्त समझकर

---

100 ''तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः।।''
–प्रमाणवा. १।२५८।

उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियों के उच्छेदवाद को ही माना और न उपनिषद्वादियों के शाश्वतवाद को ही। इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूप में व्यवहृत होता है। उन्होंने आत्मासम्बन्धी प्रश्नों को अव्याकृत कोटि में डाल दिया था और भिक्षुओं को स्पष्ट रूप से कह दिया था कि 'आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना या सुनना न बोधि के लिए, न ब्रह्मचर्य के लिए औन न निर्वाण के लिए ही उपयोगी है।' इस तरह बुद्ध ने उस आत्मा के ही सम्बन्ध में कोई भी निश्चित बात नहीं कही, जिसे दु:ख होता है और जो दु:ख निवृत्ति की साधना करना चाहता है।

१. आत्मतत्त्व—

जैनों के सात तत्त्वों का मूल आत्मा—

निग्गंठ नाथपुत्त महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्ड को निरर्थक और श्रेय: प्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध। वे आचार अर्थात् चारित्र को ही मोक्ष का अन्तिम साधन मानते थे; परन्तु उनने यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्मा के विषय में शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेते, जिस आत्मा को दु:ख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानससंशय से मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकते। जब मगध और विदेह के कोने में ये प्रश्न गूँज रहे हों कि— 'आत्मा देहरूप है या देह से भिन्न? परलोक क्या है? निर्वाण क्या है?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्ध में अपने मतों का प्रचार कर रहे हों और इन्हीं प्रश्नों पर वाद रोपे जाते हों, तब शिष्यों को यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि ''क्या रखा है विवाद में कि आत्मा क्या है और कैसी है? हमें तो दु:खनिवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।'' परन्तु इससे उनके मन की शल्य और बुद्धि की विचिकित्सा नहीं निकल सकती थी और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार—दीनता के हीनतर भावों से अपने चित्त की रक्षा नहीं कर सकते थे। संघ में तो विभिन्न मतवादियों के शिष्य, विशेषकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे। जब तक इन सब पँचमेल व्यक्तियों के, जो आत्मा के विषय में विभिन्न मत रखते थे और तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसा का वातावरण नहीं बना सकते थे। कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ़ दर्शन के बिना परीक्षक—शिष्यों को अपना अनुयायी नहीं बना सकता। श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यो न करा ले पर उसका स्थायित्व विचार शुद्धि के बिना कथमपि सम्भव नहीं है।

यही कारण है कि भगवान् महावीर ने उस मूलभूत आत्मतत्त्व के स्वरूप के विषय में मौन नहीं रखा और अपने शिष्यों को यह बाताया कि धर्म वस्तु के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति ही है। जिस वस्तु का जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूप में स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णता को कायम रखती है, तब तक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायु के झोंकों से स्पन्दित हो रही है और चंचल होने के कारण अपने निश्चल स्वरूप से च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अंश में धर्मस्थित नहीं है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म–स्थित है। यदि वह अग्नि के संसर्ग से स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म–स्थित नहीं है। इस परसंयोगजन्य विकार–परिणति को हटा देना ही जल की धर्म–प्राप्ति है। उसी तरह आत्मा का वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसंयोग से राग, द्वेष, तृष्णा, दु:ख आदि विकाररूप से परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जब तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूप को पाने के लिए उच्छवास भी ले सकता है? रोगी को जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नहीं हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोग को विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्था का यथार्थ दर्शन हो और जब तक वह रोग को विकार नहीं मानता तब तक वह रोग–निवृत्ति के लिए चिकित्सा में क्यों प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य की प्राप्ति के लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नहीं है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्य की प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूलभूत आत्मा के स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं होगा और परसंयोग से होनेवाले विकारों को आगन्तुक होने से विनाशी न माना जायगा, तब तक दु:खनिवृत्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता (first aid) के रूप में आवश्यक है कि वह पहले तीर को निकलवा ले; किन्तु इतने में ही उसके कर्तव्य की समाप्ति नहीं हो जाती। वैद्य को यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किसी विष से बुझा हुआ है और किस वस्तु का बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीर में उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घाव को भरने के लिए कौन–सी मलहम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसी ने दुश्मनी से मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते हैं, जिनसे आगे तीर लगने का अवसर न आवे। यही कारण है कि तीर की भी परीक्षा की जाती है,

तीर मारनेवाले की भी तलाश की जाती है और घाव की गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिए यह जानना और समझना मुमुक्षु के लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु? जिसकी प्राप्ति के लिए मैं प्राप्त सुख का परित्याग करके स्वेच्छा से साधना के कष्ट झेलने के लिए तैयार होऊँ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूप का भान किये बिना और उसके सुखद रूप की झाँकी पाये बिना केवल परतन्त्रता तोड़ने के लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधना के घोर कष्टों को स्वेच्छा से झेलता है। अत: उस आधारभूत आत्मा के मूल स्वरूप का ज्ञान मुमुक्षु को सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीर ने बंध (दु:ख), आस्रव (दु:ख के कारण), मोक्ष (निरोध), संवर और निर्जरा (निरोधम–मार्ग), इन पाँच तत्त्वों के साथ ही साथ उस जीवतत्त्व का ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीव को यह संसार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बन्ध दो वस्तुओं का होता है। अत: जिस अजीव के सम्पर्क से इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग–द्वेष करने के कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलों से बद्ध होने के कारण यह जीव स्वरूप से च्युत है उस अजीवतत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैं।

तत्त्वों के दो रूप–

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो–दो प्रकार के होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामों से कर्मपुद्गलों का आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलों में कर्मत्व का आ जाना द्रव्यास्रव है; अर्थात् भावास्रव जीवगत पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलत। जिन कषायों से कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबन्ध हैं और पुद्गलकर्म का आत्मा से सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रों से नये कर्मों का आना रुकता है वे भाव भावसंवर हैं और कर्मों का रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी तरह पूर्वसञ्चित कर्मों का निर्जरण जिन तप आदि भावों से होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मों का झड़ना द्रव्यनिर्जरा है। जिन ध्यान आदि साधनों से मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्मपुद्गलों का आत्मा से सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

तात्पर्य यह कि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूप में जीव की पर्याय हैं और द्रव्यरूप में पुद्गल की। जिस भेदविज्ञान से— आत्मा और पर के विवेकज्ञान से— कैवल्य की प्राप्ति होती हे उस आत्मा और पर में ये सातों तत्त्व समा जाते हैं। वस्तुत: जिस पर की परतन्त्रता को हटाना है और जिस स्व को स्वतन्त्र होना उन स्व और पर के ज्ञान में ही तत्त्वज्ञान की पूर्णता हो जाती है। इसीलिए संक्षेप में मुक्ति का मूल साधन 'स्वपर—विवेकज्ञान' को बताया गया है।

तत्त्वों की अनादिता—

भारतीय दर्शनों में सबने कोई—न कोई पदार्थ अनादि माने ही हैं। नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतों को अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षण की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो। समय कब से प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाश की भी कोई क्षेत्रगत मर्यादा नहीं बताई जा सकती— ''सर्वतो हि अनन्तं तत्'' आदि अन्त सभी ओर से आकाश अनन्त है। आकाश और काल की तरह हम प्रत्येक सत् के विषय में यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षण में नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा।

''भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।''

— पंचास्तिकाय गा. १५।

''नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।''

— भगवद्गीता २।१६।

अर्थात्— किसी असत् का सत् रूप से उत्पाद नहीं होता और न किसी सत् का अत्यन्त विनाश ही होता है। जितने गिने हुए सत् हैं, उनकी संख्या में न एक की वृद्धि हो सकती है और न एक की हानि। हाँ, रूपान्तर प्रत्येक का होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत्। अनादिकाल से यह आत्मा पुद्गल से

उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानि से निकाला गया सोना मैल से संयुक्त मिलता है।

आत्मा को अनादिबद्ध मानने का कारण–

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीर से बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दु:ख और यहाँ तक कि जीवन–शक्ति भी शरीराधीन है। शरीर में विकार होने से ज्ञानतन्तुओं में क्षीणता आ जीती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं संसारी आतमा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्ध का कोई कारण नहीं था। शरीर सम्बन्ध या पुनर्जन्म के कारण हैं– राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मा में ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल–शरीर सम्बन्ध प्रत्यक्ष से अनुभव में आ रहा है, अत: मानना होगा कि आज इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनों में यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुख से नहीं दिया जा सकता। बह्म में अविद्या कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुष का संयोग कब हुआ? आत्मा से शरीर सम्बन्ध कब हुआ? इन सब प्रश्नों का एक मात्र उत्तर है– 'अनादि' से। किसी भी दर्शन ने एसे समय की कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भाव से ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिश: अमुक आत्माओं से पुद्‌गलसंसर्ग या प्रकृति संसर्ग का वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे संसरण करना पड़ता है। इस प्रश्न का दूसरा उत्तर इसप्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होने के बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्‌गलसम्बन्ध या अविद्योत्पति होने दे। इसी के अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होने का या शरीर सम्बन्ध का नहीं था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यों न हो; नष्ट किया जा सकता है और दोनों को पृथक्–पृथक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ–खदान से सर्वप्रथम निकाले गए सोने में कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य काल से लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगों से अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूप में लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोने का शुद्ध रूप यह है तथा मैल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्‌गल का बन्ध अनादि से है और वह बन्ध जीव के अपने राग–द्वेष आदि भावों के कारण उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बन्ध आत्मा में नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे–धीरे या एक झटके में ही समाप्त हो सकता है। चूँकि यह बन्ध

दो स्वतन्त्र द्रव्यों का है, अतः टूट सकता है या उस अवस्था में तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहने पर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्मा की दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदि की शक्ति रहने पर भी वह शक्ति जैसी–की तैसी रह जाती है। और देखना और सुनना नहीं होता। विचार शक्ति होने पर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखने में वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्मा की दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गल के अधीन हो रहा है और तो जाने दीजिए, जीभ के अमुक–अमुक हिस्सों में अमुक–अमुक रसों के चखने की निमित्ता देखी जाती है। यदि जीभ के आधे हिस्से में लकवा मार जाय तो शेष हिस्से से कुछ रसों का ज्ञान हो पाता हे, कुछ का नहीं। इस जीवन के ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्याय के अधीन है।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञान का उपयोग विज्ञान या धर्म के अध्ययन में लगाता है, जवानी में उसके मस्तिष्क में भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रा में थे, तो उसके तन्तु चैतन्य को जगाए रखते थे। बुढ़ापा आने पर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड़ जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानी में लिखे गए लेख को यदि बुढ़ापे में पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी–कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह उसी ने लिखा होगा। मस्तिष्क की यदि कोई ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमाग का यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया तो उन्माद, स्नेह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकार की धाराएँ जीवन को ही बदल देती हैं। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के चेतनभावों को जागृत करने के विशेष उपादान रहते हैं।

मुझे एक ऐसे योगी का अनुभव है जिसे शरीर के नशों का विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्क की किसी खास नस को दबाता था तो मनुष्य को हिंसा और क्रोध के भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नस के दबाते ही दया और करुणा के भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नस के दाते ही लोभ का तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। इन सब घटनाओं से हम एक इस निश्चित परिणाम पर तो पहुँच ही सकते हैं

कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय आदि शामिल हैं, इस शरीरपर्याय के निमित्त से विकसित होती है। शरीर के नष्ट होते ही समस्त जीवन भर में उपार्जित ज्ञानादि पर्यायशिक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार हो जाते हैं।

व्यवहार से जीव मूर्तिक भी है—

जैनदर्शन में व्यवहार से जीव को मूर्तिक मानने का अर्थ है कि अनादि से यह जीव शरीर सम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़ने पर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीर के नाश को ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाक का देहात्मवाद देह के साथ ही आत्मा की समाप्ति मानता है जब कि जैन के देहपरिमाण—आत्मवाद में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशा में देहाश्रित यानी देहनिमित्तिक माना गया है।

आत्मा की दशा—

आज का विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी—सीधी और उथली—गहरी रेखाएँ मस्तिष्क में भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थ में खिंचती जाती हैं और उन्हीं के अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। जैसे अग्नि से तपे हुए लोहे के गोले को पानी में छोड़ने पर वह गोला जल के बहुत से परमाणुओं को अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओं को बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानी में उथल—पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओं को लेता है, कुछ को निकालता है, कुछ को भाफ बनाता, यानी एक अजीब ही परिस्थिति आस—पास के वातावरण में उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग—द्वेष आदि से उत्तम होता है; तब शरीर में एक अद्भुत हलन—चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खून की गति बढ़ जाती है, मुँह सूखने लगता है और नथने फड़कने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीर में एक विशेष प्रकार का मन्थन शुरु होता है और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नहीं हो लेती; तब तक यह चहल—पहल और मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्मा के विचारों के अनुसार पुद्‌गलद्रव्यों में भी परिणमन होता है और उन विचारों के उत्तेजक पुद्‌गल आत्मा के वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीर में शामिल होते जाते हैं। जब—जब उन कर्मपुद्‌गल आते हैं और उन कर्मपुद्‌गलों के परिपाक के अनुसार नूतन रागादि भावों की सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्मपुद्‌गलों के सम्बन्ध का चक्र तबतक

बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्र से रागादि भावों को नष्ट नहीं कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीव की ये राग–द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्ध की धारा बीज–वृक्षसन्तति की तरह अनादि से चालू है। पूर्व संचित कम के उदय से इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्काल में जो जीव की आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्म से रागादि और रागादि से नये कर्म का बन्ध होता है। तब इस चक्र का उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्वकर्म के फल का भोगना ही नये कर्म का बन्धक नहीं होता, किनतु उस भोगकाल में जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के पूर्वकर्म के भोग नूतन रागादिभावों को नहीं करने की वजह से निर्जरा के कारण होते हैं जब कि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादि से बन्ध ही बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्म के उदय से होनेवाले रागादिभावों को अपने विवेक से शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और किसी नये कर्म का उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अत: सम्यग्दृष्टि तो हर तरफ से हल का हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्ति के कारण तेजी से कर्मबन्धनों में जकड़ता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्क पर अनुभवों की सीधी, टेढ़ी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएँ पड़ती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहले की निर्बल रेखा को साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय संस्कार की है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय संस्कार की है तो उसे पोंछ देती है। अन्त में कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो रागद्वेषादि जन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदि की पवित्र भावनाओं से धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावों का निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलों में और भी काले पुद्गलों का संयोग तीव्रता से होता जाता है। इस तरह जीवन के अन्त में कर्मों का बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (घटती), उत्कर्षण (बढ़ती), संक्रमण (एक दूसरे के रूप में बदलना) आदि होते–होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म–शरीर के रूप में परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्नि पर उबलती हुई बटलोई में दाल, चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर–नीचे अगल–बगल में

उफान लेकर अन्त में एक खिचड़ी—सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मों में, शुभभावों से शुभकर्मों में रस—प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मों में रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्त में एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदय से रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेट में जठराग्नि से आहार का मल, मूत्र, स्वेद आदि के रूप से कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि रूप से परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीच में चूरण—चटनी आदि के संयोग से उसकी लघुपाक के अनुसार ही भोजन को सुपच या दुष्पच कहा जाता है, उसी तरह कर्म का भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावों के अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूप से परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्त में जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मों को शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्‌गल और आत्मा दोनों से प्रभावित होता है। जब कर्म का एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्ति का स्रोत है, आत्मा से सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्ति के अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्त सामग्री के अनुसार उस संचित कर्म का तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकाल से चल रहा है और तब तक चालू रहेगा। जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओं का नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थों के— नोकर्मों के समवधान के अनुसार कर्मों का यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूप से परिपाक होता रहता है। उदयकाल में होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावों के अनुसार आगे उदय में आनेवाले कर्मों के रसदान में भी अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मों का फल देना, अन्य रूप में देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थ के ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शन में यह आत्मा अनादि से अशुद्ध माना गया है और प्रयोग से यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होने के बाद फिर अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं रह जाता। आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार भी कर्म के निमित्त से ही होता है। अत: कर्मनिमित्त के हट जाने पर आत्मा अपने अन्तिम आकार में रह जाता है ऊर्ध्व लोक के अग्र भाग में स्थिर हो अपने चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः भगवान् महावीर ने बन्ध–मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वों के सिवाय उस आत्मा का ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमान में अशुद्ध हो रहा है। आत्मा की अशुद्ध दशा स्वरूप–प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वरूप को भूलकर पदार्थों में ममकार और अहंकार करने के कारण हुई है, अतः इस अशुद्ध दशा का अन्त भी स्वरूप के ज्ञान से ही हो सकता है। इस आत्मा को यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूप को भुलाकर परपदार्थों में ममकार और शरीर को अपना मानने के कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायों की ज्वाला से मेरा स्वरूप समल और योग के कारण चंचल हो गया है। यदि परपदार्थों से ममकार और रागादि भावों से अहंकार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जाँयगी। इस तत्त्वज्ञान से आत्मा विकारों को क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धि को मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है?

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि–

बुद्ध के तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ दुःख से होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्ति में। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद् वादियों का नित्य आत्मा और नित्य आत्मा में स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थों में परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभाग से राग–द्वेष और राग–द्वेष से यह संसार बन जाता है। अतः समस्त अनर्थों की जड़ आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि आत्मा की नित्यता और अनित्यता राग और विराग का कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूप के अज्ञान और स्वरूप के सम्यगान से होते हैं। राग का कारण है परपदार्थों में ममकार करना। जब इस आत्मा को समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री–पुत्रादि तथा शरीर में ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नहीं, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभाव की ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेक दृष्टि या सम्यग्दर्शन से परपदार्थों से रागद्वेष हटाकर स्वरूप में लीन होने लगता है। इसी कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इसी के कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोक में मैं एक आत्मा हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब

प्रर द्रव्य हैं। परपदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। आजतक मैंने परपदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराने की अनधिकार चेष्टा ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसार के अधिक–से अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनके वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारों और क्रिया पर ही अधिकार रख सकता है परपदार्थों पर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेष को उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री, पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारे पर चलें। संसार के समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्य को अपने इशारे पर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसार के अधिकतम पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए हैं और दूसरे द्रव्यों को अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीना–झपटी में संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग–द्वेष होते हैं और होता है अन्ततः दुःख ही दुःख।

सुख और दुःख की स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।' मनुष्य की चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्अ का संयोग रहे और अनिष्ट का संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकार की चाह इस शेखचिल्ली मानव को होती रहती है। बुद्ध ने जिस दुःख को सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीर ने इस तृष्णा का कारण बताया है 'स्वरूप की मर्यादा का अज्ञान', यदि मनुष्य को यह पता हो कि– 'जिनकी मैं चाह करता हूँ और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। सारांश यह कि दुःख का कारण तृष्णा की उद्‌भूति स्वाधिकार एवं स्वरूप के अज्ञान या मिथ्याज्ञान के कारण होती है, परपदार्थों को अपना मानने के कारण होती है। अतः उसका उच्छेद भी स्वरूप के सम्यगान यानी स्वपरविवेक से ही हो सकता है। इस मानव ने अपने स्वरूप और अधिकार की सीमा को न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और परपदार्थों के निमित्त से जगत् में अनेक कल्पित ऊँच–नीच भावों की सृष्टि कर मिथ्या अहंकार का पोषण किया है। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों को लेकर ऊँच–नीच व्यवहार की भेदक भित्ति खड़ी कर, मानव को मानव से इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मांसपिण्ड दूसरे की छाया से या दूसरे को छूने से अपने को अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थों के संग्रही और परिग्रही को महत्त्व देकर

इसने तृष्णा की पूजा की। जगत् में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब परपदार्थों की छीना—झपटी के कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूप को तथा तृष्णा की पूजा की। जगत् में जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब परपदार्थों की छीना—झपटी के कारण हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूप को तथा तृष्णा के मूल कारण 'पर में आत्मबुद्धि' को नहीं समझ लेता तब तक दुःख निवृत्ति की समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती।

बुद्ध ने संक्षेप में पाँच स्कन्धों को दुःख कहा है। पर महावीर ने उसके भीतरी तत्त्वज्ञान को भी बताया। चूँकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नहीं हैं, अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावों का सर्जक है और दुःखस्वरूप है। निराकुल सुख का उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थों से ममत्व का हटाना ही है। इसके लिए आत्मा की यथार्थ दृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शन का यह रूप परपदार्थों में द्वेष करना नहीं सिखाता; किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार व्यवहार पर ही है। अतः आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान हुए बिना दुःख निवृत्ति या मुक्ति की सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

नैरात्म्यवाद की असारता—

अतः आ. धर्मकीर्ति की यह आंशका भी निर्मूल है कि—

''आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।''

—प्रमाणवा.
१।२२१।

अर्थात् आत्मा को 'स्व' मानने से दूसरों को 'पर' मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्व का परिग्रह और पर से द्वेष होगा। परिग्रह द्वेष होने से रागद्वेष मूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्मा को स्व मानने से आत्मेतर को पर मानेगा। पर स्वपरविभाग से परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे? आत्मस्वरूप का परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थों का और उसके सुखसाधनों का होता है, जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख—साधन 'पर' है वैसे शरीर भी । राग और द्वेष भी शरीरादि के सुख—साधनों और असाधनों में होते हैं, सो आत्मअदर्शी को क्यों होंगे? उल्टे

आत्मद्रष्टा शरीरादि निमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वों के त्याग का ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीर स्कन्ध को ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शन से शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीर के इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थों में परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं; किन्तु जो शरीर को भी 'पर' ही मान रहा है तथा दु:ख का कारण समझ रहा है। है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनों में रागद्वेष करेगा? अत: शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का परिज्ञान ही रागद्वेष की जड़ को काट सकता है और वीतरागता को प्राप्त करा सकता है। अत: धर्मकीर्ति का आत्मदर्शन की बुराइयों का यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है–

''य: पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वत: स्नेह:।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषाँस्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे।।''

–प्रमाणवार्तिक १।२१९–२०।

अर्थात्– जो आत्मा को देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है। स्नेह से आत्मसुख में तृष्णा होती है। तृष्णा से आत्मा के अन्य दोषों पर दृष्टि नहीं जाती, गुण–ही–गुण दिखाई देते हैं। आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनों में ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है। इस तरह जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तब तक संसार ही है।

क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूप को उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्मा के हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्मा को बन्ध में डालनेवाला है। आत्मा के स्वरूपभूत सुख के लिए किसी अन्य साधन के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है; किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थों में मिथ्याबुद्धिकर रखी है उस मिथ्याबुद्धि का ही छोड़ना और आत्मगुण का दर्शन आत्ममात्र में लीनता का कारण होगा न कि बन्धकारक परपदार्थों के ग्रहण का। शरीरादि परपदार्थों में होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादि का सर्जक होता है; किन्तु शरीरादि से भिन्न आत्म–तत्त्व का दर्शन शरीरादि में रागादि क्यों उत्पन्न करेगा?

पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नहीं–

यह तो धर्मकीर्ति तथा उननके अनुयायियों का आत्मतत्त्व के अव्याकृत होने का कारण दृष्टि व्यामोह ही है; जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे हैं और आत्मदृष्टि को मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं। एक ओर वे पृथिव्यादि महाभूतों से आत्मा की उत्पत्ति का

खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों से भिन्न किसी आत्मा को मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्ध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई विशेषता नहीं रखता है। जब बुद्ध स्वयं आत्मा को अव्याकृत कोटि में डाल गए है तो उनके शिष्यों का दार्शनिक क्षेत्र में भी आत्मा के विषय में परस्परविरोधी दो विचारों में दोलित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन बुद्ध के इन विचारों को 'अभौतिक अनात्मवाद जैसे उभय प्रतिषेधक' नाम से पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्मा का स्वरूप है क्या? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्ध की तरह स्वतन्त्र सत् है? क्या आत्मा की रूपस्कन्ध की तरह स्वतन्त्र सत्ता है? और और यदि निर्वाण में चित्त संतति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाक के एक जन्म तक सीमित देहात्मवाद से इस अनेकजन्म–सीमित पर निर्वाण में विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवाद में क्या मौलिक विशेषता रह जाती है? अन्त में तो उसका निरोध हो ही जाता है।

महावीर इस असंगति के जाल में न तो स्वयं पड़े और न शिष्यों को ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्मा का समग्रभाव से निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्म का का लक्षण है स्वभाव में स्थिर होना। आत्मा का अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्व की जिज्ञासा के बिना हो ही नहीं सकता। परतन्त्रता के बन्धन को तोड़ना स्वातन्त्र्य सुख के लिए होता है। कोई वैद्य रोगी यह कहे कि 'तुम्हे इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ; तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेद की कक्षा में विद्यार्थियों को जिज्ञासा का समाधान इतने मात्र से नहीं किया जा सकता। रोग की पहचान भी स्वास्थ्य के स्वरूप को जाने बिना नहीं हो सकती। जिन जन्मरोगियों को स्वास्थ्य के स्वरूप की झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोग को रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्ति की चेष्टा ही कहते हैं। अत: हर तरह मुमुक्षु के लिए आत्मतत्त्व का समग्र ज्ञान आवश्यक है।

आत्मा के तीन प्रकार–

आत्मा तीन प्रकार के है– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि परपदार्थों को अपना रूप मानकर उनकी ही

प्रियभोग सामग्री में आसक्त हैं वे बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्य पदार्थों से आत्मदृष्अि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं जो यह संसारी आत्मा अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमश: परमात्मा बन जाता है। अत: आत्मधर्म की प्राप्ति या बन्धन—मुक्ति के लिए आत्मतत्त्व का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

चारित्र का आधार—

चारित्र अर्थात् अहिंसा की साधना का मुख्य आधार जीवतत्त्व के स्वरूप और उसके समान अधिकार की मर्यादा का तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते हैं कि जगत् में वर्तमान सभी आत्माएँ अखण्ड और मूलत: एक—एक स्वतन्त्र समानशक्ति वाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवन को प्रिय समझते हैं, सुख चाहते हैं, दु:ख से घबड़ाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति, कीड़ा, मकोड़ा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरों को धारण करती रही है और न जाने इसे कौन—कौन शरीर धारण करना पड़ेंगे। मनुष्यों में जिन्हें हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं औन बन्धनों से उन समानाधिकारी मनुष्यों के अधिकारों का निर्दलन करके उनके विकास को रोकते हैं, उन नीच और अछूतों में भी हम उत्पन्न हुए होंगे। आज मन में दूसरों के प्रति उन्हीं कुत्सित भावों को जाग्रत करके उस परिस्थिति का निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं। जिससे हमारी उन्हीं में उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोद से लेकर मणुष्यों तक के हमारे सीधे सम्पर्क में आनेवाले प्राणियों के मूलभूत स्वरूप और अधिकार को समझे बिना हम उन पर करुणा, दया आदि के भाव ही नहीं ला सकते और न समानाधिकार मूलक परम अहिंसा के भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्त में जब उन समस्त प्राणियों में आत्मौपम्य की पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामना से भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्म को नहीं समझनेवाले संघर्षशील हिंसा के शोषण और निर्दलन से पिसती हुई आत्मा के उद्धार की छअपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञान की सुवास से ही हमारी परिणति परपदार्थों के संग्रह और परिग्रहकी दृष्प्रवृत्ति से हटकर लोककल्याण और जीवसेवा की ओर झुकती है। अत: अहिंसा की सर्वभूतमैत्री की उत्कृष्ट साधना के लिए सर्वभूतों के स्वरूप और अधिकार का ज्ञान तो पहले चाहिए ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिए उसके प्रति दृढ़ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्व की मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रियराजकुमार वर्धमान के मन में जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूति को बन्धन मानकर बाहर–भीतर की सभी गाँठे खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत् में मानवता को वर्णभेद की चक्की में पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियों को झकझोर कर एक बार रुककर सोचने का शीतल वातावरण उपस्थित कर सकें। उनने अपने त्याग और तपस्या के साधक जीवन से महत्ता का मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रासित शोषित अभिद्रावित और पीड़ित मनुष्य तनधारियों को आत्मवत् समझ धर्म के क्षेत्र में समान रूप से अवसर देनेवाले समवसरण की रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसा की विविध प्रकार की साधनाओं के लिए आत्मा के स्वरूप और उसके मूल अधिकार– मर्यादा का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थों से विवेक प्राप्त करने के लिए 'पर' पुद्गल का ज्ञान। बिना इन दोनों का वास्ततिक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शन की वह अमरज्योति नहीं जल सकती, जिसके प्रकाश में मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमता का उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकार का ज्ञान और उसको जीवन में उतारने की दृढ़निष्ठा ही सर्वोदय की भूमिका हो सकती है। अतः वैयक्तिक दुःख की निवृत्ति तथा जगत् में शान्ति स्थापित करने के लिए जिन व्यक्तियों से यह जगत् बना है उन व्यक्तियों के स्वरूप और अधिकार की सीमा को हमें समझना ही होगा। हम उसकी तरफ से आँख मूँदकर तातकालिक करुणा या दया के आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नहीं कर सकते। अतः भगवान् महावीर ने बन्धनमुक्ति के लिए जो 'बन्धा है तथा जिससे बन्धा है' इन दोनों तत्त्वों का परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्ध परम्परा के समूलोच्छेद करने का संकल्प ही नहीं हो सकता और न चारित्र के प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्र की प्रेरणा तो विचारों से ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व–

जिस प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीव के सम्बन्ध से आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीव तत्त्व के ज्ञान की भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्व को नहीं जानेंगे तब तक 'किन दो में बन्ध हुआ है' यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अजीव तत्त्व में धर्म, अधर्म, आकाश और काल का भले ही सामान्यज्ञान हो; क्योंकि इनसे आत्मा का कोई भला बुरा नहीं होता, परन्तु पुद्गल द्रव्य का किञ्चित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छास और वचन आदि सब पुद्गल का ही है। जिसमें शरीर तो चेतन के संसर्ग

से चेनायमान हो रहा है। जगत् में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसी में कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्भूत। यद्यपि अग्नि में रस, वायु में रूप और जल में गन्ध अनुद्भूत है फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धों की अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षु के लिए शरीर की पौद्गलिकता का ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवन की आसक्ति का मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्मा का ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीर के पुर्जों के बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञान–विकास रुक जाता है और शरीर के नाश होने पर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तेल–बत्ती से भिन्न ज्योति की तरह है ही। शरीर का अणु–अणु जिसकी शक्ति से संचालित और तेनायमान हो रहा है वह अन्तः ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मणशरीर के अनुसार वर्तमान स्थूल के नष्ट हो जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। आज तो आत्मा के सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के विचार और संस्कार कार्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीर के अनुसार ही विकसित हो रहे हैं। अतः मुमुक्षु के लिए इस शरीर पुद्गल की प्रकृति का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्मा के विकास में कर सके। ह्रास में नहीं। यदि आहार–विहार उत्तेजक होता है तो कितना ही पवित्र का परिज्ञान करने का प्रयास किया जाय, पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए बुरे संस्कार और विचारों का शमन करने के लिए या क्षीण करने के लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीर की स्थिति आदि का परिज्ञान करना ही ह्रोगा। जिन परपदार्थों से आत्मा को विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना–झपटी की द्वन्द्वदशा से ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और संग्रह ही जीवन का बहुभाग नहीं नष्ट करना है तो उस पर को 'पर' समझना ही होगा।

३. बन्धतत्त्व–

दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकार का है– एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग–द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्यों का संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नहीं। दो मिलकर एक दिखें, पर एक की सत्ता मिटकर

एक शेष नहीं रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकार के संयोग को ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमें उस स्कन्ध के अन्तर्ग सभी परमाणुओं की पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थिति में आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सब की एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपने में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है; किन्तु वह अमुक परमाणुओं की विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओं के अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलों के बन्ध में यही रासायनिकता है कि उस अवस्था ममें उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नहीं होकर प्राय: एक जैसा परिणमन होता है; परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलों का ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्ध के आ जाने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है और आत्मा के निमित्त से कर्म स्कन्ध की परिणति विलक्षण हो जाती है; पर इतने मात्र से इन दोनों के सम्बन्ध को रासायनिक मिश्रण संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि जीव और कर्म के बन्ध में दोनों की एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीव की पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गल की अचेतनरूप। पुद्गल का परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूप से होता है और जीव का चैतन्य के विकासरूप से।

चार बन्ध—

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलों का पुराने बंधे हुए कर्मशरीर के साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गल के साथ बँधकर उसी स्कन्ध में शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्म शरीर से प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशों से उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेश बन्ध की व्याख्या तत्त्वार्थ सूत्र (८।२४) में इसप्रकार की है— ''नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा:।'' अर्थात् योग के कारण समस्त आत्मप्रदेशों पर सभी ओर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं— जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं उसी क्षेत्र में वे पुद्गल ठहर जाते हैं। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अत: आत्मा और कर्मशरीर का एकक्षेत्रावगाह के सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है। तो प्राचीन कर्मपुद्गलों से ही नवीन कर्मपुद्गलों का, आत्मप्रेदशों से नहीं।

जीव के रागादिभावों से जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशों में हलन–चलन होता है उससे कर्म के योग्य पुद्गल खिचते हैं। वे स्थूल शरीर के भीतर से भी खिचते हैं और बाहर से भी। इस योग से उन कर्मवर्गणाओं में प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसी के ज्ञान में बाधा डालने वाली क्रिया से खिचे हैं तो उनमें ज्ञान के आवरण करने का स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायों से खिचे हैं, तो चरित्र के नष्ट करने का। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलों को आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावों का पड़ जाना योग से होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृति बन्ध कहते हैं। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार उस कर्मपुद्गल में स्थिति और फल देने की शक्ति पड़ती है, यह स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति को रागादि कषाय नहीं होती, अत: उनके योग के द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समय में झड़ जाते हैं। उनका स्थिति बन्ध और अनभायबन्ध नहीं होता। यह बन्धचक्र, जब तक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, तब तक बराबर चलता रहता है।

३.आस्रव–तत्त्व

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के कारण हैं। इन्हें आस्रव–प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्य का अपना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलों में कर्मत्वपर्याय का विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावों को भावबन्ध कहा है; परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मों को खींचने की साक्षात् कारणभूत योगक्रिया में निमित्त होते हैं अत: भावास्रव कहे जाते हैं और अग्रिमक्षणभावी भाव भावबन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात् योग क्रिया से कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्मप्रदेशों से बँधते हैं।

मिथ्यात्व–

इन आस्रवों में मुख्य अनन्तकर्मबन्धक हैं मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर शरीरादि परद्रव्य में आत्मबुद्धि करता है। इसके लाभ आदि की दृष्टि से यह धर्म का आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नहीं रहता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्ग में इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकार का होता

है। इन दोनों मिथ्यादृष्टियों से इसे तत्त्वरुचि जागृत नहीं होती। यह अनेक प्रकार की देव, गुरु तथा लोकमूढताओं को धर्म मानता है। अनेक प्रकार के ऊँच–नीच भेदों की सृष्टि करके मिथ्या अहंकार का पोषण करता है। जिस किसी देव को, जिस किसी भी वेषधारी गुरु को, जिस किसी भी शास्त्र को भय, आशा, स्नेह और लोभ से मानने को तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोड़े से प्रलोभन से वह सभी अनर्थ करने को प्रसतुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर के मद से मत्त होता है और दूसरों को तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणों का कन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियों के मूल में एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूप का कोई श्रद्धान् नहीं होता, अत: वह बाह्य पदार्थों में लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोषों की जननी है, इसी से अनन्तसंसार का बन्ध होता है।

अविरति–

सादाचार या चारित्र धारण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति नहीं होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कषायों का ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र ही।

क्रोधादि कषायों के चार भेद चारित्र को रोकने की शक्ति की अपेक्षा से भी होते हैं–

१. अनन्तानुबन्धी– अनन्त संसार का बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरण चारित्र न होने देनेवाली, पत्थर की रेखा के समान कषाय। यह मिथ्यात्व के साथ रहती है।
२. अप्रत्याख्यानावरण– देशचारित्र अर्थात् श्रावक के अणुव्रतों को रोकनेवाली, मिट्टी की रेखा के समान कषाय।
३. प्रत्याख्यानावरण– सकलचारित्र को न होने देनेवाली, धूलि की रेखा के समान कषाय।
४. संज्वलन कषाय– पूर्ण चारित्र में किञ्चित् दोष उत्पन्न करनेवाली, जलरेखा के समान कषाय। इसके उदय से यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता।

इस तरह इन्द्रियों के विषयों में तथा प्राणिविषयक असंयम में निरर्गल प्रवृत्ति होने से कर्मों का आस्रव होता है।

प्रमाद—

असावधानी को प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मों में अनादर होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियों के विषय में लीन होने के कारण; राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओं में रस लेने के कारण; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से कलुषित होने के कारण तथा निद्रा और प्रणय में मग्न होने के कारण कुशल कर्तव्य मार्ग में अनादर का भाव उत्पन्न होता है। इस असावधानी से कुशलकर्म के प्रति अनास्था तो होती ही है साथ—ही—साथ हिंसा की भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसा के मुख्य हेतुओं में प्रमाद का प्रमुख स्थान है। दूसरे प्राणी का घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधन के द्वारा बाह्य हिंसा होने पर भी वह अहिंसक ही है। अतः प्रमाद हिंसा का मुख्यद्वार है। इसीलिए भगवान् महावीर बार—बार गौतम गणधर को चेताया था कि ''समय गोयम मा पमायए'' अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद कर।

कषाय—

आत्मा का स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूप से च्युत कर देती हैं। ये चारों आत्मा की विभाव दशाएँ हैं। क्रोध कषाय द्वेषरूप है। यह द्वेष का कारण और द्वेष का कार्य है। मान यदि क्रोध को उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभ को जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोह की दोष—त्रिपुटी में कषाय का भाग ही मुख्य है। मोहरूपी मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर सम्यग्दृष्टि को राग और द्वेष बने रहते हैं। इनमें लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यश की लिप्सा और संघवृद्धि आदि के रूप में बड़े—बड़े मुनियों को भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग—द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थों का मूल है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकों में भी इस द्वन्द्व को पाप का मूल बताया है। जैनागमों का प्रत्येक वाक्य कषाय—शमन का ही उपदेश देता है। जैन उपासना का आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है। यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनता की प्रतीक होती है। न उनमें द्वेष का साधन आयुध है और न राग का आधार स्त्री आदि का साहचर्य ही। ` सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनता का पावन सन्देश देती है।

इन कषायों के सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और न सकवेद ये नव नोकषायें हैं। इनके

कारण भी आत्मा में विकार परिणति उत्पन्न होती है। अत: ये भी आस्रव हैं।

योग–

मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग' कहते हें। योग की साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदि में यद्यपि चित्तवृत्ति के निरोधरूप ध्यान के अर्थ में है, परन्तु जैन परम्परा में चूँकि मन, वचन और काय से होनेवाली आत्मा की क्रिया कर्मपरमाणुओं से आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते हैं और इसके निरोध को ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशों में परिस्पन्द होता है। मन, वचन, और काय के निमित्त से सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्त के बराबर होती है। परममुक्ति से कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्था में मन, वचन और काय की क्रिया का निरोध होता है और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्था में आत्मा के पूर्ण शुद्ध रूप का आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योग की चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्म का आस्रव है। इसी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्म का आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्म का। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधार शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ विचनयोग है और पर को बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभकाय योग है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय–प्रवृत्ति अशुभ–मन–वचन–काययोग है।

दो आस्रव–

सामान्यतया आस्रव दो प्रकार का होता है। एक तो कषायानुरंजित योग से होनेवाला साम्परायिक आस्रव– जो बन्ध का हेतु होकर संसार की वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योग से होनेवाला ईर्यापथ आस्रव– जो कषाय का चेंप न होने के कारण आगे बन्धन नहीं कराता। यह आस्रव जीवन्मुक महात्माओं के जब तक शरीर का सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरे के ज्ञान में बाधा पहुँचाना, दूसरे को कष्ट पहुँचाना, दूसरे की निन्दा करना आदि जिस–जिस प्रकार के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियायों में संलग्न होते हैं, उस–उस प्रकार से उन–उन कर्मों का आस्रव और बन्ध कराते हैं। जो क्रिया प्रधान होती है। उससे उस कर्म का बन्ध विशेषरूप से होता है, शेष कर्मों का गौण। परभव में शरीरादि

की प्राप्ति के लिए आयु कर्म का आस्रव वर्तमान आयु के त्रिभाग में होता है। शेष सात कर्मों का आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

४. मोक्षतत्त्व

बन्धन–मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। बन्ध के कारणों का अभाव होने पर तथा संचित कर्मों की निर्जरा होने से समस्त कर्मों का समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्मा की वैभाविकी शक्ति संसार अवस्था में विभाव पहरणमन होता है। विभाव परिणमन के निमित्त हट जाने से मोक्ष दशा में उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्मा के गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान बन जाता है। जो आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियों और कलुषताओं का पुञ्ज बना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरंग समुद्र की तरह निर्विकल्प, निश्चिल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशा में आत्मा का अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभाव की या उसके गुणों के उच्छेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जाँय, पर विश्व के रंगमञ्च से उसका समूल उच्छेद नहीं हो सकता।

दीपनिर्वाण की तरह आतमनिर्वाण नहीं होता–

बुद्ध से जब प्रश्न किया गया कि 'मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं?' तो उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्ध के शिष्यों ने निर्वाण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कीं। एक निर्वाण वह, जिसमें दीपक के समान चित्तसंतति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पञ्च स्कन्धरूप आत्मा मानने का यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशा में उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्मा के परलोक गामित्व का निर्णय बताये बिना ही मात्र दु:खनिवृत्ति के सर्वांगीण औचित्य का समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाण में चित्तसन्तति का निरोध हो जाता है, वह दीपक की लौकी तरह बुझ जाती है, तो बुद्ध उच्छेदवाद के दोष से कैसे बच सके? आत्मा के नास्तित्व से इनकार तो वे इसी भये से करते थे कि आत्मा को नास्ति माना जाता है तो चार्वाक की तरह उच्छेदवाद का प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्था में उच्छेद मानने और मरण बाद उच्छेद

मानने में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाक का सहज उच्छेद सब को सुकर क्या अनायाससाध्य होने से सुग्राह्य होगा और बुद्ध का निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकार के ब्रह्मचर्यवास और ध्यान आदि के कष्ट से साध्य होने के कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नहीं है और उसकी संसार काल में प्रतिसन्धि (परलोकगमन) होती हे, तब निर्वाण अवस्था में उसके समूलोच्छेद का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। अत: मोक्ष अवस्था में उस चित्तसंतति की सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकाल से आस्रवमलों से मलिन हो रही थी और जिसे साधना के द्वारा निरास्रव अवस्था में पहुँचाया गया है। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ. १०४) में आचार्य कमलशील ने संसार और निर्वाण के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

''चित्तमेव हि संसारी रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते।।''

अर्थात्— रागादि क्लेश और वासनामय चित्त को संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओं से मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोक में प्रतिपादित संसार और मोक्ष का स्वरूप ही युक्तिसिद्ध ओर अनुभवगम्य है। चित्त की रागादि अवस्था संसार है और उसी की रागादि रहितता मोक्ष[१०१] है। अत: समस्त कर्मों के क्षय से होनेवाला स्वरूप लाभ ही मोक्ष[१०२] है। आत्मा के अभाव या चैतन्य के उच्छेद को मोक्ष नहीं कह सकते। रोग की निवृत्ति का नाम आरोग्य है, न कि रोगी की निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दों में स्वास्थ्यलाभा को आरोग्य कहते हैं, न कि रोग के साथ—साथ रोगी की मृत्यु या समाप्ति को।

निर्वाण में ज्ञानादि गुणों का सर्वथा उच्छेद नहीं होता—

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेषगुणों के उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। इनका मानना है कि इन विशेष गुणों की उत्पत्ति आत्मा और मन के संयोग से होती है। मन के संयोग के हट जाने से ये गुण मोक्ष अवस्था में उत्पन्न नहीं होते और आत्मा उस दशा में निर्गुण हो जाता है। जहाँ तब इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सांसारिक

101 ''मुक्तिर्निर्मलता धिय:।'' —तत्त्वसंग्रह, पृ. १८४।
102 ''आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्।।''
—सिद्धिवि. पृ. ३८४।

दु:ख—सुख का प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं, अतः मुक्ति में इनकी सत्ता नहीं रहती। पर बुद्धि का अर्थात् ज्ञान का, जो कि आत्मा का निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नहीं माना जा सकता। हाँ, संसार अवस्था में जो खण्डज्ञान मन और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्था में नहीं रहता, पर जो इसका स्वरूप भूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मन से परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नहीं हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्था में जब आत्मा की स्वरूप स्थिति वैशेषिक को स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। संसार अवस्था में यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदि के निमित्त से नानाविध विषयाकार बुद्धियों के रूप में परिणति करता था। इन उपाधियों के हट जाने पर उसका स्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्म के क्षयोपशम से होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुख—दु:खादि का विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्था में मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होने से कथमपि स्वीकार किया जा सकता।

मिलिन्द—प्रश्न के निर्वाण वर्णन का तात्पर्य—

मिलिन्द—प्रश्न में निर्वाण का जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं। ''तृष्णा के निरोध हो जाने से उपादान का निरोध हो जाता है, उपादान के निरोध से भव का निरोध हो जाता है, भव का निरोध होने से जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्म के बन्द होने से बूढ़ा होना, मरना, शोक, रोना, पीटना दु:ख, बेचैनी और परेशानी सभी दु:ख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।'' (पृ. ८५)

''निर्वाण न कर्म के कारण, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण उत्पन्न होता है।'' (पृ. ३२९)

''हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसी ने इसे बनाया नहीं है। निर्वाण के साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इसका भी प्रश्न नहीं आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों के परे है। निर्वाण न आँख से देखा जा सकता है, न कान से सुना जा सकता है, न नाक से सूँघा जा सकता है, न जीभ से चखा जा सकता है और न शरीर से छुआ जा सकता है। निर्वाण मन से जाना जा सकता है। अर्हत पद को पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कामों से रहित मन से निर्वाण को देखता है।'' (पृ. ३३२)

''निर्वाण में सुख ही सुख है, दु:ख का लेश भी नहीं रहता'' (पृ. ३८६)

''महाराज, निर्वाण में ऐसी कोई भी बात नहीं है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारण के साथ निर्वाण के रूप, स्थान, काल या डीलडौल नहीं दिखाये जा सकते।'' (पृ. ३८८)

''महाराज, जिस तरह कमल पानी से सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशों से अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगों की कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा की प्यास को दूर कर देता है।'' (पृ. ३९१)

''निर्वाण दवा की तरह क्लेशरूपी विष को शान्त करता है, दु:खरूपी रोगों का अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्र की तरह अपरम्पार है। वह आकाश की तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्ज्ञेय है, चोरों से नहीं चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्न की तरह सारी इच्छाओं को पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और बड़े काम का होता है। वह लाल चन्दन की तरह दुर्लभ, निराली गन्धवाला और सज्जनों द्वारा प्रशंसित है। वह पहाड़ की चोटी की तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग–द्वेषरहित और क्लेश बीजों के उपजने के अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशा की और है, न पश्चिम दिशा की ओर, न उत्तर दिशा की ओर और न दक्षिण दिशा की ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढ़े। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाण के पाये जाने की कोई जगह नहीं है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मन को ठीक ओर लगा निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है।'' (पृ. ३९२–४०३ तक हिन्दी अनुवाद का सार)

इन अवतरणों से यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाण का कोई स्थानविशेष नहीं मानते थे और न किसी कालविशेष में उत्पन्न या अनुत्पन्न की चर्चा इसके सम्बन्ध में की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप ''इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदि के क्लेशों से शून्य'' इत्यादि शब्दों के द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाण का न होकर सुखरूप निर्वाण का है।

निर्वाण को बुद्ध ने आकाश की तरह असंस्कृत कहा है। असंस्कृत का अर्थ जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हों। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदि का कोई विवेचन नहीं हो सकता हो, वह असंस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिका की संस्कृत–परीक्षा में उत्पाद,

व्यय और ध्रौव्य को संस्कृत का लक्षण बताया है। सो यदि यह असंस्कृतता निर्वाण के स्थान के सम्बन्ध में है तो उचित ही है; क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेष पर है, तो वह जगत् की तरह सन्तति की दृष्टि से अनादि अनन्त ही होगा; उसके उत्पाद–अनुत्पाद की चर्चा ही व्यर्थ है; किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशों से रहित सुखमय ही हो सकता है।

अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में (१६।२८,२९) निर्वाण प्राप्त आत्मा के सम्बन्ध में जो यह लिखा है[१०३] कि तेल के चुक जाने पर दीपक जिस तरह न किसी दिशा को, न किसी विदिशा को, न आकाश को और न पृथ्वी को जाता है; किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह कृती क्लेशों का क्षय होने पर किसी दशा–विदिशा, आकाश या पाताल को नहीं जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाण के स्थान विशेष की तरफ ही लगता है, न कि स्वरूप की तरफ। जिस तरह संसारी आत्मा का नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्था को प्राप्त व्यक्ति का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुत: बुद्ध ने आत्मा के स्वरूप के प्रश्न ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्था विशेष– निर्वाण के सम्बन्ध में विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीर ने मोक्ष के स्वरूप और स्थान दोनों के सम्बन्ध में सयुक्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मों के विनाश के बाद आत्मा के निर्मल और निश्चल चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्था में यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर लोक के अग्रभाग में अन्तिम शरीर के आकार होकर ठहरता है। आगे गति के सहायक धर्मद्रव्य के न होने से गति नहीं होती।

मोक्ष न कि निर्वाण–

जैन परम्परा में मोक्ष शब्द विशेष रूप से व्यवहृत होता है और उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादिकाल से जिन कर्मबन्धनों से यह आत्मा जबड़ा हुआ था, उन बन्धनों की परतन्त्रता को काट देना। बन्धन कट जाने पर जो बँधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है; किन्तु बौद्ध परम्परा में 'निर्वाण' अर्थात् दीपक की तरह बुझ जाना, इस शब्द का प्रयोग होने से उसके स्वरूप में ही घुटाला हो गया है। क्लेशों के बुझने की जगह आत्मा का बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मों के नाश करने का अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीव से भिन्न हो जाते हैं, उनका अत्यन्त विनाश नहीं

---

103 श्लोक, पृ. १३९ पर देखो।

होता[१०४]। किसी भी सत् का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्गल अमुक आत्मा के साथ संयुक्त होने के कारण उस आत्मा के गुणों का घात करने की वजह से उसके लिए कर्मत्व पर्याय को धारण किये थे, मोक्ष में उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धन से छूट कर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्गल भी अपनी कर्मत्व पर्याय से उस समय मुक्त हो जाते हैं। यों तो सिद्ध स्थान पर रहनेवाली आत्माओं की उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नहीं होती, अत: वह बन्ध नहीं कहा जा सकता। अत: जैन परम्परा में आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है। इस मोक्ष में दोनों द्रव्य अपने निज स्वरूप में बने रहते हैं, न तो आत्मा दीपक की तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्गल का ही सर्वथा समूल नाश होता है। दोनों की पर्यायान्तर हो जाती है। जीव की शुद्ध दशा और पुद्गल की यथासम्भव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है।

५. संवर–तत्त्व–

संवर रोकने को कहते हैं। सुरक्षा का नाम संवर है। जिन द्वारों से कर्मों का आस्रव होता था, उन द्वारों का निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रव योग से होता है, अत: योग की निवृत्ति ही मूलत: संवर के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। किन्तु मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति को सर्वथा रोकना सम्भव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आहार करना, मलमूत्र का विसर्जन करना चलना–फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करना ही पड़ती हैं। अत: जितने अंशों में मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध है, उतने अंश को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा करना। यह गप्ति ही संवरण का साक्षात् कारण है। गुप्ति के अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदि से भी संवर होता है। समिति आदि में जितना निवृत्ति का अंश है उतना संवर का कारण होता है और प्रवृत्ति का अंश शुभ बन्ध का हेतु होता है।

समिति–

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानी से कार्य करना। समिति पाँच प्रकार की है। ईर्ष्या समिति– चार हाथ आगे देखकर चलना। भाषा समिति हित–मित–प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति–विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान–निक्षेपण समिति–

---

[104] जीवाद् विश्लेषणं भेद: सतो नात्यस्तसंक्षय:।'' आप्तप. श्लो. ११५।

देख—शोधकर किसी वस्तु का रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख—शोधकर निर्जन्तु स्थान पर मलमूत्रादि का विसर्जन करना।

धर्म—

आत्मस्वरूप की ओर ले जानेवाले और समाज को संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म है। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा— क्रोध का त्याग करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर वस्तुस्वरूप का विचारकर विवेकजल से उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरता के कारण हो और आत्मा में दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मान का त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदि की किञ्चित् विशिष्टता के कारण आत्मस्वरूप को न भूलना, इनका मद न चढ़ने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकार में दूसरे का तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमान में दूसरे के मान का सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचार का त्याग। मन वचन और काय की कुटिलता को छोड़ना। जो मन में हो, वही वचन में और तदनुसार ही काय की चेष्टा हो, जीवन—व्यवहार में एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभन में नहीं फँसना। लोभ कषाय का त्यागकर मन में पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापंथ आदि के कारण छू—छू करके दूसरों से घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास—परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है; परन्तु परनिन्दा के अभिप्राय से दूसरों के दोषों का ढिंढोरा पीटना दोष है। पर को बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय—विजय और प्राणि—रक्षा। पाँचों इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति पर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवत्ति को रोकना, इन्द्रियों को वश में कराना। प्राणियों की रक्षा का ध्यान रखते हुए, खान—पान और जीवन—व्यवहार को अहिंसा की भूमिका पर चलाना। संयम गुण है, पर भावशून्य बाह्य क्रिकाण्ड का अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मन की आशा और तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्ति का मोड़ना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश, शरीर को सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप हैं। इच्छानिवृत्ति करके अकिञ्चन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोग की कठिन क्रियाएँ आदि बालतप हैं। उत्तम त्याग—दान देना, त्याग की भूमिका पर आना। शक्त्यनुसार भूखों को भोजन, रोगी को औषध, अज्ञाननिवृत्ति के लिए ज्ञान के साधन जुटाना और प्राणिमात्र को अभय देना। देश और समाज के निर्माण के लिए, तन, धन आदि का

त्याग। लाभ, पूजा और ख्याति आदि के उद्देश्य से किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—आकिञ्चनभाव, बाह्य पदार्थों में ममत्व का त्याग। धन—धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीर में यह मेरा नहीं है, आत्मा का धन तो उसके चैतन्य आदि गुण हैं, 'नास्ति में किंचन'— मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। भौतिकता से हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूप में विचरण करना। स्त्री—सुख से विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को आत्मविकासोन्मुख करना। मन की शुद्धि के बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीर को ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मा में ही पवित्रता लाता है।

अनुपेक्षा—

सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आतमचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत की अनित्यता, अशरणता, संसार का स्वरूप, आत्मा का अेकला ही फल भोगना, देह की भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादिभावों की हेयता, सदाचार की उपादेयता, लोकस्वरूप का चिन्तन ओर बोधि की दुर्लभता आदि का बार—बार विचार करके चित्त को सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशा में समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्त को आस्रव की ओर से हटाकर संवर की तरफ झुकाती हैं।

परीषहजय—

साधक को भूख, प्यास, ठण्डी, गरमी, डाँस—मच्छर, चलने—फिरने—सोने आदि में कंकड़, काँटे आदि की बाधाएँ, वध, आक्रोश और मल आदि बाधाओं को शान्ति से सहना चाहिए। नग्न रहकर भी स्त्री आदि को देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करने पर भी यदि ऋद्धि—सिद्धि प्राप्त नहीं होती तो तपस्या के प्रति अनादर नहीं होना और यदि ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसी के सत्कार—पुरस्कार में हर्ष और अपमान में खेद नहीं करना, भिक्षा—भोजन करते हुए भी आत्मा में दीनता नहीं आने देना इत्यादि परीषहों के जय से चारित्र में दृढ़निष्ठा होती है और कर्मों का आस्रव रुक कर संवर होता है।

चारित्र—

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सम्पूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्र के सामायिक आदि अनेक भेद हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओं का त्याग और समाभाव की आराधना। छेदोपस्थापना—व्रतों में दूषण लग जाने पर दोष का परिहार

कर पुनः व्रतों में स्थिर होना। परिहारविशुद्धि इस चारित्र के धारक व्यक्ति के शरीर में इतना हलकापन आ जाता है। कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करने पर भी उसके शरीर से जीवों की विराधना— हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय— समस्त क्रोधादिकषायों का नाश होने पर बचे हुए सूक्ष्म लोभ के नाश की भी तैयारी करना। यथाख्यात— समस्त कषायों के क्षय होने पर जीवन्मुक्त व्यक्ति पूर्ण आत्मस्वरूप में विचरण करना। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के कर्मशत्रु के आने के द्वार बन्द हो जाते हैं। यही संवर है।

६. निर्जरा तत्त्व—

गुप्ति आदि से सर्वतः संवृत— सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मों को तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करके क्रमशः मोक्ष को प्राप्त करता है। निर्जरा झड़ने को कहते हैं। यह दो प्रकार की है— एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा झड़ने को कहते हैं। यह दो प्रकार की है— एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओं के द्वारा कर्मों का बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रम से प्रतिसमय कर्मों का फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणी के होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मों की जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्नि से कर्मों को फल देने के पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मों की गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म है क्या? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुतः कर्म हैं। यदि आत्मा में पुरुषार्थ है और वह साधना करे; तो क्षणमात्र में पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।''

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी बिना भोगे कर्मों का नाश नहीं हो सकता है।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियों को लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्र में समस्त कर्मों को भस्म कर सकती है—

''ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरुते क्षणात्।''

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधना का इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु—दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई थी। पुरानी वासनाओं और राग, द्वेष तथा मोह के

कुसंस्कारों को नष्ट करने का एक मात्र मुख्य साधन है– 'ध्यान'– अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इसप्रकार भगवान् महावीर ने बन्ध (दु:ख), बन्ध के कारण (आस्रव), मोक्ष ओर मोक्ष के कारण (संवर और निर्जरा) इन पाँच तत्त्वों के साथ ही साथ उस आत्मतत्त्व के ज्ञान की खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है। इसी तरह उस जीव तत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादि काल से स्वरूपच्युत हो रहा है।

मोक्ष के साधन–

वैदिक संस्कृति में विचार या तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन माना है जबकि श्रमणसंस्कृति चारित्र अर्थात् आचार को मोक्ष का साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृति ने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ वैरागय और संन्यास को भी मुक्ति का अंग माना है, पर वैराग्य का उपयोग तत्त्वज्ञान की पुष्टि में किया है, अर्थात् वैराग्य से तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैनतीर्थंकरों ने ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।'' (त. सू. १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष को मोक्ष का मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्र का पोषक या वर्धक नहीं है, मोक्ष का साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवन में उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्ष का साधन है। अन्तत: सच्ची श्रद्धा और ज्ञान का फल चारित्र–शुद्धि ही है। ज्ञान थोड़ा भी हो, पर यदि वह जीवनशुद्धि में प्रेरणा देता है तो सार्थक है। अहिंसा, संयम और तप साधनाएँ हैं, मात्र ज्ञानरूप नहीं है। कोरा ज्ञान भार ही है यदि वह आत्मशोधन नहीं करता। तत्त्वों की दृढ़ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहिली सीढ़ी है। भय, आशा, स्नेह और लोभ से जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वास की सीमा में ही है। जीवनत श्रद्धा वह है जिसमें प्राणों तक की बाजी लगाकर तत्त्व को कायम रखा जाता है। उस परम अवगाढ़ दृढ़ निष्ठा को दुनिया का कोई भी प्रलोभन विचलित नहीं कर सकता, उसे हिला नहीं सकता। इस जयोति के जगते ही साधक को अपने लक्ष्य का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होती है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूप की प्राप्ति में है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्ड में। इसलिए उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकार की हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवता के उद्धार का स्पष्ट मार्ग उसकी आँखों में झूलता है और वह उसके लिए प्राणों की बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकार की मर्यादा का ज्ञान सम्यगान है और अपने अधिकार और स्वरूप की सुरक्षा के अनुकूल

जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्चारित्र है। तात्पय्र यह कि आत्मा की वह परिणति सम्यक् चारित्र है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायों तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवनव्यवहार में तद्नुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरे के अधिकारों को हड़पने की भावना भी नहीं होती। यह व्यक्ति स्ववातन्त्र्य की स्वावलम्बी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र है। अत: श्रमणसंस्कृति ने जीवनसाधना अहिंसा के मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की है और प्राणिमात्र के अभय और जीवित रहने का सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यगान से परिपुष्ट सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् साधन होता है।

८.प्रमाणमीमांसा

ज्ञान और दर्शन–

जड़ पदार्थों से आत्मा को भिन्न करनेवाला आत्मा का गुण और स्वरूप चैतन्य है, यह बात सिद्ध है। यही चैतन्य अवस्थाविशेष में निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। आत्मा के अनन्त गुणों में यह चैतन्यात्मक उपयोग ही ऐसा असाधारण गुण है, जिससे आत्मा लक्षित होता है। जब यह उपयोग आत्मेतर पदार्थों को जानने के समय ज्ञेयाकार या साकार होता है; तब उसकी ज्ञान–पर्याय विकसित होती है और जब वह बाह्य पदार्थों में उपयुक्त न होकर मात्र चैतन्यरूप रहताहे, तब निराकार अवस्था में दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिक काल मं 'दर्शन' की व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकार की परिधि को लाँघकर पदार्थों के सामान्यावलोकन तक पहुँची; परन्तु सिद्धान्त–ग्रन्थों में[१०५] दर्शन का वर्णन अन्तरंगार्थविषयक और निराकार रूप से मिलता है। दर्शन का काल विषय और विषयी (इन्द्रियाँ) के सन्निपात के पहले है। जब[१०६] आत्मा

105 ''तत: सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्।........ भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम् (पृ. १४७) प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका–प्रकाशी ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्ति: प्रकाशवृत्ति: तद्दर्शनम्, विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थ:। (पृ. १४९) नैते दोषा: दर्शनमाडौकन्ते, तस्य अन्तरंगार्थविषयत्वात्।'' –धवला टीका, सत्प्ररू. प्रथम पुस्तक।

106 ''उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मन: परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषयविकल्परूपेण पदार्थ ग्रहणं तज्ज्ञानमिति वात्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थ चित्तें जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत् स्वरूपे प्रथमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तज्ज्ञानं भण्यते।''

अमुक पदार्थ विषयक ज्ञानोपयोग से हटकर अन्य पदार्थ विषयक ज्ञान में प्रवृत्त होता है तब बीच की वह चैतन्याकार या निराकार अवस्था दर्शन कहलाती है, जिसमें ज्ञेय का प्रतिभास नहीं होता। दार्शनिक ग्रन्थों में दर्शन का काल[१०७] विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर है। यही कारण है कि पदार्थों के सामान्यावलोकन के रूप में दर्शन की प्रसिद्धि अनन्तर हुई। बौद्ध का निर्विकल्पक ज्ञान और नैयायिकादिसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष यही है।

प्रमाणादिव्यवस्था का आधार—

ज्ञान, प्रमाण और प्रमाणाभास इनकी व्यवस्था बाह्य अर्थ के प्रतिभास करने और प्रतिभास के अनुसार बाह्य पदार्थ के प्राप्त होने और न होने पर निर्भर करती है। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूप मिल जाय, जिस रूप में कि उसका बोध हुआ है तो वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है अन्य प्रमाणाभास। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि प्रमाणाभासों में जो 'दर्शन' गिनाया गया[१०८] है वह क्या यही निराकार चैतन्यरूप दर्शन है? जिस चैतन्य में पदार्थ का स्पर्श ही नहीं हुआ उस चैतन्य को ज्ञान की विशेष कक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास में दाखिल करना किसी तरह उचित नहीं है। ये व्यवहार तो ज्ञान में होते हैं। दर्शन तो प्रमाण और प्रमाणाभास से परे की वस्तु है। विषय और विषयों के सन्निपात के बाद जो सामान्यावलोकन रूप दर्शन है वह तो बौद्ध और नैयायिकों के निर्विकल्प ज्ञान की तरह वस्तुस्पर्शी होने से प्रमाण और प्रमाणाभास की विवेचना के क्षेत्र में आ जाता है। उस सामान्य वस्तुग्राही दर्शन को प्रमाणाभास इसलिए कहा है कि वह किसी वस्तु का व्यवसाय अर्थात् निर्णय नहीं करता। वह सामान्य अंश का भी मात्र आलोचन ही करता है; निश्चय नहीं। यही कारण है कि बौद्ध, नैयायिकादि—निर्विकल्प को प्रमाण से बहिर्भूत अर्थात प्रमाणाभास माना गया है।

आगमिक[१०९] क्षेत्रों में ज्ञान को सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मानने के आधार जुदे हैं। वहाँ तो जो ज्ञान मिथ्यादर्शन का सहचारी है वह मिथ्या और जो सम्यग्दर्शन का सहभावी है वह सम्यक् कहलाता है। यानी मिथ्यादर्शनवाले का व्यवहारसत्य प्रमाणज्ञान भी मिथ्या है और सम्यग्दर्शनवाले का व्यवहार में असत्य अप्रमाण ज्ञान भी सम्यक् है।

—
बृहद्द्रव्यसं.
टी. गा. ४३।

107 ''विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति।'' —सर्वार्थसि. १।१५।

108 देखो, परीक्षामुख ६।१।

109 ''मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च'' —त. सू. १।३१।

तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी होने के कारण सम्यक् है । तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्अि का प्रत्येक ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी होने के कारण सम्यक् है और मिथ्यादृष्टि का प्रत्येक ज्ञान संसार में भटकनेवाल होने से मिथ्या है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्र में ज्ञान के मोखोपयोगी या संसार वर्धक होने के आधार से प्रमाणता–अप्रमाणता का विचार प्रस्तुत नहीं है। यहाँ तो प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कुञ्जी है। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ जैसा–का–तैसा मिल जाता है वह अविसंवादी ज्ञान सत्य है और प्रमाण है;[११०] शेष प्रमाण हैं, भले ही उनका उपयोग संसार में हो या मोक्ष में।

आगमों में जो पाँच ज्ञानों का वर्णन आता है वह ज्ञानावण कर्म के क्षयोपशम से या क्षय से प्रकट होनेवाली ज्ञान की अवस्थाओं का निरूपण है। आत्मा के 'ज्ञान' गुण को एक ज्ञानावरणकर्म रोकता है और इसी के क्षयोपशम के तारतम्य से मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चार ज्ञान प्रकट होते हैं और सम्पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर निरावरण केवलज्ञान का आविर्भाव होता है। इसी तरह मति ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से होनेवाली मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञान की अवस्थाओं का अनेक रूप से विवेचन मिलता है[१११] जो मति ज्ञान के विविध आकार और प्रकारों का निर्देश मात्र है। वह निर्देश भी तत्त्वाधिगम के उपयोगों के रूप में है। जिन तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान करके मोक्षमार्ग में जुटा जा सकता है उन तत्त्वों का अधिगम ज्ञान से ही तो सम्भव है। यही ज्ञान प्रमाण और नय के रूप से अधिगम के उपायों को दो रूप में विभाजित कर देता है। यानी तत्त्वाधिगम के दो मूल भेद होते हैं– प्रमाण और नय। इन्हीं पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों के रूप में विभाजन भी आगमिक परम्परा में पहले से ही रहा है; किन्तु यहाँ प्रत्यक्षता और परोक्षता का आधार बिल्कुल भिन्न है। जो ज्ञान स्वावलम्बी है– इन्द्रिय और मन की सहायता की भी अपेक्षा नहीं करता, वह आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परोक्ष। इस तरह आगमिक क्षेत्र के सम्यक्–मिथ्या विभाग और प्रत्यक्ष–परोक्ष विभाग के आधार दार्शनिक क्षेत्र से बिल्कुल ही जुदे प्रकार के हैं। जैन दार्शनिकों के सामने उपर्युक्त आगमिक परम्परा को दार्शनिक ढाँचे में ढालने का महान् कार्यक्रम था, जिसे सुव्यवस्थित रूप में निभाने का प्रयत्न किया गया है।

---

110 ''यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।'' –सिद्धिवि. १।२०।

111 त. सू. १।१३। नन्दी प्र. मति. गा. ८०।

प्रमाण का स्वरूप–

प्रमाण का सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– ''प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्'' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उस द्वार का नाम प्रमाण है। दूसरे शब्दों में जो प्रमाण का साधकतम करण हो वह प्रमाण है। इस सामान्यनिर्वचन में कोई विवाद न होने पर भी उस द्वार में विवाद हैं। नैयायिकादि प्रमामें साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं जब कि जैन और बौद्ध ज्ञान को ही प्रमामें साधकतम कहते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि है कि जानना या प्रमारूप क्रिया चूँकि चेतन है, अत: उसमें साधकतम उसी का गुण– ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं, कयोंकि सन्निकर्षादि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अत: जाननेरूप क्रिया का साक्षात् अव्यवहित करण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नहीं। प्रमिति या प्रमा अज्ञाननिवृत्ति रूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है जैसे कि अन्धकार की निवृत्ति में अन्धकार का विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय,[११२] सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन हैं, अत एव अज्ञानरूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात् करण नहीं हो सकते। यद्यपि कही–कहीं इन्द्रिय–सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में शामिल हैं, पर सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय–व्यतिरेक न मिलने के कारण उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। अन्तत: इन्द्रियादि ज्ञान के उत्पादक भी हों; फिर भी जानने रूप क्रिया में साधकतमता– अव्यवहितकारणता ज्ञान की ही है, न कि ज्ञान से व्यवहित इन्द्रियादि की। जैसे कि अन्धकार की निवृत्ति में दीपक ही साधकतम हो सकता है, न कि तेल, बत्ती और दिया आदि। सामान्तया जो क्रिया जिस गुण की पर्याय होती है उसमें वही गुण साधकतम हो सकता है। चूँकि 'जानाति क्रिया' जाननेरूप क्रिया ज्ञानगुण की पर्याय है, अत: उसमें अव्यवहित करण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण[११३] चूँकि हितप्राप्ति और अहितपरिहार करने में समर्थ है, अत: वह ज्ञान ही हो सकता है।

ज्ञान का सामान्य धर्म है अपने स्वरूप को जानते हुए परपदार्थ को जानना। वह अवस्थाविशेष में पर को जाने या न जाने। पर अपने स्वरूप को तो हर हालत में जानता ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो, संशय हो, विपर्यय हो या अनध्यवसाय आदि किसी भी रूप में क्यों न हो, वह बाह्यार्थ में विसंवादी होने पर भी अपने स्वरूप को अवश्य जानेगा

---

112 ''सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्।''

—लघी. स्ववृ. १।३।

113 ''हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।''

—परीक्षामुख १।२।

और स्वरूप में अविसंवादी ही होगा। यह नहीं हो सकता कि ज्ञान घटपादि पदार्थों की तरह अज्ञात रूप में उत्पन्न हो जाय और पीछे मन आदि के द्वारा उसका ग्रहण हो। वह तो दीपक की तरह जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। स्वसंवेदी होना ज्ञानसामान्य का धर्म है। अत: संशयादिज्ञानों में ज्ञानांश का अनुभव अपने आप उसी ज्ञान के द्वारा होता है। यदि ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने, यानी वह स्वयं के प्रत्यक्ष न हो; तो उसके द्वारा पदार्थ का बोध भी नहीं हो सकता। जैसे कि देवदत्त को यज्ञदत्त का ज्ञान अप्रत्यक्ष है अर्थात् स्वसंविदित नहीं है तो उसके द्वारा उसे अर्थ का बोध नहीं होता। उसी तरह यदि यज्ञदत्त को स्वयं अपना ज्ञान उसी तरह अप्रत्यक्ष हो जिस प्रकार कि देवदत्त को है तो देवदत्त की तरह यज्ञदत्त को अपने ज्ञान के द्वारा भी पदार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। जो ज्ञान अपने स्वरूप का ही प्रतिभास करने में असमर्थ है वह पर का अवबोधक कैसे हो सकता है?[११४] स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणता का विभाग बाह्य अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से सम्बन्ध रखता है। स्वरूप की दृष्टि से तो न कोई ज्ञान प्रमाण है और न प्रमाणाभास।

प्रमाण और नय–

तत्त्वार्थसूत्र (१।६) में जिन अधिगम के उपायों का निर्देश किया है उनमें प्रमाण और नय के निर्देश करने का एक दूसरा कारण भी है। प्रमाण समग्र वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है। वह भले ही किसी एक गुण के द्वारा पदार्थ को जानने का उपक्रम करे, परन्तु उस गुण के द्वारा वह सम्पूर्ण वस्तु को ही ग्रहण करता है। आँख के द्वारा देखी जानेवाली वस्तु यद्यपि रूपमुखेन देखी जाती है, पर प्रमाणज्ञान रूप के द्वारा पूरी वस्तु को ही समग्रभाव से जानता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी कहते हैं[११५] वह हर हालत में सकल वस्तु का ही ग्राहक होता है। उसमें गौणमुख्यभाव इतना ही है कि वह भिन्न–भिन्न समयों में अमुक–अमुक इन्द्रियों के ग्राह्य विभिन्न गुणों के द्वारा पूरी वस्तु को जानने का प्रयास करता है। जो गुण जिस समय इन्द्रियज्ञान का विषय होता है उस गुण की मुख्यता इतनी ही है कि उसके द्वारा पूरी वस्तु गृहीत हो रही है। यह नहीं कि उसमें रूप मुख्य हो और रसादि गौण, किन्तु रूप के छोर से समस्त वस्तुपट देखा जा रहा है। जब कि नय में रूप मुख्य होता है और रसादि गौण। नय में वही धर्म प्रधान बनकर अनुभव का विषय होता है, जिसकी विवक्षा या अपेक्षा होती है। नय प्रमाण के द्वारा गृहीत समस्त और अखण्ड वस्तु को

---

114 ''भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नव:।
बहि: प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते।।''
–आप्तमी. श्लो. ८३

115 ''तथा चोक्तं सकलादेश: प्रमाणाधीन:'' –सर्वार्थसि. १।६।

खण्ड–खण्ड करके उसके एक–एक देश को मुख्यरूप से ग्रहण करता है। प्रमाण घट को ''घटोऽयम्'' के रूप में समग्र का समग्र जानती है जब कि नय ''रूपवान् घट:'' करके घड़े को केवल रूप की दृष्टि से देखता है। 'रूपवान् घट:' इस प्रयोग में यद्यपि एक रूपगुण की प्रधानता दिखती है, परन्तु यदि इस वाक्य में रूप के द्वारा पूरे घट को जानने का अभिप्राय है तो यह वाक्य सकलादेशी है और यदि केवल घट के रूप को ही जानने का अभिप्राय है तो वह मात्र रूपग्राही होने से विकलादेशी हो जाता है।

विभिनन लक्षण–

इस तरह सामान्यतया जैन परम्परा में ज्ञान को ही प्रभा का करण माना है। वह प्रमाणज्ञान सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है। उसमें ज्ञानसामान्य का स्वसंवेदित्व धर्म भी रहता है। प्रमाण होने से उसे अविसंवादी भी अवश्य ही होना चाहिए। विसंवाद अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। इन तीनों विसंवादों से रहित अविसंवादी सम्यगान प्रमाण होता है। आचार्य[११६] समन्तभद्र और सिद्धसेन के प्रमाणलक्षण में[११७] 'स्वपरावभासक' पद प्रयुक्त हुआ है।[११८] समन्तभद्र ने उस तत्त्व ज्ञान को भी प्रमाण कहा है जो एक साथ सबका अवभासक होता है। इस लक्षण में केवल स्वरूप का निर्देश है। अकलंक[११९] और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण को अनधिगतार्थग्राही और अपूर्वार्थव्यवसायी कहा है; परन्तु[१२०] विद्यानन्द का स्पष्अ मत है कि ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से प्रमाण ही है। गृहीतग्राहिता कोई दूषण नहीं है।

अविसंवाद की प्रायिक स्थिति–

अकलंकदेव ने अविसंवाद को प्रमाणता का आधार मान करके एक विशेष बात यह कही है कि हमारे ज्ञानों में प्रमाणता और अप्रमाणता की संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्त से प्रमाण या

---

116 ''स्वपरावीाासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।''
–बृहत्स्व. श्लो. ६३।
117 ''प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।''
–न्यायावता. श्लो. १।
118 ''तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासकम्।'' –अप्तमी श्लो. १०१।
119 ''प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।''
–अष्टश., अष्टसह. पृ. १७५।
''स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।'' –परीक्षामुख। १।१।
120 ''गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।।''
–तत्त्वार्थश्लो. १।१०।७८।

अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियदोष से होनेवाला द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांश में अविसंवादी होने के कारण प्रमाण है, पर द्वित्व–अंश विसंवादी होने के कारण अप्रमाण। पर्वत पर चन्द्रमा का दिखना चन्द्रांश में ही प्रमाण है, पर्वत स्थितिरूप में नहीं। इस तरह हमारे ज्ञानों में ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणता का निर्णय नहीं किया जा सकता। 'तब व्यवहार में किसी ज्ञान को प्रमाण या अप्रमाण कहने का क्या आधार माना जाय?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञानों की प्राय: साधारण स्थिति होने पर भी जिस ज्ञान में अविसंवाद की बहुलता हो उसे प्रमाण माना जाय तथा विसंवाद की बहुलता में अप्रमाण। जैसे कि इत्र आदि के पुद्गलों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रहने पर भी गन्ध गुण की उत्कटता के कारण उन्हें 'गन्ध द्रव्य' कहते हैं, उसी तरह अविसंवाद की बहुलता से प्रमाणव्यवहार हो जायगा। अकलंक देव के इस विचार का एक ही कारण मालूम होता है कि उनके मत से इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञानों की स्थिति पूर्ण विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। स्वल्पशक्ति इन्द्रियों की विचित्र रचना के कारण इन्द्रियों के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ अन्यथा भी होता है। यही कारण है कि आगमिक परम्परा में इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष ही कहा गया है। अकलंकदेव के इस विचार को उत्तरकालीन दार्शनिकों ने अपनाया हो, यह नहीं मालूम होता, पर स्वयं अकलंक इस विचार को आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती[१२१], लघीयस्त्रयस्ववृत्ति[१२२] और सिद्धिविनिश्चय में[१२३] दृढ़ विश्वास के साथ उपस्थित करते हैं।

तदाकारता प्रमाण नहीं–

बौद्ध परम्परा में ज्ञान को स्वसंवेदी स्वीकार तो किया है; परन्तु प्रमा के कारण के रूप में सारूप्य तदाकारता या योग्यता का निर्देश[१२४] मिलता है। ज्ञानगत योग्यता या ज्ञानगत सारूप्यअन्तत: ज्ञानस्वरूप ही है अत: परिणमन में कोई विशेष अन्तर न होने पर भी ज्ञान का पदार्थाकार होना एक पहेली ही है। 'अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थों के

---

121 ''येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेद: तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायश: संकीर्ण प्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु द्वेशप्रत्यासत्त्याद्य भूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।

–अष्टश., अष्टसह. पृ. २७७।

122 ''तिमिराद्यु पप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं तथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात्।''

–लघी. स्व. श्लो. २३।

123 ''यथा यत्राविसंवादर तथा प्रमाणता।' –सिद्धिवि. १।२०।

124 ''स्वसंवित्ति: फलं चात्र ताद्रूपार्थनिश्चय:।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।'' –प्रमाणसमु. पृ. २४।
''प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।'' –तत्त्वसं. श्लो. १३४४।

आकार कैसे होता है?' इस प्रश्न का पृष्ठ समाधान तो नहीं मिलता। ज्ञान के ज्ञयाकार होने का अर्थ इतना ही हो सकता है कि वह उस ज्ञेय को जानने के लिए अपना व्यापार कर रहा है। फिर, किसी भी ज्ञान की वह अवस्था, जिसमें ज्ञेय का प्रतिभास हो रहा है, प्रमाण ही होगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सीप में चाँदी का प्रतिभास के अनुसार बाह्यार्थ की प्राप्ति न होने के कारण उसे प्रमाण—कोटि में नहीं डाला जा सकता। संशयादिज्ञान भी तो आखिर पदार्थाकार होते ही हैं

इस तरह जैनाचार्यों के द्वार किये गये प्रमाण के विभिन्न लक्षणों से यह फलित होता है कि ज्ञान को स्वसंवेदी होना चाहिए। वह गृहीतग्राही हो या अपूर्वार्थग्राही, पर अविसंवादी होने के कारण प्रमाण है। उत्तरकालीन जैन[१२५] आचार्यों ने प्रमाण का असाधारण लक्षण करते समय केवल 'सम्यगान' और 'सम्यगर्थनिर्णय' यही पद पसन्द किये हैं। प्रमाण के अन्य लक्षणों में पाये जाने वाले 'सम्यगर्थनिर्णय' यही पद पसन्द किये हैं। प्रमाणके अन्य लक्षणों में पाये जानेवाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यत्व, लोकसम्मतत्त्व, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक आदि विशेषण 'सम्यक्' इस एक ही सर्वावगाही विशेषणपद से गृहीत हो जाते हैं। अनिश्चित, बाधित, दुष्टकरणजन्य, लोकबाधित, व्यभिचारी, अनिर्णयात्मक, सन्दिग्ध, विपर्यय और अव्युत्पन्न आदि ज्ञान 'सम्यक्' की सीमा को नहीं छू सकते। सम्यगान तो स्वरूप और उत्पत्ति आदि सभी दृष्टियों से सम्यक् ही होगा। उसे अविसंवादी या व्यवसायात्मक आदि किसी शब्द से व्यवहार में ला सकते हैं।

प्रमाणशब्द चूँकि करणसाधन है, अत: कर्ता—प्रमाता, कर्म—प्रमेय और क्रिया—प्रमिति ये प्रमाण नहीं होते। प्रमेय का प्रमाण न होना तो स्पष्ट है। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता द्रव्यदृष्टि से यद्यपि अभिन्न मालूम होते हैं; परन्तु पर्याय की दृष्टि से इन तीनों का परस्पर में भेद स्पष्ट है। यद्यपि वही आत्मा प्रमिति— क्रिया में व्यापृत होने के कारण प्रमाता कहलाता है और वह क्रिया प्रमिति; फिर भी प्रमाण आत्मा का वह स्वरूप है जो प्रमितिक्रिया में साधकतम करण होता है। अत: प्रमाणविचार में वही करणभूत पर्याय ग्रहण की जाती है और इस तरह प्रमाणशब्द का करणार्थक ज्ञानपद के साथ सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है।

सामग्री प्रमाण नहीं—

---

[125] सम्यगर्थनिर्णय: प्रमाणम्।'' —प्रमाणमी. १।१।२।
''सम्यगानं प्रमाणम्।'' —यायदी, पृ. ३।

वृद्ध[१२६] नैयायिकों ने ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक दोनों प्रकार की सामग्री को प्रमा के करणरूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अर्थोपलब्धिरूप कार्य सामग्री से उत्पन्न होता है और इस सामग्री में इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि अज्ञानात्मक वस्तुएँ भी ज्ञान के साथ कार्म करती हैं। अन्वय और व्यतिरेक भी इसी सामग्री के साथ ही मिलता है। सामग्री का एक छोआ भी पुरजा यदि न हो तो सारी मशीन बेकार हो जाती है। किसी भी छोटे–से कारण के हटने पर कार्य रुक जाता है और सबके मिलने पर ही उत्पन्न होता है। तब किसे साधकतम कहा जाय? सभी अपनी–अपनी जगह उसके घटक हैं और सभी साकल्यरूप से प्रमा के करण हैं। इस सामग्री में वे ही कारण–सम्मिलित हैं जिनका कार्य के साथ व्यतिरेक मिलता है। घटज्ञान में प्रमेंय की जगह घट ही शामिल हो सकता है, पट आदि नहीं। इसी तरह जो परम्परा से कारण हैं वे भी इस सामग्री में शामिल नहीं किये जाते।

जैन दार्शनिकों ने सामान्यतया सामग्री की कारणता स्वीकार करके भी वृद्ध नैयायिकों के सामग्री प्रामाण्यवाद या कारकसाकल्य की प्रमाणता का खण्डन करते हुए स्पष्ट लिखा[१२७] है कि ज्ञान को साधकतम करण कहकर हम सामग्री की अनुपयोगिता या व्यर्थता सिद्ध नहीं कर रहे हैं; किन्तु हमारा यह अभिप्राय है कि इन्द्रियादि सामग्री ज्ञान की उत्पत्ति में तो साक्षात् कारण होती है, पर प्रमा अर्थात् अर्थोपलब्धि में साधकतम करण तो उत्पन्न हुआ ज्ञान ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में शेष सामग्री ज्ञान को उत्पन्न करके ही कृतार्थ हो जाती है, ज्ञान को उत्पन्न किये बिना वह सीधे अर्थोपलब्धि नहीं करा सकती। वह ज्ञान के द्वारा ही अर्थात् नहीं। इस तरह परम्परा कारणों को यदि साधकतम कोटि में लेने लगें, तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है उस आहार और दूध देनेवाली गाय को भी अर्थोपलब्धि में साधकतम कहना होगा और इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जायगा।

यद्यपि अर्थोपलब्धि और ज्ञान दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं फिर भी साधन की दृष्टि से उनमें पर्याय और पर्यायी का भेद है ही। प्रमा भावसाधन हे और वह प्रमाण का फल है, जब कि ज्ञान करणसाधन है और स्वयं करणभूत–प्रमाण है। अवशिष्ट सारी सामग्री का उपयोग इस प्रमाणभूत ज्ञान को उत्पन्न करती है और ज्ञान जानता है। यदि ज्ञान की

---

126 ‘‘अव्यीाचारिणीम सन्दिग्धामर्थोपलब्धि विद्धती बोधाबोधस्वभावा साम्रगी प्रमाणम्। न्यायमं. पृ. १२।

127 ‘तस्याज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावत: प्रमाणत्वायोगात्। तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्य अज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्।’ –प्रमेयक. पृ. ८।

तरह शेष सामग्री ज्ञान को उत्पन्न करती है और ज्ञान जानता है। यदि ज्ञान की तरह शेष सामग्री भी स्वभावतः जाननेवाली होती तो उसे भी ज्ञान के साथ 'साधकतम' पद पर बैठाया जा सकता था और प्रमाणसंज्ञा दी जा सकती थी। वह सामग्री युद्धवीर की जननी हो सकती है, स्वयं योद्धा नहीं। सीधी सी बात है कि प्रमिति चूँकि चेतनातमक है और चेतन का धर्म है, अतः उस चेतन क्रिया का साधकतम चेतनधर्म ही हो सकता है। वह अज्ञान को हटानेवाली है, अतः उसका साधकतम अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नहीं।

इन्द्रिव्यापार भी प्रमाण नहीं—

इसी तरह सांख्यसम्मत इन्द्रियों का व्यापार भी प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि व्यापार भी इन्द्रियों की तरह अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा, ज्ञानात्मक नहीं। और अज्ञानरूप व्यापार प्रमा में साधकतम न होने से प्रमाण नहीं हो सकता, अतः सम्यगान ही एकान्तरूप से प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं।

प्रामाण्य—विचार—

प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना यानी प्रतिभात विषय का अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता है। यह प्रमाण का धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्हीं कारणों से होती है जिन कारणों से प्रमाण उत्पन्न होता है। अप्रमाण्य भी इसीर तरह अप्रमाण के कारणों से ही पैदा होता है। प्रामाण्य हो या अप्रमाण्य, उसकी उत्पत्ति पर से ही होती है।[128] ज्ञप्ति अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में किसी स्वतः प्रमाणभूत् ज्ञानान्तर से यानी परतः हुआ करती है। जैसे जिन स्थानों का हमें परिचय है उन जलाशयादि में होनेवाला जलज्ञान या मरीचिज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता बता देता है, किन्तु अपरिचित स्थानों में होनेवाले ज्ञान की प्रमाणता का ज्ञान पनहारियों का पानी भरकर लाना, मेंढकों का टर्राना या कमल की गन्ध का आना आदि जल के अविनाभावी स्वतः प्रमाणभूत ज्ञानों से ही होता है। इसी तरह जिस वक्ता के गुण—दोषों का हमें परिचय है उसके वचनों की प्रमाणता और अप्रमाणता तो हम स्वतः जान लेते हैं, पर अन्य के वचनों की प्रमाणता के लिए हमें दूसरे संवाद आदि कारणों की अपेक्षा होती है।

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानकर उसे स्वतः प्रमाण कहते हैं। उसका प्रधान कारण यह है कि वेद, धर्म और उसके नियम

---

128 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।' —परीक्षामुख १।१३।

उपनियमों का प्रतिपादन करनेवाला है। धर्मादि अतीन्द्रिय हैं। किसी पुरुष में ज्ञान का इतना विकास नहीं हो सकता, जो वह अतीन्द्रियदर्शी हो सके। यदि पुरुषों में ज्ञान का प्रकर्ष या उनके अनुभवों को अतन्द्रिय साक्षात्कार का अधिकारी माना जाता है तो परिस्थिति विशेष में धर्मादि के स्वरूप का विविध प्रकार से विवेचन ही नही, निर्माण भी सम्भव हो सकता है और इस तरह वेद के निर्बाध एकाधिकार में बाधा आ सकती है। वक्ता के गुणों से वचनों में प्रमाणता आती है। ओर दोषों से अप्रमाणता, इस सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार करके भी मीमांसकने वेद को दोषें से मुक्त अर्थात् निर्दोष कहने का एक नया तरीका निकाला। उसने कहा कि 'शब्द के दोष वक्ता के अधीन होते हैं और उनका अभाव यद्यपि साधारणतया वक्ता के गुणों से ही होता है; किन्तु यदि वक्ता ही न माना जाय तो निराश्रय दोषों की सम्भावना शब्द में नहीं रह जाती।' इस तरह जब शब्द में वक्ता का अभाव मानकर दोषों की निवृत्ति कर दी गई और उन्हें स्वतः प्रमाण मान लिया गया, तब इसी पद्धति को अन्य प्रमाणों में भी लगाना पड़ा और यहाँ तक कल्पना करना पड़ी कि गुण अपने में स्वतन्त्र वस्तु ही नहीं हैं; किन्तु वे दोषाभावरूप हैं। अतः अप्रमाणता तो दोषों से आती है पर प्रमाणता दोषों का अभाव होने से स्वतः आ जाती है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले जो भी कारण हैं उनसे प्रमाणता तो उत्पन्न होती है पर अप्रमाणता में उन कारणों से अतिरिक्त 'दोष' भी अपेक्षित होते हैं। यानी निर्मलता चक्षु आदि का स्वरूप है, स्वरूप से अतिरिक्त कोई गुण नहीं है। जहाँ अतिरिक्त दोष मिल जाता है, वहाँ प्रमाणता स्वतः ही आती है। शब्द में भी इसी तरह स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करके जहाँ वक्ता के दोष आ जाते हैं वहाँ अप्रमाणता दोषप्रयुक्त होने से परतः मानी जाती है।

मीमांसक ईश्वरवादी नहीं है, अतः वेद की प्रमाणता ईश्वरमूलक तो वे मान ही नहीं सकते थे। अतः उनके सामने एक ही मार्ग रह जाता है वेद को स्वतः प्रमाण मानने का।

नैयायिकादि[१२९] वेद की प्रमाणता उसके ईश्वरकर्तृक होने से परतः ही मानते हैं।

आचार्य शान्तरक्षित[१३०] ने बौद्धों का पक्ष 'अनियमवाद' के रूप में रखा है। वे कहते हैं– 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः, दोनों

---

129 'प्रमायाः परतन्त्रत्वात्।' –न्यायकुसुमाञ्जलि २।१

130 'न हि बोद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि–उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्वित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत व पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्य अनियमपक्षस्य सम्भवात्।' –तत्त्वसं. प. का. ३१२३

परत:, प्रामाण्य स्वत: अप्रामाण्य परत: और अप्रामाण्य स्वत: प्रामाण्य परत:' इन चार नियम पक्षों से अतिरिक्त पाँचवाँ 'अनियम पक्ष' भी है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को अवस्थाविशेष में परत: मानने का है। यही पक्ष बौद्धों को इष्ट है। दोनों को स्वत: मानने का पक्ष 'सर्वदर्शनसंग्रह'[१३१] में सांख्य के नाम से तथा अप्रामाण्य को स्वत: और प्रामाण्य को परत: मानने का पक्ष[१३२] बौद्ध के नाम से उल्लिखित है, पर उनके मूल ग्रन्थों में इन पक्षों का उल्लेख नहीं मिलता।

नैयायिक दोनों को परत:[१३३] मानते हैं— संवाद से प्रामाण्य और बाधकप्रत्यय से अप्रामाण्य आता है। जैन जिस वक्ता के गुणों का प्रत्यय है उसके वचनों को तत्काल स्वत:प्रमाण कह भी दें, पर शब्द की प्रमाणता गुणों से ही आती है, यह सिद्धान्त निरपवाद है। अन्य प्रमाणों में अभ्यास और अनभ्यास से प्रामाण्य और अप्रमाण्य के स्वत: और परत: का निश्चय होता है।

मीमांसक यद्यपि प्रमाण की उत्पत्ति कारणों से मानता है पर उसका अभिप्राय यह है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त किसी अन्य कारण की, प्रमाणता की उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं होती। जैन का कहना है कि इन्द्रियादि कारण या तो गुणवाले होते हैं या दोषवाले; क्योंकि कोई भी सामान्य अपने विशेषों में ही प्राप्त हो सकता है। कारण—सामान्य भी या तो गुणवान् कारणों में मिलेगा या दोषवान् कारणों में। अत: यदि दोषवान् कारणों से उत्पन्न होने के कारण अप्रामण्य परत: माना जाता है तो गुणवान् कारणों से उत्पन्न होने से प्रामाण्य को भी परत: ही मानना चाहिए। यानी उत्पत्ति चाहे प्रामाण्य क हो या अप्रमाण्य की, हर हालत में वह परत: ही होगी। जिन कारणों से उत्पन्न होने से प्रामाण्य को भी परत: ही मानना चाहिए। यानी उत्पत्ति चाहे प्रामाण्य की हो या अप्रामाण्य की, हर हालत में वह परत: ही होगी। जिन कारणों से प्रमाण या अप्रमाण पैदा होगा, उन्हीं कारणों से उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी उत्पन्न हो ही जाती है। प्रमाण और प्रमाणता की उत्पत्ति में समयभेद नहीं है। ज्ञप्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि वे अभ्यास दशा में स्वत: और अनभ्यास दशा में परत: होती है।

वेद को स्वत: प्रामाण्य मानने के सिद्धान्त ने मीमांसक को शब्दमात्र के नित्य मानने की ओर प्रेरित किया; क्योंकि यदि शब्द को अनित्य माना जाता है तो शब्दात्मक वेद को भी कभी न कभी किसी

---

131 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या: समाश्रिता:।' —सर्वद. पृ. २७९।

132 'सौगताश्चरमं स्वत: सांख्या: समाश्रिता:।' —सर्वद. पृ. २७९।

133 'द्वयमपि परत: इत्येष एव पक्ष: श्रेयान्।' —न्यायमं., पृ. १७४।

वक्ता के मुख से उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, जो कि उसकी स्वतः प्रमाणता का विघातक सिद्ध हो सकता है। वक्ता के मुख से एकान्ततः जन्म लेनेवाले सार्थक भाषात्मक शब्दों को भी नित्य और अपौरुषेय कहना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है। परम्परा और सन्तति की दृष्टि से भले ही भाषात्मक शब्द अनादि हो जाँय, पर तत्तत्समयों में उत्पन्न होनेवाले शब्द तो उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। शब्द तो जल की लहर के समान पौद्गलिक वातावरण में उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, अतः उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। फिर उस वेद को, जिसमें अनेक राजा, ऋषि, नगर, नदी और देश आदि अनित्य और सादि पदार्थों के नाम आते हैं, नित्य, अनादि और अपौरुषेय कहकर स्वतः प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

प्रमाणता या अप्रमाणता सर्वप्रथम तो परतः ही गृहीत होती है, आगे परिचय और अभ्यास के कारण भले ही वे अवस्थाविशेष में स्वतः हो जाँय। गुण और दोष दोनों वस्तु के ही धर्म हैं। वस्तु या तो गुणात्मक होती है या दोषात्मक। अतः गुण को 'स्वरूप' कहकर उसका अस्तित्व नहीं उड़ाया जा सकता। दोनों की स्थिति बराबर होती है। यदि काचकामलादि दोष हैं तो निर्मलता चक्षु का गुण है। अतः गुण और दोष रूप कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों ही परतः मानी जानी चाहिए।

प्रमाणसंप्वल—विचार—

एक ही प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को 'प्रमाणसम्प्लव' कहते हैं। बौद्ध पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। उनका यह भी सिद्धान्त है कि ज्ञान अर्थजन्य होता है। जिस विवक्षित पदार्थ से कोई एक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियम से नष्अ हो जाता है, इसलिए किसी भी अर्थ में दो ज्ञानों की प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं है। बौद्धों ने प्रमेय के दो भेद किये हैं— एक विशेष (स्वलक्षण) और दूसरा सामान्य (अन्यापोह)। विशेषपदार्थ को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है और सामान्य को जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह प्रमेय द्वैविध्य से प्रमाण[१३४] द्वैविध्य की नियत व्यवस्था होने से कोई भी प्रमाण जब अपनी विषयमर्यादा को नहीं लाँघ सकता, तब विजातीय प्रमाण की तो स्वनियत विषय से भिन्न प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तर के संप्लव की बात, सो द्वितीय क्षण में जब वह पदार्थ ही नहीं रहता, तब संप्लव की चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

---

[134] 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्।' —प्रमाणवा. २।१।

जैन पदार्थ को एकान्त क्षणिक न मानकर उसे कथञ्चित् अनित्य और सामान्य विशेषात्मक मानते हैं। यही पदार्थ सभी प्रमाणों का विषय होता है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है। अमुक ज्ञान के द्वारा वस्तु के अमुक अंशों का निश्चय होने पर भी अग्रहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणान्तर को अवकाश है ही। इसी तरह जिन ज्ञात अंशों का संवाद हो जाने से निश्चय हो चुका है उन अंशों में भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करें। पर जिन अंशों में असंवाद होने के कारण अनिश्चय या विपरीत निश्चय है, उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेद होने से प्रमाण ही होता है। अकलंकदेव ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' पद दिया है, अतः अनिश्चित अंश के निश्चय में या निश्चितांश में उपयोगविशेष होने पर ही प्रमाणसंप्लव स्वीकार किया जाता है,[१३५] जब कि नैयायिक ने प्रमाण के लक्षण में ऐसा कोई पद नहीं रखा है, अतः उसकी दृष्अि से वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिलते हैं तो प्रमाण की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी। उपयोग विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं हो सकता कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिक को प्रत्येक अवस्था में प्रमाण संप्लव स्वीकृत है।

जैनपरम्परा में अवग्रहादि ज्ञानों के ध्रुव और अध्रुव भेद भी किये हैं। ध्रुव का अर्थ है जैसा ज्ञान पहले होता है वैसा ही बाद में होना। ये ध्रुवावग्रहादि प्रमाण भी है। अतः सिद्धान्तदृष्टि से जैन अपने नित्यानित्य पदार्थ में सजातीय या विजातीय प्रमाणों की प्रवृत्ति ओर संवाद के आधार से उनकी प्रमाणता को स्वीकार करते ही हैं। जहाँ विशेषपरिच्छेद होता है वहाँ तो प्रमाणता को कोई नहीं रोक सकता। यद्यपि[१३६] कहीं गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास में गिनाया है, पर ऐसा प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्वार्थ' पद या 'अनधिगत' विशेषण देने के कारण हुआ है। वस्तुतः ज्ञान की प्रमाणता का आधार अविसंवाद या सम्यगानत्व ही है; अपूर्वार्थग्राहित्व नहीं। पदार्थ के नित्यानित्य होने के कारण उसमें अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति का पूरा–पूरा अवसर है।

प्रमाण के भेद–

प्राचीन काल से प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से स्वीकृत चले आ रहे हैं। आगमिक परिभाषा में आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जिन ज्ञानों में इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि परसाधनों की अपेक्षा होती है वे परोक्ष हैं।

---

[135] 'उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवानभ्युपगमात्।।'

—अष्टसह. पृ. ४।

[136] परीक्षामुख ६।१।

प्रत्यक्ष और परोक्ष की यह परिभाषा[१३७] जैन परम्परा की अपनी है। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन में स्वयं उपादान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन हैं, वे सब व्यवहारमूलक हैं। जो मात्र स्वजन्य हैं, वे ही परमार्थ हैं और निश्चयनय के विषय हैं। प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग जो लोक में इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अर्थ में देखा जाता है उसे सांव्यवहारिक संज्ञा दी गई है, यद्यपि आगमिक परमार्थ व्याख्या के अनुसार इन्द्रिजन्य ज्ञान परसापेक्ष होने से परोक्ष है; किन्तु लोकव्यवहार की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जैन दृष्टि का अपना आध्यात्मिक निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, जिसमें बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है वही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाने के योग्य है और जिसमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि साधनों की आवश्यकता होती है, वे ज्ञान परोक्ष हैं। इस तरह मूल में प्रमाण के दो भेद होते हैं– एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण–

सिद्धसेन दिवाकर[१३८] ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'अपरोक्षरूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष हे' यह किया है। इस लक्षण में प्रत्यक्ष का स्वरूप तब तक समझ में नहीं आत, जब तक कि परोक्ष का स्वरूप न समझ लिया जाय। अकलंकदेव ने 'न्यायविनिश्चय' में स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[१३९] उनके लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पद भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं; अर्थात् सकाराज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट अर्थात् परमार्थरूप से विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं वैशद्य का लक्षण अकलंकदेव ने स्वयं लघीयस्त्रय में इस तरह किया है–

''अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्।।४।।''

अर्थात् अनुमानादि से अधिक नियत देश, काल और आकाररूप से प्रचुरतर विशेषों के प्रतिभासन को वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान, व्याप्तिस्मरण आदि की अपेक्षा रखते हैं, उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक–अधिकता है।

---

137 'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं।।'–प्रवचनसार गा. ५८।

138 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया।।८ –न्यायावतार श्लो. ४।

139 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा' –न्यायवि. श्लो. ३।

यद्यपि बौद्ध[१४०] भी विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं; पर वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की सीमा में रखते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि स्वलक्षणवस्तु परमार्थतः शब्दशून्य है। अतः उससे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष भी शब्दशून्य ही होना चाहिए। शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द के अभाव में भी पदार्थ अपने स्वरूप में रहता है और पदार्थ के न होने पर भी यथेच्छ शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। शब्द का प्रयोग संकेत और विवक्षा के अधीन है। अतः परमार्थसत् वस्तु से उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्प प्रत्यक्ष से शब्द की सम्भावना नहीं है। शब्द का प्रयोग तो विकल्प वासना के कारण पूर्वोक्त निर्विकल्पक ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले सविकल्पक ज्ञान में ही होता है। शब्द–संसृष्टज्ञान नियम से पदार्थ का ग्राहक नहीं होता। अनेक विकल्पकज्ञान ऐसे होते हैं, जिनके विषयभूत पदार्थ विद्यमान नहीं होते, जैसे शेखचिल्ली की 'मैं राजा हूँ' इत्यादि कल्पनाओं के। जो विकल्पज्ञान निर्विकल्पक से उत्पन्न होता है, मात्र विकल्पवासना से नहीं, उस सविकल्पक में जो विशदता और अर्थनियतता देखी जाती है, वह उस विकल्प का अपना धर्म नहीं है, किन्तु निर्विकल्पक से उधार लिया हुआ है। निर्विकल्पक के अनन्तर क्षण में ही सविकल्पक उत्पन्न होता हे, अतः निर्विकल्पक की विशदता सविकल्पक में प्रतिभासित होने लगती है और इस तरह सविकल्पक भी निर्विकल्पक की विशदता का स्वामी बनकर व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है।

परन्तु जैन दार्शनिक परम्परा में निराकार निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाणकोअि से बहिर्भूत ही रखा है और निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानकर विशदज्ञान को प्रत्यक्षकोटि में लिया है। बौद्ध का निर्विकल्पकज्ञान विषय–विषयी–सन्निपात के अनन्तर होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शन के समान है। यह अनाकार दर्शन इतना निर्बल होता है कि इससे व्यवहार तो दूर रहा किन्तु पदार्थ का निश्चय भी नहीं हो पाता। अतः उसको स्पष्ट या प्रमाण मानना किसी भी तरह उचित नहीं है। विशदता और निश्चयपना विकल्प का अपना धर्म है और वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार इसमें पाया जाता है। इसी अभिप्राय का सूचन करने के लिए अकलंकदेव ने 'अञ्जसाा' और 'साकार' पद प्रत्यक्ष के लक्षण में दिये हैं। जिन विकल्पज्ञानों का विषयभूत पदार्थ बाह्य में नहीं मिलता वे विकल्पाभास हैं, प्रत्यक्ष नहीं। जेसे शब्दशून्य निर्विकल्पक से शब्दसंसृष्ट विकल्प उत्पन्न हो जाता है वैसे यदि शब्दशून्य अर्थ से भी सीधा विकल्प उत्पन्न हो तो क्या बाधा है? यद्यपि ज्ञान की उत्पत्ति में पदार्थ की असाधारण कारणता नहीं है।

---

140 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।' –तत्त्वसं. का. १२३४।

ज्ञाता होता है। कि वेद की प्रमाणता का खण्डन करने के विचार से बौद्धों ने शब्द का अर्थ के साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और उन यावत् शब्दसंसृष्ट ज्ञानों का, जिनका समर्थन निर्विकल्पक से नहीं होता, अप्रामाण्य घोषित कर दिया है और उन्हीं ज्ञानों को प्रमाण माना है, जो साक्षात् या परम्परा से अर्थसामर्थ्यजन्य हैं;परन्तु शब्दमात्र को अप्रमाण कहना उचित नहीं है। वे शब्द भले ही अप्रमाण हों, जिनका विषयभूत अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

जब आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष माना और अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा किया गया, तब लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष की समस्या का समन्वय जैन दार्शनिकों ने एक 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' मानकर किया। विशेषावश्यकभाष्य[१४१] और लघीयस्त्रय[१४२] ग्रन्थों में इन्द्रिय ओर मनोजन्य ज्ञान को संव्यवहार प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इसके कारण भी ये हें कि एक तो लोकव्यवहार में तथा सभी इतर दर्शनों में यह प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्ध है और प्रत्यक्षता के प्रयोजक वैशद्य (निर्मलता) का अंश इसमें पाया जाता है। इस तरह उपचार का कारण मिलने से इन्द्रियप्रत्यक्ष में प्रत्यक्षता का उपचार कर लिया गया है। वस्तुत: आध्यात्मिक दृष्टि ये ज्ञान परोक्ष ही है। तत्त्वार्थसूत्र (१।१३) में मतिज्ञान की मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पर्यायों का निर्देश मिलता है। इनमें मति, इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इसकी उत्पत्ति में ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं होती। आगे के स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञानों में क्रमश: पूर्वानुभव, स्मरण और प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान, लिंगदर्शन और व्याप्तिस्मरण आदि ज्ञानान्तरों की अपेक्षा रहती है, जब कि इन्द्रिरूप्रत्यक्ष और मानप्रत्यक्ष में कोई भी अन्य ज्ञान अपेक्षित नहीं होता। इसी विशेषता के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष रूपी मति को संव्यवहारप्रत्यक्ष का पद मिला है।

१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—

पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छह कारणों से संव्यवहारप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इसके मूल दो भेद हैं (१) इन्द्रियसंव्यवहारप्रत्यक्ष, (२) अनिन्द्रियसंव्यवहारप्रत्यक्ष। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मन से उत्पन्न होता है, जब कि इन्द्रियप्रत्यक्ष में इन्द्रियों के साथ मन भी कारण होता है।

---

141 'इन्द्रियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।' —विशेषा. गा. ९५।

142 'तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।'
—लघी. स्ववृ. श्लोक. ४।

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता—अप्राप्यकारिता—

[143]इन्द्रियों में चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये पदार्थ को प्राप्त किये बिना ही दूर से ही उसका ज्ञान कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन्हें जानती हैं। कान शब्द को स्पृष्ट होने पर सुनता है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ पदार्थों के सम्बन्धकाल में उनसे स्पृष्ट भी होती हैं और बद्ध भी। बद्ध का अर्थ है— इन्द्रियों में अल्पकालिक विकारपरिणति। जैसे अत्यन्त ठण्डे पानी में हाथ डुबाने पर कुद कालतक हाथ ऐसा ठिठुर जाता है कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नहीं होता। किसी तेज गरम पदार्थ को खा लेने पर रसना भी विकृत होती हुई देखी जाती है; परन्तु कान से किसी भी प्रकार के शब्द सुनने पर ऐसा कोई विकार अनुभव में नहीं आता।

सन्निकर्ष—विचार—

नैयायिकादि चक्षु का भी पदार्थ के साथ सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि चक्षु तैजस पदार्थ है। उसकी किरणें निकलकर पदार्थों से सम्बन्ध करती हैं और तब चक्षु के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। चक्षु चूँकि पदार्थ के रूप, रस आदि गुणों में से केवल रूप को ही प्रकाशित करती है, अत: वह दीपक की तरह तैजस है। मन व्यापक आत्मा से संयक्त होता है और आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों से संयुक्त है, अत: मन किसी भी बाह्य पदार्थ को संयुक्तसंयोग आदि सम्बन्धों से जानता है। मन अपने सुख का साक्षात्कार संयुक्त समवायसम्बन्ध से करता है। मन आत्मा से संयुक्त है और आत्मा में सुख का का समवाय है, इस तरह चक्षु और मन दोनों प्राप्यकारी हैं।

परन्तु निम्नलिखित कारणों से चक्षु का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष सिद्ध नहीं होता—

१. [144]यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे स्वयं में लगे हुए अंजन को देख लेना चाहिए।
२. यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो वह स्पर्शन इन्द्रिय की तरह समीपवर्ती वृक्ष की शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमा को एक साथ नहीं देख सकती।

---

143 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं विजाणादि।।' —आ. नि. गा. ५।

144 देखों, तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. ६८।

३. यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो कारण हो वह पदार्थ से संयुक्त होकर ही अपना काम करे। चुम्बक दूर से ही लोहे को खींच लेता है।
४. चक्षु अभ्रक, काँच और स्फटिक आदि से व्यवहित पदार्थों के रूप को भी देख लेती है, जबकि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उनके स्पर्श आदि को नहीं जान सकतीं। चक्षु को तेजोद्रव्य कहना भी प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि एक तो तेजोद्रव्य स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, दूसरे उष्ण स्पर्श और भास्वर रूप इसमें नहीं पाया जाता।

चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर पदार्थ में दूर और निकट व्यवहार नहीं हो सकता। इसी तरह संशय और विपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकेंगे।

आज का विज्ञान मानता है कि आँख एक प्रकार का कैमरा है। उसमें पदार्थों की किरणें प्रतिबिम्ब होती हैं। किरणों के प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञानतन्तु उद्‌बुद्ध होते हैं और फिर चक्षु उन पदार्थों को देखती है। चक्षु में आये हुए प्रतिबिम्ब का कार्य केवल चेतना को उद्‌बुद्ध कर देना है। वह स्वयं दिखाई नहीं देता। इस प्रणाली मे यह बात तो स्पष्ट है कि चक्षु ने योग्य देश में स्थित पदार्थ को ही जाना है, अपने में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को नहीं। पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ने की क्रिया तो केवल स्विच को दबाने की क्रिया के समान है, जो विद्युत शक्ति को प्रवाहित कर देता है। अत: इस प्रक्रिया से जैनों के चक्षु को अप्राप्यकारी मानने के विचार में कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होती।

श्रोत अप्राप्यकारी नहीं—

[१४५]बौद्ध श्रोत को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। उनका विचार है कि— शब्द भी दूर से ही सुना जाता है। वे चक्षु और मन के साथ श्रोत के भी अप्राप्यकारी होने का स्पष्ट निर्देश करते हैं। यदि श्रोत प्राप्यकारी होता तो शब्द में दूर और निकट व्यवहार नहीं होना चाहिए था। किन्तु [१४६]जब श्रोत कान में घुसे हुए मच्छर के शब्द को सुन लेता है, तो अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रिय के विषयभूत गन्ध में भी 'कमल की गन्ध दूर है, मालती की गन्ध पास है' इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षु की तरह श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है तो जैसे रूप में दिशा और देश का संशय नहीं होता उसी तरह शब्द में भी नही होना चाहिए था, किन्तु शब्द में 'यह किस दिशा से शब्द आया है?' इसप्रकार का संशय देखा जाता है। अत:

---

145 'अप्राप्तान्यक्षिमन: श्रोत्राणि।' —अभिधर्मकोश १।४३। तत्त्वसंग्रह. पं., पृ. ६०३।

146 देखो, तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. ६८—३९।

श्रोत्र को भी स्पर्शनादि इन्द्रियों की तरह प्राप्यकारी ही मानना चाहिए। जब शब्द वातावरण में उत्पन्न होता हुआ क्रमश: कान के भीतर पहुँचता है, तभी सुनाई देता है। श्रोत का शब्दोत्पत्ति के स्थान में पहुँचना तो नितान्त बाधित हे।

ज्ञान का उत्पत्ति–क्रम, अवग्रहादिभेद–

सांव्यवहारिक इन्द्रियप्रत्यक्ष चार भागों में विभाजित है– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सर्वप्रथम विषय और के सन्निपात (योग्यदेशावस्थित में) होने पर दर्शन होता है। यह दर्शन सामान्य–सत्ता का आलोचक होता है। इसके आकार को हम मात्र 'है' के रूप निर्दिष्ट कर सकते हैं। यह अस्तित्वरूप महासत्ता या सामान्य–सत्ता का प्रतिभास करता है। इसके बाद उस विषय की अवान्तरसत्ता (मनुष्यत्व आदि) से युक्त वस्तु का ग्रहण करनेवाला 'यह पुरुष है' ऐसा अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह ज्ञान में पुरुषत्वविशिष्ट पुरुष का स्पष्ट बोध होता है। जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उनके द्वारा दर्शन के बाद सर्वप्रथम व्यंजनावग्रह होता है। जिस प्रकार कोरे घड़े में जब दो, तीन, चार जलबिन्दुएँ तुरन्त सूख जाती हैं, तब कहीं घड़ा धीरे–धीरे गीला होता है, उसी तरह व्यंजनावग्रह में पदार्थ का अव्यक्त बोध होता है। इसका कारण यह है कि प्राप्यकारी स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत इन्द्रियाँ अनेक प्रकार की उपकरण–त्वाचाओं से आवृत्त रहती हैं, अत: उन्हें भेदकर इन्द्रियाँ तक विषय–सम्बन्ध होने में एक क्षण तो लग ही जाती है। अप्राप्यकारी चक्षु की उपकरणभूत पलकें आँख के तारे के ऊपर हैं और पलकें खुलने के बाद ही देखना प्रारम्भ होता है। आँख खलने के बाद पदार्थ देखने में अस्पृष्टता की गुंजाइश नहीं रहती। जितनी शक्ति होगी, उतना स्पष्ट ही दिखेगा। अत: चक्षु इन्द्रिय से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। व्यञ्जनावग्रह शेष चार इन्द्रियों से ही होता है।

अवग्रह के बाद उसके द्वारा ज्ञात विषय में 'यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी?' इसप्रकार का विशेषविषयक संशय होता है। संशय के अनन्तर भाषा और वेश को देखकर निर्णय की ओर झुकनेवाला 'यह दक्षिणी होना चाहिए' ऐसा भवितव्यतारूप 'ईहा' ज्ञान होता है।

ईहा के बाद विशेष चिह्नों से 'यह दक्षिणी ही है' ऐसा निर्णयात्मक 'अवाय' ज्ञान होता है। कहीं इसका अपाय के रूप में भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है 'अनिष्ट अंश की निवृत्ति करना'। अपाय अर्थात् 'निवृत्ति'। अवाय में इष्अ अंश का निश्चय विवक्षित है जब कि अपाय में अनिष्ट अंश की निवृत्ति मुख्य रूप से लक्षित होती है।

यही अवाय उत्तर में दृढ़ होकर 'धारणा' बन जाता है। इसी धारणा के कारण कालान्तर में उस वस्तु का स्मरण होता है। धारणा को संस्कार भी कहते हैं। जब तक इन्द्रियव्यापार के निवृत्त हो जाने पर यही धारणा शक्तिरूप में संस्कार बन जाती है

इनमें संशय ज्ञान को छोड़का बाकी व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यदि अर्थ का यथार्थ निश्चय कराते हैं तो प्रमाण हैं, अन्यथा अप्रमाण। प्रमाण का अर्थ है जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसका उसी रूप में मिलना।

सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं–

ये सभी ज्ञान स्वसंवेदी होते हैं। ये अपने स्वरूप का बोध स्वयं करते हैं। अत: स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जो जिस ज्ञान का संवेदन है, वह उसी में अन्तर्भूत हो जाता है; इन्द्रियप्रत्यक्ष का स्वसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष में और मानसप्रत्यक्ष का स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्ष में। किन्तु स्वसंवेदन की दृष्टि से अप्रमाणव्यवहार या प्रमाणाभास की कल्पना कथमपि नहीं होती। ज्ञान प्रमाण हो या अप्रमाण, उसका स्वसंवेदन तो ज्ञान के रूप में यथार्थ ही होता है 'यह स्थाणु है या पुरुष?' इसप्रकार के संशय ज्ञान का स्वसंवेदन भी अपने में निश्चयात्मक ही होता है। उक्त प्रकार के ज्ञान के होने में संशय नहीं है। संशय तो उसके विषयभूत पदार्थ में है। इसी प्रकार विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों का स्वरूप संवेदन अपने में निश्चयात्मक और यथार्थ ही होता हे।

मानसप्रत्यक्ष में केवल मन से सुखादि का संवेदन होता ही है। इसमें इन्द्रिय व्यापार की आवश्यकता नहीं होती।

अवग्रहादि बहु आदि अर्थों के होते हैं–

ये [१४७]अवग्रहादि ज्ञान एक, बहु, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, नि:सृत, अनि:सृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इस तरह बारह प्रकार के अर्थों के होते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले अवग्रहादि मात्र रूपादि गुणों को ही नहीं जानते, किन्तु उन गुणों के द्वारा [१४८]द्रव्य को ग्रहण करते हैं; क्योंकि गुण और गुणी में कथञ्चित् अभेद होने से गुण का ग्रहण होने पर गुणी का भी ग्रहण उस रूप में हो जी जाता है। किसी ऐसे इन्द्रियज्ञान की कल्पना नहीं की जा

---

147 देखो, तत्त्वार्थसूत्र १।१६।

148 तत्त्वार्थसूत्र १।१७।

सकती, जो द्रव्य को छोड़का मात्र गुण को, या गुण को छोड़कर मात्र द्रव्य को ग्रहण करता है।

विपर्यय आदि मिथ्याज्ञान–

विपर्यय ज्ञान का स्वरूप–

इन्द्रियघोष तथा सादृश्य आदि के कारण जो विपर्यय ज्ञान होता है, वह जैन दर्शन में विपरीत–ख्याति के रूप में स्वीकार किया गया है। किसी पदार्थ में उससे विपरीत पदार्थ का प्रतिभास होना विपरीत–ख्याति कहलाती है। 'यह पदार्थ विपरीत है' इसप्रकार का प्रतिभास विपर्यकाल में नहीं होता है। यदि प्रमाता को यह मालूम हो जाय कि 'यह पदार्थ विपरीत है' तब तो वह ज्ञान यथार्थ ही हो जायगा। अत: पुरुष से विपरीत स्थाणु में 'पुरुष' इसप्रकार की ख्याति अर्थात् प्रतिभास विपरीतख्याति कहलाता है। यद्यपि विपर्ययकाल में पुरुष वहाँ नहीं है, परन्तु सादृश्य आदि के कारण पूर्वदृष्ट पुरुष का स्मरण होकर उसमें पुरुष का भान होता है और यह सब होता है इन्द्रियदोष आदि के कारण। इसमें अलौकिक, अनिर्वचनीय, असत्, सत् या आत्मा का प्रतिभास मानना या इस ज्ञान को निरालम्बन ही मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

विपर्यय ज्ञान का आलम्बन तो वह पदार्थ है ही जिसमें सादृश्य आदि के कारण विपरीत भान हो रहा है और जो विपरीत पदार्थ उसमें प्रतिभासित हो रहा है। वह यद्यपि वहाँ विद्यमान नहीं है, किन्तु सादृश्य आदि के कारण स्मरण का विषय बनकर झलक तो जाता ही है। अन्तत: विपर्यय ज्ञान का विषयभूत पदार्थ विपर्यय काल में आलम्बनभूत पदार्थ में आरोपित किया जाता है और इसीलिए वह विपर्यय है।

असत्ख्याति और आत्मख्याति नहीं–

विपर्ययकाल में सीप में चाँदी आ जाती है, यह निरी कल्पना है; क्योंकि यदि उस काल में चाँदी आती हो, तो वहाँ बैठे हुए पुरुष को दिख जानी चाहिए। रेत में जलज्ञान के समय यदि जल वहाँ आ जाता है, तो पीछे जमीन तो गीली मिलनी चाहिए। मानसभ्रान्ति अपने मिथ्यासंस्कार और विचारों के अनुसार अनेक प्रकार की हुआ करती है। आत्मा की तरह बाह्य पदार्थ का अस्तित्व भी स्वत: सिद्ध और परमार्थसत् ही है। अत: बाह्यार्थ का निषेध करके नित्य ब्रह्म या क्षणिक ज्ञान का प्रतिभास कहना भी सयुक्तिक नहीं है।

विपर्यय ज्ञान के कारण—

विपर्यय ज्ञान के अनेक कारण होते हैं; वात—पित्तादि का क्षोभ, विषय की चंचलता, किसी क्रिया का अतिशीघ्र होना, सादृश्य और इन्द्रियविकार आदि। इन दोषों के कारण मन और इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होता है और इन्द्रिय में विकार होने से विपर्ययादि ज्ञान होते हैं। अन्ततः इन्द्रियविकार ही विपर्यय का मुख्य हेतु सिद्ध होता है।

अनिर्वचनीयार्थ ख्याति नहीं—

विपर्यय ज्ञान को सत्, असत् आदि रूप से अनिर्वचनीय कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि उसका विपरीतरूप में निर्वचन किया जा सकता है। 'इदं रजतम्' यह शब्दप्रयोग स्वयं अपनी निर्वचनीयता बता रहा है। पहले देखा गया रजत ही सादृश्यादि के कारण सामने रखी हुई सीप में झलकने लगता है।

अख्याति नहीं—

यदि विपर्यय ज्ञान में कुछ भी प्रतिभासित न हो, वह अख्याति अर्थात् निर्विषय हो; तो भ्रान्ति और सुषुप्तावस्था में कुछ भी नहीं।

असत्ख्याति नहीं—

यदि विपर्यय में असत् पदार्थ का प्रतिभास माना जाता है, तो विचित्र प्रकार की भ्रान्तियाँ नहीं हो सकेंगी, क्योंकि असत्ख्यातिवादी के मत में विचित्रता का कारण ज्ञानगत या अर्थगत कुछ भी नहं है। सामने रखी हुई वस्तुभूत शुक्तिका ही इस ज्ञान का आलम्बन है, अन्यथा अंगुलि के द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता था। यद्यपि यहाँ रजत अविद्यमान है, फिर भी इसे असत्ख्याति नहीं कह सकते; क्योंकि इसमें सादृश्य कारण पड़ रहा है, जबकि असत्ख्याति में सादृश्य कारण नहीं होता।

विपर्ययज्ञान स्मृति—प्रमोष—

विपर्ययज्ञान को इस रूप से स्मृतिप्रमोषरूप कहना भी ठीक नहीं है कि 'इदं रजतम्' यहाँ 'इदम्' शब्द सामने रखे हुए पदार्थ का निर्देश करता है और 'रजतम्' पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण है। सादृश्यादि दोषों के कारण वह स्मरण अपने 'तत्' आकार को छोड़कर उत्पन्न होता है। यही उसकी विपर्ययरूपता है। यदि यहाँ 'तद्रजतम्' ऐसा प्रतिभास होता; तो वह सम्यगान ही हो जाता। अतः 'इदम्' यह एक स्वतन्त्र ज्ञान है और 'रजतम्' यह अधूरा स्मरण। चूँकि दोंनों का भेद

ज्ञात नहीं होता, अतः 'इदं' के साथ 'रजतम्' जुटकर 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान मालूम होने लगता है; किन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ दो ज्ञान प्रतिभासित ही नहीं होते। एक ही ज्ञान सामने रखे हुए चमकदार पदार्थ को विषय करता है। विशेष बात यह है कि वस्तुदर्शन के अनन्तर तद्वाचक शब्द की स्मृति के समय विपरीत विशेष का स्मरण होकर वही प्रतिभासित होने लगता है। उस समय चमचमाहट के कारण शुक्तिका के विशेष धर्म प्रतिाािसित न होकर उनका स्थान रजत धर्म ले लेते हैं। इस तरह विपर्ययज्ञान के बनने में सामान्य का प्रतिभास विशेष का अप्रतिभास और विपरीत विशेष का स्मरण ये कारण भले ही हों, पर विपर्ययकाल में 'इदं रजतम्' यह एक ही ज्ञान रहता है और वह विपरीत आकार को विषय करने के कारण विपरीत ख्यातिरूप ही है।

संशय का स्वरूप–

संशय ज्ञान में प्रथम ही सामने विद्यमान स्थाणु के उच्चत्व आदि सामान्यधर्म प्रतिभासित होते हैं, फिर उसके पुरुष और स्थाणु इन दो विशेषों का युगपत् स्मरण आ जाने से ज्ञान दोनों कोटियों में दोलित हो जाता है।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्ष–

पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूप से विशद होता है। वह मात्र आत्मा से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मन के व्यापार की उसमें आवश्यकता नहीं होती। वह दो प्रकार का है– एक सकलप्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष। केवल ज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान विकल्पप्रत्यक्ष है।

अवधिज्ञान–

[१४९]अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह रूपिद्रव्य को ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्य को नहीं। चूँकि इसकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा निश्चित है और यह नीचे की तरफ अधिक विषय को जानता है, अतएव अवधिज्ञान कहा जाता है। इसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद होते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों के गुणप्रत्यय देशावधि होता है और देव तथा नारकियों के भवप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधि में कर्म और तिर्यंचों के होनेवाले देशावधि का क्षयोपशम गुणनिमित्तक होता है। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनि के ही होते हैं। देशावधि प्रतिपाती होता है, परन्तु सर्वावधि और परमावधि प्रतिपाती नहीं होते। संयम से च्युत होकर

---

149 देखो, तत्त्वार्थवात्तिक १।२१–२२।

अविरत और मिथ्यात्व–भूमिपर आ जाना प्रतिपात कहा जाता है। अथवा, मोक्ष होने के पहले जो अवधिज्ञान छूट जाता है, वह प्रतिपाती होता है। अवधिज्ञान सूक्ष्मरूप से एक परमाणु को जान सकता है।

मन: पर्ययज्ञान–

[१५०]मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन की बात को जानता है। इसके दो भेद हैं– एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन और काय से विचारे गये पदार्थ को जानता है, जबकि विपुलमति सरल और कुटिल दोनों तरह से विचारे गये पदार्थों को जानता है। मन: पर्ययज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही होता है। दूसरे का मन तो इसमें केवल आलम्बन पड़ता है। 'मन: पर्ययज्ञानी दूसरे के मन में आनेवाले विचारों को अर्थात् विचार करनेवाले मन की पर्यायों को साक्षात् जानता है और उसके अनुसार बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है' यह एक आचार्य का मत[१५१] है। दूसरे आचार्य मन: पर्ययज्ञान के द्वारा बाह्य पदार्थ का साक्षात् ज्ञान भी मानते हैं। मन: पयर्याान प्रकृष्ट चारित्रवाले साधु के ही होता है। इसका विषय अवधिज्ञान से अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म होता है। इसका क्षेत्र मनुष्यलोक बराबर है।

केवलज्ञान–

समस्त ज्ञानावरण के समूल नाश होने पर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवलज्ञान है। यह आत्ममात्र सापेक्ष होता है और केवल अर्थात् अकेला होता है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानता है तथा अतीन्द्रिय होता है। यह सम्पूर्ण रूप से निर्मल होता है। इसके सिद्ध करने की मूल[१५२] युक्ति यह है कि आत्मा जब ज्ञानस्वभाव है और आवरण के कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खण्ड–खण्ड करके प्रकट होता है। तब सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर ज्ञान को अपने पूर्णरूप में प्रकाशमान होना ही चाहिए। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाने का है। यदि कोई प्रतिबन्धकों के हट जाने पर जगत् के समस्त पदार्थों को जानेगा ही। 'जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय हैं, किसी न किसी प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे

---

150 देखो, तत्त्वार्थवार्तिक १।२६।

151 ''जाणइ बज्झेऽणुमाणेप्प–विशेषा. गा. ८१४।

152 ''शस्यावरणविच्छदे ज्ञेयं किमवशिष्यते?'' –न्यायवि. श्लो. ४६५।

''ज्ञो ज्ञेये कथमश: स्यादसति प्रतिबन्ध के।
दाह्येऽग्निर्दाह को न स्यादसति प्रतिबन्धके।।''

–उद्धृत अष्टसह. पृ. ५०।

पर्वतीय अग्नि' इत्यादि अनेक अनुमान उस निरावरण ज्ञान की सिद्धि के लिए दिये जाते हैं।

सर्वज्ञता का इतिहास–

प्राचीनकाल में भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार सर्वज्ञता का सम्बन्ध भी मोक्ष के ही साथ था। मुमुक्षुओं में विचारणीय विषय तो यह था कि मोक्ष के मार्ग का किसने साक्षात्कार किया? यही मोक्षमार्ग धर्म शब्द से निर्दिष्ट होता है। अत: विवाद का विषय यह रहा कि धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं? एक पक्ष का, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमांसक हैं, कहना था कि धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओं को हम लोग प्रतयक्ष से नहीं जान सकते। धर्म के सम्बन्ध में वेद का ही अन्तिम और निर्वाध अधिकार है। धर्म की परिभाषा ''चोदनालक्षणोऽर्थ: धर्म:'' करके धर्म में वेद को ही प्रमाण कहा है। इस धर्मज्ञान में वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण उन्हें पुरुष में अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञान का अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुष में राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषों की शंका होने से अतीन्द्रियर्धर्माप्रतिपाकद वेद को पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना। इस अपौरुषेयत्व की मान्यता से ही पुरुष में सर्वज्ञता का अर्थात् प्रत्यक्ष से होनेवाली धर्मज्ञता का निषेध हुआ। आ. कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं[१५३] कि सर्वज्ञत्व के निषेध से हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्व के निषेध से है। यदि कोई पुरुष धर्म के सिवाय संसार के अन्य समस्त अर्थों को जानना चाहता है, तो भले ही जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं, पर धर्म का ज्ञान केवल देव के द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह धर्म को वेद के द्वारा तथा धर्मातिरिक्त शेष पदार्थों को यथासम्भव अनुमानादि प्रमाणों से जानकर यदि कोई पुरुष टोटल में सर्वज्ञ बनता है तब भी कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्ध का है। ये बुद्ध को धर्म– चतुरार्यसत्य का साक्षात्कारकर्ता मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्ध ने अपने भास्वर ज्ञान के द्वारा दु:ख, समुदय दु:ख के कारण, निरोध–निर्वाण, मार्ग–निर्वाण के उपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्म का प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अत: धर्म के विषय में धर्मद्रष्टा सुगत ही अन्तिम प्रमाण हैं। वे करुणाकरके कषायज्वाला से झुलसे हुए संसारी जीवों के उद्धार की भावना से उपदेश देते हैं। इस मत के समर्थक धर्मकीर्ति ने लिखा है[१५४]

---

153 धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुजयते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुष: केन वार्यते।।
–तत्त्वसं. का ३१२८ (कुमारिल के नाम से उद्धृत)

154 'तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न: क्वोपयुज्यते।।३३।।

कि 'संसार के समस्त पदार्थों का कोई पुरुष साक्षात्कार करता है या नहीं, हम इस निरर्थक बात के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि उसने इष्ट तत्त्व–धर्म को जाना है कि नहीं? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी दुनियाँ भर के कीड़े–मकोड़े आदि की संख्या के परिज्ञान का भला मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञता का सिद्धान्त: विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता का सिद्धान्तत: विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता के समर्थकों से कहते हैं कि मीमांसकों के सामने सर्वज्ञता– त्रिकाल–त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान– पर जोर क्यों देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञता में है कि धर्म के विषय में धर्म के साक्षत्कर्ता को प्रमाण माना जाय या वेद को? उस धर्ममार्ग के साक्षात्कार के लिए धर्मकीर्ति ने आत्मा (ज्ञानप्रवाह) से दोषों का अत्यन्तोच्छेद माना और नैरात्म्यभावना आदि उसके साधन बताये।

तात्पर्य यह कि जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही अव्याहत अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म– मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का जोरों से समर्थन किया है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने[१५५] सुगत को धर्मा के साथ ही साथ सर्वज्ञ त्रिकालवर्ती यावत्पदार्थों का ज्ञाता– भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगत की तरह अन्य योगी भी सर्वा हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्था में रागादि निर्मुक्ति की तरह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है, वे चाहें तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। आ. शान्तरक्षित[१५६] भी इसी तरह धर्मज्ञतासाधन के साथ ही साथ सर्वाता सिद्ध करते हैं और सर्वज्ञता को वे शक्तिरूप से सभी वीतरागों में मानते हैं। कोई भी

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेतान् गृद्ध्रानुपास्महे।।३५।।
–प्रमाणवा. १।३३, ३५।

155 'ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसम्भव:।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चतम्।।
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते?
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यतनस्य प्रवर्तनात्।।
पुन: कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिरवारिता।।
–प्रमाणवार्तिकालं. पृ. ३२९।

156 'यद्यदिच्छति बोद्धुं का तत्तद्वेत्ति नियोगत:।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणी ह्यसौ।'
–तत्त्वसं. का. ३३२८।

वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तु का साक्षात्कार कर सकता है।

योगदर्शन और वैशेषिक दर्शन में यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति है, जो सभी वीतरागों के लिए अवश्य ही प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन[१५७] दार्शनिकों ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल–त्रिलोकवर्ती यावत्ज्ञेयों के प्रत्यक्षदर्शन के अर्थ में सर्वज्ञता मानी है औरउसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्क युग से पहले ''जे एगे जाणइ से सव्वे जाणइ''। (आचा. सू. १।२३)– जो एक आत्मा को जानता है वह सब पदार्थों को जानता है, इत्यादि वाक्य, जो सर्वज्ञता के मुख्य साधक नहीं हैं, पाये जाते हैं, पर तर्कयुग में इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के शुद्धोपयोगाधिकार ([१५८]गाथा १५८) में लिख है कि 'केवली भगवान् समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं' यह कथन व्यवहारनय से है; परन्तु निश्चय से वे अपने आत्मस्वरूप कों ही देखते और जानते हैं। इससे जानते हैं, नैश्चयिक नहीं। व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ परमार्थ स्वीकार करने की मान्यता से सर्वज्ञता का पर्यवसान अन्तत: आत्मज्ञता में ही होता है। यद्यपि उन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य के अन्य ग्रनीों में सर्वज्ञता के व्यावहारिक अर्थ का भी वर्णन और समर्थन देखा जाता है, पर उनकी निश्चयदृष्टि आतमज्ञता की सीमा को नहीं लाँघती।

इन्हीं आ. कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार[१५९] में सर्वप्रथम केवलज्ञान को त्रिकालवर्ती समस्त अर्थो का जाननेवाला लिखकर आगे लिखा है कि जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह सबको कैसे जानता है? और जो सबको नहीं जानता वह अनन्तपर्यायवाले एक

---

157 'सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी..... सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्म समं जाणादि पस्सदि विहरदित्ति।' षट्खं. पयडि. सू. ७८।
'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वनू सव्वभावदरिसी ''सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाहं जाणमाण`पासमाणे एवं च णं विहरइ।' –आचा. २।३ पृ. ४२५।

158 'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।'

159 'जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खइयं मणियं।।
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तसस ण सक्कं सवजजयगं दव्वमेगं वा।
दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणादि जदि जुगवं कथं सो सव्वाणि जाणादि।।'
–प्रवचनसार १।४७–४९।

द्रव्य को पूरी तरह कैसे जान सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य घटज्ञान के द्वारा घट को जानने की शक्ति रखनेवाले घटज्ञान का यथावत् स्वरूप परिच्छेद करता है वह घट को तो अर्थात् ही जान लेता है; क्योंकि उस शक्ति का यथावत् विश्लेषण पूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आत्मा में अनन्तज्ञेयों के जानने की शक्ति है। अत: जो संसार के अनन्तज्ञेयों को जानता है वह अनन्तज्ञेयों के जानने की शक्ति रखनेवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा को जान ही लेता है और जो अनन्तज्ञेयों के जानने की शक्ति वाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा को यथावत् विश्लेषण करके जानता है वह उन शक्तियों के उपयोगस्थानभूत अनन्तपदार्थों को भी जान ही लेता है; क्योंकि अनन्तज्ञेय तो उस ज्ञान के विशेषण का ज्ञान होने पर विशेषण का ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बवाले दर्पण को जानता है वह घट को भी जानता है और जो घट को जानता है वही दर्पण में आये हुए घट के प्रतिबिम्ब का वास्तविक विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। 'जो एक को जानता है वह सब को जानता है' इसका यही रहस्य है।

समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षत्व[१६०] अनुमेयत्व हेतु से सिद्ध किया है। बौद्धों की तरह किसी भी जैनग्रन्थों में धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विभाजन कर उनमें गौण–मुख्यभाव नहीं बताया है। सभी जैन तार्किकों ने एक स्वर से त्रिकाल–त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के पूर्ण परिज्ञान के अर्थ में सर्वज्ञता का समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण सर्वज्ञता के गर्भ में ही निहित मान ली गई है। [१६१]अकलंकदेव ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थाओं में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने में क्या बाधा है? यदि[१६२] अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके, तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यत दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यर्थाथ देखा जाता है। अत: यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थदर्शन के बिना नहीं हो सकता। जैसे

---

160 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्था: प्रत्यक्षा: कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति:।।'
–आप्तमी. श्लो. ५।

161 देखो, न्यायवि. श्लो. ४६५।

162 'धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुत: पुन:।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवाद: श्रुताच्चेतसाधनान्तरम्।।'
–सिद्धिवि. टी. लि. पृ. ४१३। न्यायवि. श्लोक ४१४।

सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वा का ज्ञान भी भावी पदार्थों में संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्नविद्या या ईक्षणिकादिविद्या[१६३] अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है; उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने जयधवला टीका में केवलज्ञान की सिद्धि के लिए एक नवीन ही युक्ति दी है। वे लिखते हैं कि केवलज्ञान ही आत्मा का स्वभाव है। यही केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्म से आवृत होता है और आवरण के क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान आदि के रूप में प्रकट होता है। तो जब हम मतिज्ञान आदि का स्वसंवेदन करते हैं तब उस रूप से अंशी केवलज्ञान का भी अंशत: स्वसंवेदन हो जाता है। जैसे पर्वत के एक अंश को देखने पर भी पूर्ण पर्वत का व्यवहारत: प्रत्यक्ष माना जाता है उसी तरह मतिज्ञानादि अवयवों को देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान यानी ज्ञानसामान्य का प्रत्यक्ष भी स्वसंवेदन से हो जाता है। यहाँ आचार्य ने केवलज्ञान को ज्ञानसामान्यरूप माना है और उसकी सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से की है।

अकलंकदेव ने अनेक साधक प्रमाणों को बताकर जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतु का प्रयोग किया है वह है[१६४]– 'सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् बाधक प्रमाणों की असम्भवता का पूर्ण निश्चय होना। किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए यही 'बाधकाऽभाव' स्वयं एक बलवान् साधक प्रमाण हो सकता है। जैसे 'मै सुखी हूँ' यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अत: उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहए।

इस हेतु के समर्थन में उन्होंने प्रतिवादियों के द्वारा कल्पित बाधाओं का निराकरण इसप्रकार किया है–

प्रश्न– अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वे वक्ता हैं और पुरुष हैं। जैसे कोई गली में घूमनेवाला आवारा आदमी।

उत्तर– वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है। वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। यदि ज्ञान के विकास में वचनों को

---

163 देखो, न्यायविनिश्चय श्लोक ४०७।

164 ''अस्ति सर्वज्ञ: सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वातृ मुखादिवत्।''
–सिद्धिवि. टी. लि., पृ. ४२१

ह्रास देखा जाता तो उसके अत्यन्त विकास में वचनों का अत्यन्त ह्रास होता; पर देखा तो उससे उल्टा ही जाता है। ज्यों–ज्यों ज्ञान की वृद्धि है त्यों–त्यों वचनों में प्रकर्षता ही आती है।

प्रशन– वक्तृत्व का सम्बन्ध विवक्षा से है, अत: इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनों की सम्भावना कैसे है?

उत्तर– विवक्षा का वक्तृत्व से कोइ अविनाभाव नहीं है। मन्दबुद्धि शास्त्र को विवक्षा होने पर भी शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर पाता। सुषुप्त और मूर्च्छित आदि अवस्थाओं में विवक्षा न रहने पर भी वचनों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत: विवक्षा और वचनों में कोई अविनाभाव नहीं बैठाया जा सकता। चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही वचन प्रवृत्ति में कारण है और इनका सर्वज्ञत्व से कोई विरोध नहीं है। अथवा, वचनों में विवक्षा को कारण मान भी लिया जाय पर सत्य और हितकारक वचनों को उत्पन्न करनेवाली विवक्षा सदोष कैसे हो सकती है? फिर, तीर्थंकर के तो पूर्व पुण्यानुभाव से बँधी हुई तीर्थंकर प्रकृति के उदय से वचनों की प्रवृत्ति होती है। जगत् के कल्याण के लिए उनकी पुण्यदेशना होती है।

इसी तरह निर्दोष वीतराग पुरुषत्व का सर्वज्ञाता से कोई विरोध नहीं है। पुरुष भी हो जाय और सर्वज्ञ भी। यदि इस प्रकार के व्यभिचारी अर्थात् अविनाभावशून्य हेतुओं से साध्य की सिद्धि की जाती है; तो इन्हीं हेतुओं से जैमिनि में वेदज्ञानता का भी अभाव सिद्ध किया जा सकेगा।

प्रश्न– हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अत: अनुपलब्ध होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए?

उत्तर– पूर्वोक्त अनुमानों से जब सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब अनुपलब्ध कैसे कहा जा सकता है? यह अनुपलम्भ आपको है या सबको? 'हमारे चित्त में जो विचार है' उनका अनुपलम्भ आपको है, पर इससे हमारे चित्त के विचारों का अभाव तो नहीं हो जायगा। अत: स्वोपम्भ अनैकान्तिक है। दुनियाँ में हमारे द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थों का अस्तित्व है ही। 'सबको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानों को जाननेवाला सर्वज्ञ ही कह सकता है, असर्वज्ञ नहीं। अत: सर्वानुपम्भ असिद्ध ही है।

प्रश्न– ज्ञान में तारतम्य देखकर कहीं उसके अत्यन्त प्रकर्ष की सम्भावना करके जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जाता है उसमें प्रकर्षता की एक सीमा होती है। कोई ऊँचा कूँदनेवाला व्यक्ति अभ्यास से तो दस हाथ

ही ऊँचा कूँद सकता है, वह चिर अभ्यास के बाद भी एक मील ऊँचा तो नहीं कूँद सकता?

उत्तर– कूँदने का सम्बन्ध शरीर की शक्ति से है, अत: उसका जितना प्रकर्ष सम्भव है, उतना ही होगा; परन्तु ज्ञान की शक्ति तो अनन्त है। वह ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण अपने पूर्णरूप में विकसित नहीं हो पा रही है। ध्यानादि साधनाओं से उस आगन्तुक आवरण का जैसे–जैसे क्षय किया जाता है वैसे–वैसे ज्ञान की स्वरूप ज्योति उसी तरह प्रकाशमान होने लगती हैं जैसा कि मेघो के हटने पर सूर्य का प्रकाश। अपने अनन्तशक्तिवाले ज्ञान गुण के विकास की परमप्रकर्ष अवस्था ही सर्वज्ञता है। आत्मा के गुण जो कर्मवासनाओं से आवृत हैं, वे सम्यग्दर्शन, सम्यगान और सम्यक्चारित्ररूप साधनाओं से प्रकट होते हैं। जैसे कि किसी इष्टजन की भावना करने से उसका साक्षात् स्पष्ट दर्शन होता है।

प्रश्न– यदि सर्वज्ञ ज्ञान में अनादि और अनन्त झलेकते हैं तो उनकी अनादिता और अनन्तता नहीं र सकती?

उत्तर– जो पदार्थ जैसे हैं वे वैसे ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। यदि आकाश की क्षेत्रकृत और काल की समयकृत अनन्तता है तो वह उसी रूप में ज्ञान का विषय होती है। यदि द्रव्य अनन्त हैं तो वे भी उसी रूप में ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। मौलिक द्रव्य का द्रव्यत्व नहीं किया जा सकता और न अन्य रूप में प्रतिभासित होते हैं। मौलिक द्रव्य का द्रव्यत्व यही है जो वह अनादि और अनन्त हो। उसके इस निज स्वभाव को अन्यथा नहीं किया जा सकता और न अन्य रूप में वह केवल ज्ञान का विषय ही होता है। अत: जगत् के स्वरूपभूत अनादि अनन्तत्व का उसी रूप में ज्ञान होता है।

प्रश्न– आगम में कहे गये साधनों का अनुष्ठान करके सर्वज्ञता प्राप्त होती है और सर्वज्ञ के द्वारा आगम कहा जाता है, अत: दोनों परस्पराश्रित होने से असद्धि है?

उत्तर– सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से उत्पन्न होता है और पूर्वसर्वज्ञ का ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से। इस तरह पूर्व–पूर्व सर्वज्ञ और आगमों की श्रृंखला बीजांकुर सन्तति में अन्योन्याश्रय दोष का विचार नहीं नहीं होता। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आगम सर्वज्ञ के बिना हो सकता है? और पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं? दोनों उत्तर यह है कि पुरुष अपना

विकास करके सर्वज्ञ बन सकता है, और उसी के गुणों से वचनों में प्रमाणता आकर वे वचन आगम नाम पाते हैं।

प्रश्न— जब आजकल प्राय: पुरुष रागी, द्वेषी और अज्ञानी ही देखे जाते हैं तब अतीत या भविष्य में कभी किसी पूर्ण वीतरागी या सर्वज्ञ की सम्भावना कैसे की जा सकती है? क्योंकि पुरुष की शक्तियों की सीमा का उल्लंघन नहीं हो सकता?

उत्तर — यदि हम पुरुषातिशय को नहीं जान सकते, तो इससे उसका अभाव नहीं किया जा सकता। अन्यथा आजकल कोई वेद का पूर्ण ज्ञानकार नहीं देखा जाता, तो अतीतकाल में 'जैमिनि को भी वेदज्ञान नहीं था', यह प्रसंग प्राप्त होगा। हमें तो यह विचार है कि आत्मा के पूर्णज्ञान का विकास हो सकता है या नहीं? और जब आत्मा का स्वरूप अनन्तज्ञानमय है तब उसके विकास में क्या बाधा है जो आवरण की बाधा है, वह साधना से उसी तरह हट सकती है, जैसे अग्नि में तपाने से सोने का मैल।

प्रश्न— सर्वज्ञ जब रागी आत्मा के राग का या दु:ख का साक्षात्कार करता है तब वह स्वयं रागी और दु:खी हो जायगा?

उत्तर— दु:ख या राग को जान लेने मात्र से कोई दु:खी या रागी नहीं होता। रागी तो, आत्मा जब स्वयं राग रूप से परिणमन करे, तभी होता है। क्या कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण मदिरा के रस का ज्ञान रखने मात्र से मद्यपायी कहा जा सकता है? राग के कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञ अत्यन्त उच्छिन्न हो गये हैं, वह पूर्ण वीतराग है, अत: पर के राग या दु:ख के जान लेने मात्र से उसमें राग या दु:खरूप परिणति नहीं हो सकती।

प्रश्न— सर्वज्ञ अशुचि पदार्थों को जानता है तो उसे उसके रसास्वादन का दोष लगाना चाहिए?

उत्तर— ज्ञान दूसरी वस्तु है और रस का आस्वादन दूसरी वस्तु है। आस्वादन रसना इन्द्रिय के द्वारा आनेवाला स्वाद है जो इन्द्रियातीत ज्ञानवाले सर्वज्ञ के होता ही नहीं है। उसका ज्ञान तो अतीन्द्रिय है। फिर जान लेने मात्र से रसास्वादन का दोष नहीं हो सकता; क्योंकि दोष तो तब लगता है जब स्वयं उसमें लिप्त हुआ जाय और तद्‌रूप परिणति की जाय, जो सर्वज्ञ वीतरागी में होती नहीं।

प्रश्न— सर्वज्ञ को धर्मी बनाकर दिये जानेवाले कोई भी हेतु यदि भावधर्म यानी भावात्मक सर्वज्ञ के धर्म हैं; तो असिद्ध हो जाते

हैं? यदि अभावात्मक सर्वज्ञ के धर्म हैं; तो विरुद्ध हो जाँएगे ओर यदि उभयात्मक सर्वज्ञ के धर्म हैं; तो अनैकान्तिक हो जाएँगे?

उत्तर– 'सर्वज्ञ' को धर्मी नहीं बनाते हैं, किन्तु धर्मी 'कश्चिदात्मा' 'कोई आत्मा' है, जो प्रसिद्ध है। 'किसी आत्मा में सर्वज्ञता होनी चाहिए, क्योंकि पूर्णज्ञान आत्मा का स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारण हट सकते हैं, इत्यादि अनुमानप्रयोगों में 'आत्मा' को ही धर्मी बनाया जाता है, अत: उक्त दोष नहीं आते।

प्रश्न– सर्वज्ञ के साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाण नहीं मिलते, अत: संशय हो जाना चाहिए?

उत्तर– सर्वा के साधक प्रमाण ऊपर बताये जा चुके हैं और बाधक प्रमाणों का निराकरण भी किया जा चुका है, अत: सन्देह की बात बेबुनियाद है। त्रिकाल और त्रिलोक में सर्वज्ञ का अभाव सर्वज्ञ बने बिना किया ही नहीं जा सकता। जब तक हम त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पुरुषों की असर्वज्ञ के रूप में जानकारी नहीं कर लेते तब तक संसार को सदा सर्वत्र सर्वज्ञ शून्य कैसे कह सकते हें? और यदि ऐसी जानकारी किसी को सम्भव है; तो वही व्यक्ति सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर के समय में स्वयं उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञ के रूप में थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते, हर हालत में ज्ञान–दर्शनवाला सर्वज्ञ कहते थे। पाली पिटकों में उनकी सर्वाता की परीक्षा के एक दो प्रकरण हैं, जिनमें सर्वज्ञता का एक प्रकार से उपहास ही किया है। [१६५]न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ में धर्मकीर्ति ने दृष्टान्ता भासों के उदाहरण में ऋषभ और वर्धमान की सर्वज्ञता का उल्लेख किया है। इस तरह प्रसिद्धि और युक्ति दोनों क्षेत्रों में बौद्ध ग्रन्थ वर्धमान की सर्वाता के एक तरह से विरोधी ही रहे हैं। इसका कारण यही मालूम होता है कि बुद्ध ने स्वयं अपने को केवल चार आर्यसत्यों को ज्ञाता ही बताया था और स्वयं अपने को सर्वज्ञ कहने से इनकार किया था। वे केवल अपने को धर्मज्ञ या मार्गज्ञ मानते थे और इसीलिए उन्होंने आत्मा, मरणोत्तर जीवन और लोक की सान्तता और अनन्तता आदि के प्रश्नों को अव्याकृतन कहने लायक कहा था। उन्होंने इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में मौन ही रखा, जबकि महावीर ने इन सभी प्रश्नों के उत्तर अनेकान्तदृष्टि से दिये और शिष्यों की जिज्ञासा का समाधान किया। तात्पर्य यह है कि बुद्ध केवल सिद्ध करने का जोरदार प्रयत्न नहीं

165 'य: सर्वज्ञ: आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयो:साध्यधर्मयो: सन्दिग्धो व्यतिरेक:।' –न्यायवि. ३।१३२।

देखा जाता, जबकि जैन ग्रन्थों में प्रारम्भ से ही इसका प्रबल समर्थन मिलता है। आत्मा को ज्ञानस्वभाव मानने के बाद निरावरण दशा में अनन्तज्ञान या सर्वज्ञता का प्रकट होना स्वाभाविक ही है। सर्वाता का व्यावहारिक रूप कुछ भी हो, पर ज्ञान की शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नहीं है।

परोक्ष प्रमाण—

आगमों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष[१६६] और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को मतिज्ञान का पर्याय कहा ही था[१६७], अत: आगम में सामान्यरूप से स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) और श्रुत (आगम) इन्हें परोक्ष मानने का स्पष्ट मार्ग निर्दिष्ट था ही, केवल मति (इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष) को परोक्ष मानने पर लोक विरोध का प्रसंग था, जिसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानकर हल कर लिया गया था। अकलंकदेव के इस सम्बन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं। वे राजवार्तिक में अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्ति के समय अनक्षरश्रुत और पर प्रतिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहते हैं। उनने लघीयस्त्रय (कारिका ६७) में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोध को मनोमति बताया है और [१६८]कारिका १० में मति, स्मृति आदि ज्ञानों को शब्दयोजना के पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्दयोजना होने पर उन्हीं ज्ञानों को श्रुत कहा है। इस तरह सामान्यरूप से मतिज्ञान को परोक्ष की सीमा में आने पर भी उसके एक अंश— मति को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहने की और शेषस्मृति आदिक ज्ञानों को परोक्ष कहने की भेदक रेखा क्या हो सकती है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका समाधान परोक्ष के लक्षण से ही हो जाता है। अविशद अर्थात् अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। विशदता का अर्थ है, ज्ञानान्तरनिरपेक्षता। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखता हो अर्थात् जिसमें ज्ञानान्तर का व्यवधान हो, वह ज्ञान अविशद है। पाँच इन्द्रिय और मन के व्यापार से उत्पन्न होनेवाले इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष चूँकि केवल इन्द्रिय व्यापार से उत्पन्न होते हैं, अन्य किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखते, इसलिए अंशत: विशद होने से प्रत्यक्ष हैं, जब कि स्मरण अपनी उत्पत्ति में पूर्वानुभव की, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान अपनी उत्पत्ति में स्मरण, प्रतयक्ष और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान अपनी उत्पत्ति में लिंगदर्शन और व्याप्ति स्मरण की तथा श्रुत अपनी

---

166 'आद्य परोक्षम्' —तत्र सूत्र १।१०

167 'तत्त्वार्थ सूत्र' ११३।

168 'ज्ञानमाद्यं मति: संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधकम्
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्।।१०।।'

उत्पत्ति में शब्दश्रवण और संकेतस्मरण की अपेक्षा रखते हैं, अत: ये सब ज्ञानान्तरसापेक्ष होने के कारण अविशद हैं और परोक्ष हैं।

यद्यपि ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्ति में पूर्व–पूर्व प्रतीति की अपेक्षा रखते हैं तथापि ये ज्ञान नवीन–नवीन इन्द्रियव्यापार से उत्पन्न होते हैं और एक ही पदार्थ की विशेष अवस्थाओं को विषय करनेवाले हैं, अत: किसी भिन्नविषय ज्ञान से व्यवहित नहीं होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है। एक ही ज्ञान दूसरे–दूसरे इन्द्रियव्यापारों से अवग्रह आदि अतिशयों को प्राप्त करता हुआ अनुभव में है; ज्ञानान्तर का अव्यवधान यहाँ सिद्ध हो जाता है।

परोक्षज्ञान पाँच प्रकार का होता है– स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। परोक्ष प्रमाण की इस तरह सुनिश्चित सीमा अकलंकदेव ने ही सर्वप्रथम बाँधी है और यह आगे के समस्त जैनाचार्यों द्वारा स्वीकृत रही।

चार्वाक के परोक्षप्रमाण न मानने की आलोचना–

चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न किसी अन्य परोक्ष प्रमाण की सत्ता नहीं मानता। प्रमाण का लक्षण अविसंवाद करके उसने यह बताया है कि इन्द्रिप्रत्यक्ष के सिवाय अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नहीं होते। अनुमानादि प्रमाण बहुत कुछ सम्भावना पर चलते हैं और ऐसा कहने का कारण यह है कि देश, काल और आकार के भेद से प्रत्येक पदार्थ की अनन्त शक्तियाँ होती हैं। उनमें अव्यभिचारी अविनाभाव का ढूँढ लेना अत्यन्त कठिन है। जो आँवले यहाँ कषायरसवाले देखे जाते हैं, वे देशान्तर और कालान्तर में द्रव्यान्तर का सम्बन्ध होने पर मीठे रसवाले भी हो सकते हैं। कहीं–कहीं धूम साँप की वामी से निकलता हुआ देखा जाता है। अत: अनुमान का शत–प्रतिशत अविसंवादी होना असम्भव बात है। यही बात स्मरणादि प्रमाणों के सम्बन्ध में ळे।

[१६९]परन्तु अनुमान प्रमाण के माने बिना प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेक भी नहीं किया जा सकता। अविसंवाद के आधार पर अमुक ज्ञानों में प्रमाणता की व्यवस्था करना और अमुक ज्ञानों को अविसंवाद के अभाव में अप्रमाण कहना अनुमान ही तो है। दूसरे की बुद्धि का ज्ञान अनुमान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष असम्भव है। वह तो व्यापार, वचनप्रयोग आदि कार्यों को देखकर ही अनुमति होती है। जिन कार्यकारणभावों या अविनाभावों का हम निर्णय न कर सकें अथवा जिनमें व्यभिचार देखा जाय उनसे

---

[169] प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते:।
प्रमाणान्तरसद्भाव: प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।।
–धर्मकीर्ति: (प्रमाणमी. पृ. ८)।

होनेवाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय, पर अव्यभिचारी कार्य–कारणभाव आदि के आधार से होनेवाला अनुमान अपनी सीमा में विसंवादी नहीं हो सकता। परलोक आदि के निषध के लिए भी चार्वाक को अनुमान की ही शरण लेनी पड़ती है। वामी से निकलनेवाली भाफ और अगिन से उत्पन्न होनेवाले धुआँ में विवेक नहीं कर सकना तो प्रमाता का अपराध है, अनुमान का नहीं। यदि सीमित क्षेत्र पदार्थों के सुनिश्चित कार्य–कारण भाव न बैठाये जा सकें, तो जगत् का समस्त व्यवहार ही नष्ध हो जायगा। यह ठीक है कि जो अनुमान आदि विसंवादी निकल जाँय उन्हें अनुमानाभास कहा जा सकता है, पर इससे निर्दुष्ट अविनाभाव के आधार से होनेवाला अनुमान कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यही तो प्रमाता की कुशलता पर निर्भर करता है कि वह पदार्थों के कितने और कैसे सूक्ष्म या स्थूल कार्य–कारणभाव को जानता है। आप्त के वाक्य की प्रमाणता हमें व्यवहार के लिए मानना ही पड़ती है, अन्यथा समस्त सांसारिक व्यवहार छिन्न–विच्छिन्न हो जाएँगे। मनुष्य के ज्ञान की कोई सीमा नहीं है, अतः अपनी मर्यादा में परोक्षज्ञान भी अवसिंवादी होने से प्रमाण ही है। यह खुला रास्ता है कि जो ज्ञान जिस अंश में विसंवादी हों उन्हें उस अंश में प्रमाण माना जाय।

१. स्मरण–

[१७०]संस्कार का उद्बोध होने पर स्मरण उत्पन्न होता है। यह अतीतकालीन पदार्थ को विषय करता है और इसमें 'तत्' शब्द का उल्लेख अवश्य होताह`। यद्यपि स्मरण का विषयभूत पदार्थ समाने नहीं है, फिर भी वह हमारे पूर्व अनुभव का विषय तो था ही और उस अनुभव का दृढ़ संस्कार हमें सादृश्य आदि अनेक निमित्तों से उस पदार्थ को मन में झलका देता है। इस स्मरण की बदौलत ही जगत के समस्त लेन–देन आदि व्यवहार चल रहे हैं। व्याप्तिस्मरण के बिना अनुमान ओर संकेतस्मरण के बिना किसी प्रकार के शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता। गुरुशिष्यादि–सम्बन्ध, पिता–पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकार के प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन–व्यवहार स्मरण के ही आभारी हैं। संस्कृति, सभ्यता और इतिहास की परम्परा स्मरण के सूत्र से ही हम तक आयी है।

स्मृति को अप्रमाण कहने का मूल कारण उसका 'गृहीतग्राही होना' बताया जाता है। उसकी अनुभवपरतन्त्रता प्रमाणव्यवहार में बाधक बनती है। अनुभव जिस पदाथ्र को जिस रूप में जानता है, स्मृति उससे

---

[170] 'संस्कारोद्‌बोधनियन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।' –परीक्षामुख ३।३।

अधिक को नहीं जानती और न उसके किसी नये अंश का ही बोध करती है। वह पूर्वानुभव की मर्यादा में ही सीमित है, बल्कि कभी–कभी तो अनुभव से कम की ही स्मृति होती है।

वैदिक परम्परा में स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने का एक ही कारण है कि मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ पुरुषविशेष के द्वारा रची गई हैं। यदि एक भी जगह उनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है, तो वेद की अपौरुषेयता और उसका धर्मविषयक निर्बाध अन्तिम प्रामाण्य समाप्त हो जाता है। अत: स्मृतियाँ वहीं तक प्रमाण हैं जहाँ तक वे श्रुति का अनुगमन करती हैं, यानी श्रुति स्वत: प्रमाण है और स्मृतियों में प्रमाणता की छाया श्रुतिमूलक होने से ही पड़ रही है। इस तरह जब एक बार स्मृतियों में श्रुतिपरतन्त्रता के कारण स्त: प्रमाण्य निषिद्ध हुआ, तब अन्य व्यावहारिक स्मृतियों में उस परतन्त्रता की छाप अनुभवाधीन होने के कारण बराबर चालू रही और यह अवस्था हुई कि जो स्मृतियाँ पूर्वानुभव का अनुगमन करती हैं वे ही प्रमाण हैं, अनुभव की प्रमाणता के बल पर ही अविसंवादिनी सिद्ध हो पाती हैं; अपने बल पर नहीं।

भट्ट जयन्त[१७१] ने स्मृति की अप्रमाणता का कारण गृहीत–ग्राहित्व न बताकर उसका 'अर्थ से उत्पन्न न होना' बताया है; परन्तु जब अर्थ की ज्ञान मात्र के प्रति कारणता ही सिद्ध नहीं है, तब अर्थजन्यत्व को प्रमाणता का आधार नहीं बनाया जा सकता प्रमाणता का आधार तो अविसंवादी ही हो सकता है। गृहीतग्राही भी ज्ञान यदि अपने विषय में अविसंवाद ही हो सकता है। गृहीतग्राही भी ज्ञान यदि अपने विषय में अविसंवादी है तो उसकी प्रमाणता सुरक्षित है। यदि अर्थ जन्यत्व के अभाव में स्मृति अप्रमाण होती है तो अतीत ओर अनागत को विषय करनेवाले अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। जैनों के सिवाय अन्य किसी भी वादी ने स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। जब कि जगत् के समस्त व्यवहार स्मृति की प्रमाणता और अविसंवाद पर ही चल रहे हैं तब वे उसे प्रमाण कहने का साहस तो नहीं कर सकते, पर प्रमा का व्यवहार स्मृति–भिन्न ज्ञान में करना चाहते हैं। धारणा नामक अनुभव पदार्थ को 'इदम्' रूप से जानता है, जबकि संस्कार से होनेवाली स्मृति उसी पदार्थ को 'तत्' रूप से जानती है। अत: उसे एकान्त रूप से गृहीतग्राहिणी भी नहीं कह सकते हैं। प्रमाणता के दो ही आधार हैं– अविसंवादी होना तथा समारोप का व्यवच्छेद करना। स्मृति की अविसंवादिता स्वत: सिद्ध है, अन्यथा अनुमान की प्रवृत्ति, शब्दव्यवहार और जगतृ के समस्त व्यवहार निर्मूल

---

171 'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
किन्त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रमाण्यकारणम्।।' –न्यायमं., पृ. २३।

हो जाएँगे। हाँ, जिस–जिस स्मृति में विसंवाद हो उसे अप्रमाण या स्मृत्याभास कहने का मार्ग खुला हुआ है। विस्मरण, संशय और विपर्यासरूपी समारोप का निराकरण स्मृति के द्वारा होता ही है। अत: इस अविसंवादी ज्ञान को परोक्षरूप से प्रमाणता देनी ही होगी। अनुभवपरतन्त्र होने के कारण वह परोक्ष तो कही जा सकती है, पर अप्रमाण नहीं; क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणता का आधार अनुभवस्वातन्त्र्य नहीं है। अनुभूत अर्थ को विषय करने के कारण भी उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनुभूत अग्नि को विषय करनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अत: स्मृति प्रमाण है; क्योंकि वह स्वविषय में अविसंवादिनी है।

२. प्रत्यभिज्ञान–

वर्तमान प्रत्यक्ष और अतीत स्मरण से उत्पन्न होनेवाला संकलनज्ञान प्रत्यभिज्ञान[१७२] कहलाता है। यह संकलन एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी आपेक्षिक आदि अनेक प्रकार का होता है। वर्तमान का प्रत्यक्ष करके उसी के अतीत का स्मरण होने पर 'यह वही है' इसप्रकार का जो मानसिक एकत्वसंकलन होता है, वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। इसी तरह 'गाय सरीखा गवय होता है' इस वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति वन में जाता है और सामने गाय सरीखे पशुओं को देखकर उस वाक्य का स्मरण करता है और फिर मन में निश्चय करता है कि यह गवय है। इसप्रकार का सादृश्यविषयक संकलन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। 'गाय से विलक्षण भैंस होती है' इसप्रकार के वाक्य को सुनकर जिस बाड़े में गाय और भैंस दोनों मौजूद हैं, वहाँ जानेवाला मनुष्य गाय से विलक्षण पशु को देखकर उक्त वाक्य को स्मरण करता है और निश्चय करता है कि यह भैंस है। यह वैलक्षण्यविषयक संकलन वैसदृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार अपने समीपवर्ती मकान के प्रत्यक्ष के बाद दूरवर्ती पर्वत को देखने पर पूर्व का स्मरण करके जो 'यह इससे दूर है' इस प्रकार आपेक्षिक ज्ञान होता है वह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है। 'शाखाकदवाला वृक्ष होता है', वे सब भी प्रत्यभिज्ञान ही हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन और स्मरण को निमित्त बनाकर जितने भी एकत्वादि विषयक मानसिक संकलन होते हैं, वे सभी प्रत्यभिज्ञान हैं। ये सब अपने विषय में अविसंवादी और समारोप के व्यवच्छेद होने से प्रमाण हैं।

स: और अयम् को दो ज्ञान माननेवाले बौद्ध खण्डन–

---

172 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।' –परीक्षामुख ३।५।

[173]बौद्ध पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। उनके मत में वास्तविक एकत्व नहीं है। 'अत: स एवायम्' 'यह वही है' इसप्रकार की प्रतीति को वे भ्रान्त ही मानते हैं, और इस एकत्व–प्रतीति का कारण सदृश अपरापर के उत्पाद को कहते हैं। वे 'स एवायम्' में 'स:' अंश को स्मरण और 'अयम्' अंश को प्रत्यक्ष इस तरह दो स्वतन्त्र ज्ञान मानकर प्रत्यभिज्ञान के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करना चाहते; किन्तु यह बात जब निश्चित है कि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान को विषय करता है और स्मरण केवल अतीत को; तब इन दोनों सीमित और नियत विषयवाले ज्ञानों के द्वारा अतीत और वर्तमान दो पर्यायों में रहनेवाला एकत्व कैसे जाना जा सकता है? 'यह वही है' इसप्रकार के एकत्व का अपलाप करने पर बद्ध को ही मोक्ष, हत्यारे को ही सजा, कर्ज देनेवाले को ही उसकी दी हुई रकम की वसूली आदि सभी जगत् के व्यवहार उच्छिन्न हो जाँएगे। प्रत्यक्ष और स्मरण के बाद होनेवाले 'यह वही हैं' इस ज्ञान को यदि विकल्प कोटि में डाला जाता है तो उसे ही प्रत्यभिमान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए; किन्तु यह विकल्प अवसिंवादी होने से स्वतन्त्र प्रमाण होगा। प्रत्यभिज्ञान का लोप करने पर अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति ने पहले अग्नि और धूम के कार्यकारणभाव का ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्वधूम के सदृश अन्य धुआँ को देखता है, तभी गृहीत कार्यकारणभाव का स्मरण होने पर अनुमान कर पाता है। यहाँ एकत्व और सादृश्य दोनों प्रत्यभिज्ञानों की आवश्यकता है, क्योंकि भिनन व्यक्ति को विलक्षण पदार्थ के देखने पर अनुमान नहीं हो सकता।

बौद्ध जिस एकत्व प्रतीति के निराकरण के लिए अनुमान करते हैं और जिस एकात्मा की प्रतीति के हटाने को नैरात्म्यभावना भाते हैं, यदि उस प्रतीति का अस्तित्व ही नहीं है, तो क्षणिकत्व का अनुमान किस लिए किया जाता है? और नैरात्म्य भावना का उपयोग ही क्या है? 'जिस पदार्थ को देखा है, उसी पदार्थ को मैं प्राप्त कर रहा हूँ' इसप्रकार के एकत्वरूप अविसंवाद के बिना प्रत्यक्ष में प्रमाणता का समर्थन कैसे किया जा सकता है? यदि आत्मैकत्व की प्रतीति होती ही नहीं है, तो तन्निमित्तक रागादिरूप संस्कार कहाँ से उत्पन्न होगा? कटकर फिर ऊँगे हुए नख और केशों में 'ये वही नख केशादि है' इसप्रकार की एकत्वप्रतीति सादृश्यमूलक होने से भले ही भ्रान्त हो, परन्तु 'यह वही घड़ा है' इत्यादि द्रव्यमूलक एकत्व प्रतीति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता।

---

173 '.......तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतत्।'
–प्रमाणवार्तिकाल., पृ ५१
'स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते, अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी। अनयोश्च भेदो न कथञ्चिद भेद:........'
प्रमाणवा. स्वबृ. टी. पृ ७८।

प्रत्यभिज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव–

मीमांसक[१७४] एकत्वप्रतीति की सत्ता मानकर भी उसे इन्द्रियों के साथ अन्वयव्यतिरेक रखने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत करते हैं। उनका कहना है कि स्मरण के बाद या स्मरण के पहले, जो भी ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह सब प्रत्यक्ष है। स्मृति अतीत अस्तित्व को जानती है, प्रत्यक्ष वर्तमान अस्तित्व को और स्मृतिसहकृत प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओं में रहनेवाले एकत्व को जानता है। किन्तु जब यह निश्चित है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ सम्बद्ध ओर वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती हैं, तब स्मृति को सहायता लेकर भी वे अपने अविषय में प्रवृत्ति कैसे कर सकती हैं? पूर्व और वर्तमान दशा में रहनेवाला एकत्व इन्द्रियों का अविषय है, अन्यथा गन्धस्मरण की सहायता से चक्षु को गन्ध भी सूँघ लेनी चाहिए। 'सैकड़ों सहकारी मिलने पर भी अविषय प्रवृत्ति नहीं हो सकती' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यदि इन्द्रियों से ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रथम प्रत्यक्ष काल में ही उसे उत्पन्न होना चाहिए था। फिर इन्द्रियाँ अपने व्यापार में स्मृति की अपेक्षा भी नहीं रखतीं।

नैयायिक[१७५] भी मीमांसकों की तरह 'स एवाऽयम्' इस प्रतीति को एक ज्ञान मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य ही कहते हैं और युक्ति भी वही देते हैं; किन्तु जब इन्द्रिप्रत्यक्ष अवचारक है तब स्मरण की सहायता लेकर भी वह कैसे 'यह वही है, यह उसके समान है' इत्यादि विचार कर सकता है? जयन्त[१७६] भट्ट ने इसीलिए यह कल्पना की है कि स्मरण और प्रत्यक्ष के बाद एक स्वतन्त्र मानसज्ञान उत्पन्न होता है, जो एकत्वादि का संकलन करता है। यह उचित है; परन्तु इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही होगा। जैन इसी मानस संकलन को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह अबाधित है, अविसंवादी है और समारोप का व्यवच्छेदक है, अतएव प्रमाण है। जो प्रत्यभिज्ञान बाधित तथा विसंवादी हो, उसे प्रमाणाभास या अप्रमाण कहने का मार्ग खुला हुआ है।

उपमान सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है–

मीमांसक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान नाम का स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका कहना[१७७] है कि जिस पुरुष ने गौ को देखा है,

---

174 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं चापि यत्समृतेः।
विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्।।'
–मी. श्लो सू. ४, श्लो. २२७।

175 देखो, न्यायावा., ता. टी., पृ. १३९।

176 न्यायमञ्जरी, पृ. ४६१। 'प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।

177 'प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।

वह जब जंगल में गवय को देखता है और उसे जब पूर्वदृष्ट गौ का स्मरण आता है, तब 'इसके समान है' इसप्रकार का उपमान ज्ञान पैदा होता है। यद्यपि गवयनिष्ठ प्रत्यक्ष का विषय हो रहा है, और गौनिष्ठ सादृश्य का स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके समान वह है' इसप्रकार विशिष्ट ज्ञान करने के लिए स्वतन्त्र उपमान नामक प्रमाण की आवश्यकता है; परन्तु यदि इस प्रकार से साधारण विषयभेद के कारण प्रमाणों की संख्या बढ़ाई जाती है, तो 'गौसे विलक्षण भैंस है' इस वैलक्षण्य विषयक प्रत्यभिज्ञान को तथा 'यह इससे दूर है, यह इससे पास है, यह इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है' इत्यादि आपेक्षिक ज्ञानां को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा। वैलक्षण्य को सादृश्य को भी वैलक्षण्यभावरूप होने का तथा अभावप्रमाण के विषय होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अत: एकत्व, सादृश्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि सभी संकलन ज्ञानों को एक प्रत्यभिज्ञान की सीमा में ही रखना चाहिए।

नैयायिक का उपमान भी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है—

इसी तरह नैयायिक[१७८] 'गौ की तरह गवय होता है' इस उपमान वाक्य को सुनकर जंगल में गवय को देखनेवाले पुरुष को होनेवाली 'यह गवय शब्द का वाच्य है' इसप्रकार संज्ञा—संज्ञीसम्बन्धप्रतिपत्ति को पृथक्—पृथक प्रमाण मानना होगा।[१७९] अत: इन सब विभिन्नविषय संकलन ज्ञानों को एक प्रत्यभिज्ञान रूप से प्रमाण मानने में ही लाघव और व्यवहार्यता है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान को अनुमान रूप से प्रमाण कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुमान करते समय लिंग का सादृश्य अपेक्षित होता है। उस सादृश्यज्ञान को भी अनुमान मानने पर उस अनुमान के लिंगसादृश्य ज्ञान को भी फिर अनुमानत्व की कल्पना होने पर अनवस्था नाम का दूषण आ जाता है। यदि अर्थ में सादृश्यव्यवहार को सदृशाकारमूलक माना जाता है, तो सदृशाकारों में सदृशव्यवहार केसे होगा? अन्यतद्गतसदृशाकार से सदृश्यवहार की कल्पना करने पर अनवस्था नामक दूषण आता है। अत: सादृश्यप्रत्यभिज्ञान को अनुमान नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान विशद होता है और वर्तमान अर्थ को विषय करनेवाला होता है। 'स एवाऽयम्' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान चूँकि अतीत का

विशिष्टस्यान्यत: सिद्धेरुपमानप्रमाणता।।'
—मी. श्लो. उपमान. श्लो. ३८।

178 'प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।' —न्यायसू. १।१।६।

179 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यातसाध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात्संज्ञिप्रतिपादकम्।।' —लघी. श्लो. १९।

भी संकलन करते हैं, अतः वे न तो विशद हैं और न प्रत्यक्ष की सीमा में आने लायक ही। पर प्रमाण अवश्य हैं, क्योंकि अविसंवादी हैं और सम्यगान हैं।

३. तर्क—

व्याप्ति ज्ञान को तर्क[१८०] कहते हैं। साध्य और साधन के सार्वकालिक सार्वदैशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव अर्थात् साध्य के बिना साधन का न होना, साधन का साध्य के होने पर ही होना, अभाव में बिल्कुल नहीं होना, इस नियम को सर्वोपसंहार रूप से ग्रहण करना तर्क है, सर्वप्रथम व्यक्ति कार्य और कारण का प्रत्यक्ष करता है और अनेक बार प्रत्यक्ष होने पर वह उसके अन्वय सम्बन्ध की भूमिका की ओर झुकता है। फिर साध्य के अभाव में साधन का अभाव देखकर व्यतिरेक के निश्चय के द्वारा उस अन्वयज्ञान को निश्चयात्मकरूप देता है। जैसे किसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम रसोईघर में अग्नि देखी तथा अग्नि से उत्पन्न होता हुआ धुआँ भी देखा, फिर किसी तालाब में अग्नि के अभाव में, धुएँ का अभाव देखा, फिर रसोईघर में अग्नि से धुआँ निकलता हुआ देखकर वह निश्चय करता है कि अग्नि कारण है और धुआँ कार्य है। यह उपलम्भ–अनुपलम्भनिमित्तक सर्वोपसंहार करनेवाला विचार तर्क की मर्यादा में है। इसमें प्रत्यक्ष, स्मरण और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कारण होते हैं। इन सबकी पृष्ठभूमि पर 'जहाँ–जहाँ, जब–जब धूम होता है, वहाँ–वहाँ, तब–तब अग्नि अवश्य होती है', इसप्रकार का एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता हे, जिसे ऊह या तर्क कहते हैं। इसतर्क का क्षेत्र केवल प्रत्यक्ष के विषयभूत साध्य और साधन ही नहीं है, किन्तु अनुमान ओर आगम के विषयभूत साध्य और साधन ही नहीं हैं, किन्तु अनुमान और आगम के विषयभूत प्रमेयों में भी अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अविनाभाव का निश्चय करना तर्क का कार्य है। इसीलिए उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द से साध्य और साधना का सद्भावप्रत्यक्ष और अभावप्रत्यक्ष ही नहीं लिया जाता, किन्तु साध्य और साधना का दृढ़तर सद् भावनिश्चय और अभावनिश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्ष से हो या प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणों से।

अकलंकदेव ने प्रमाणसंग्रह[१८१] में प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होनेवाले सम्भावनाप्रत्यय को तर्क कहा है; किन्तु प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द से उन्हें उक्त अभिप्राय ही इष्ट है और सर्वप्रथम

---

180 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।' —परीक्षामुख ३।११।

181 'सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।' —प्रमाणसं. श्लो. १२।

जैनदार्शनिक परम्परा में तर्क के स्वरूप और विषय को स्थिर करने का श्रेय भी अकलंकदेव[१८२] हो ही है।

मीमांसक तर्क को एक विचारात्मक ज्ञानव्यापार मानते हैं और उसे लिए जैमिनिसूत्र और शबर भाष्य आदि में 'ऊह' शब्द का प्रयोग करते हैं[१८३]। पर उसे परिगणित प्रमाणसंख्या में शामिल न करने से यह स्पष्ट है कि तर्क (ऊह) स्वयं प्रमाण न होकर किसी प्रमाण का मात्र सहायक हो सकता है। जैन परम्परा में अवग्रह के बाद होनेवाले संशय का निराकरण करके उसके एक पक्ष की प्रबल सम्भावना करानेवाला ज्ञानव्यापार 'ईहा' कहा गया है। इस ईहा में अवाय जैसा पूर्ण निश्चय तो नहीं है, पर निश्चयोन्मुखता अवश्य है। इस ईहा के पर्यायरूप में ऊह और तर्क दोनों शब्दों का प्रयोग तत्त्वार्थभाष्य[१८४] में देखा जाता है, जो कि करीब–करीब नैयायिकों की परम्परा के समीप है।

न्यायदर्शन में तर्क को १६ पदार्थों में गिनाकर भी उसे प्रमाण नहीं कहा है। वह तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी है और प्रमाणों का अनुग्राहक है। जैसा कि न्यायाभाष्य[१८५] में स्पष्ट लिखा है कि तर्क न तो प्रमाणों में संगृहीत है न प्रमाणान्तर है; किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक है और तत्त्वज्ञान के लिए उसका उपयोग है। वह प्रमाण के विषय का विवेचन करता है और तत्त्वज्ञान की भूमिका तैयार कर देता है। [१८६]जयन्त भट्ट तो और स्पष्ट रूप से इसके सम्बन्ध में लिखते हैं कि सामान्यरूप से ज्ञात पदार्थ में उत्पन्न परस्पर विरोधी दो पक्षों में एक प्क्ष को शिथिल बनाकर दूसरे पक्ष की भवितव्यता को सकारण दिखाकर उस प्क्ष का निश्चय करनेवाले प्रमाण का अनुग्राहक होता है। तात्पर्य यह कि न्याय परम्परा में तर्क प्रमाणों में संगृहीत न होकर भी अप्रमाण नहीं है। उसका उपयोग व्याप्तिनिर्णय में होनेवाली व्यभिचारशंकाओं को हटाकर उसके मार्ग को निष्कंटक कर देना है। वह व्याप्तिज्ञान में बाधक और अप्रयोजकत्वशंका को भी हटाता है। इस तरह तर्क के उपयोग और कार्यक्षेत्र में प्राय: किसी को विवाद नहीं है, पर उसे प्रमाणपद देने में न्याय परम्परा को संकोच है।

---

182 लघीय. स्ववृत्ति का १०, ११।

183 देखो, शाबरभा. ९।१।१।

184 'ईहा ऊहा तर्क: परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।'
—तत्त्वार्थाधि भा. १।१५।

185 'तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते।' —न्यायभा. १।१।१।

186 'एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभास: तदितरपक्षशैथिल्यापाद ने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्य तानृ सुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क:।' —न्यायमं. पृ. ५८६।

बौद्ध[१८७] तर्करूप विकल्पज्ञान को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं; किन्तु चूँकि वह प्रत्यक्षपृष्ठीाावी है और प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ को विषय करनेवाला एक विकल्प है, अत: प्रमाण नहीं है। इस तरह वे इसे स्पष्ट रूप से अप्रमाण कहते हैं।

[१८८]अकलंकदेव ने अपने विषय में अविसंवादी होने के कारण इसे स्वयं प्रमाण माना है। जो स्वयं प्रमाण नहीं है। वह प्रमाणों का अनुग्रह कैसे कर सकता है? अप्रमाणसेन तो प्रमाण के विषय का विवेचन हो सकता है और न परिशोधन ही। जिस तर्क में विसंवाद देखा जाय उस तर्काभास को हम अप्रमाण कह सकते हैं, पर इतने मात्र से अविसंवादी तर्क को भी प्रमाण से बहिर्भूत नहीं रखा जा सकता। 'संसार में जितने भी धुआँ हैं वे सब अग्निजन्य हैं, अनग्निजन्य कभी नहीं हो सकते।' इतना लम्बा व्यापार न तो अविचारक इन्द्रियप्रत्यक्ष ही कर सकता है और न सुखादिसंवेदक मानसप्रत्यक्ष ही। इन्द्रियप्रत्यक्ष का क्षेत्र नियत और वर्तमान है। चूँकि मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्भूत नहीं हो सकता। अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण तो इसलिए नहीं हो सकता कि स्वयं अनुमान की उत्पत्ति ही व्याप्ति का ग्रहण तो इसलिए नहीं हो सकता कि स्वयं अनुमान की उत्पत्ति ही व्याप्ति के अधीन है। इसे सम्बन्धग्राही प्रत्यक्ष का फल कहकर भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक तो प्रत्यक्ष कार्य और कारणभूत वस्तु को ही जानता है, उनके कार्यकारणसम्बन्ध को नहीं। दूसरे, किसी ज्ञान का फल होना प्रमाणता में बाधक भी नहीं है। जिस तरह विशेषणज्ञान सन्निकर्ष का फल होकर भी विशेष्यज्ञानरूपी अन्य फल का जनक होने से प्रमाण है, उसी तरह तर्क भी अनुमानज्ञान का कारण होने से या हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि रूपी फल का जनक होने से प्रमाण माना जाना चाहिए। प्रत्येक ज्ञान अपने पूर्व ज्ञान का फल होकर भी उत्तरज्ञान की अपेक्षा प्रमाण हो सकता है। तर्क की प्रमाणता में सन्देह करने पर निस्सन्देह अनुमान कैसे उत्पन्न हो सकता है। तर्क की प्रमाणता में सन्देह करने पर निस्सन्देह अनुमान कैसे उत्पन्न हो सकेगा? जिस प्रकार अनुमान एक विकल्प होकर भी प्रमाण है, उसी तरह तर्क के भी विकल्पात्मक होने से प्रमाण होने में बाधा नहीं आनी चाहिए। जिस व्याप्तिज्ञान के बल पर सुदृढ़ अनुमान की इमारत खड़ी की जा रही है, उस व्याप्तिज्ञान को अप्रमाण कहना या प्रमाण से बहिर्भूत रखना बुद्धिमानी की बात नहीं है।

---

187 'देशकालव्यक्तिव्याप्ता च व्याप्तिरुच्यते, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च। विकल्पो न प्रमाणं प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसाविष्यते।' —प्र. वा. मनोरथ., पृ. ७।

188 लघी. स्व. श्लो. ११, १२।

योगिप्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्तिग्रहण करने की बात तो इसलिए निरर्थक है कि जो योगी है, उसे व्याप्तिग्रहण करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। वह तो प्रत्यक्ष से ही समस्त साध्य–साधन पदार्थों को जान लेता है। फिर योगिप्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक होने से अविचारक है। अतः हम सब अल्पज्ञानियों को अविशद पर अविसंवादी व्याप्ति ज्ञान करानेवाला तर्क प्रमाण ही है।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से अग्नित्वेन समस्त अग्नियों का और धूमत्वेन समस्त धूमों को ाान तो हो सकता है, पर वह ज्ञान सामने दिखनेवाले अग्नि और धूम की तरह स्पष्ट और प्रत्यक्ष नहीं है और केवल समस्त अग्नियों और समसत धूमों का ज्ञान कर लेना ही तो व्याप्तिाज्ञान नहीं है, किन्तु व्याप्तिज्ञान में 'धुआँ अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कभी नहीं होता' इस प्रकार का अविनाभावी कार्यकारणभाव गृहीत किया जाता है, जिसका ग्रहण प्रत्यक्ष से असम्भव है। अतः साध्य–साधनव्यक्तियों का प्रत्यक्ष या किसी भी प्रमाण से ज्ञान, स्मरण, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि सामग्री के बाद तो सर्वोपसंहारी व्यप्तिज्ञान होता है, वह अपने विषय में संवादक है और संशय, विपर्यय आदि समारोपों का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण है।

व्याप्ति का स्वरूप–

टविनाभावसम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यद्यपि सम्बन्ध द्वयनिष्ठ हाता है, पर वस्तुतः वह सम्बन्धियों की अवस्थाविशेष ही है। सम्बन्धियों को छोड़कर सम्बन्ध कोई पृथक् वस्तु नहीं है। उसका वर्णन या व्यवहार अवश्य दो के बिना नहीं हो सकता, पर स्वरूप प्रत्येक पदार्थ की पर्याय से भिन्न नहीं पाया जाता है। इसी तरह अविनाभाव या व्याप्ति उन–उन पदार्थों का स्वरूप ही है, जिनमें यह बतलाया जाता है। साध्य और साधनाभूत पदार्थों का वह धर्म व्याप्ति कहलाता है, जिसके ज्ञान और स्मरण से अनुमान की भूमिका तैयार होती है। 'साध्य के बिना साधन का न होना और साध्य के होने पर ही होना' ये दोनों धर्म एक प्रकार से साधनिष्ठ ही है। इसी तरह साधन के होने पर साध्य का होना ही' यह साध्य का धर्म है। साधने के होने पर साध्य का होना ही अन्वय कहलाता है और साध्य के अभाव में साधन का न होना ही व्यतिरेक कहलाता है। व्याप्ति या अविनाभाव इन दोनों रूप होता है। यद्यपि अविनाभाव (बिना–साध्य के अभाव मे, अ–नहीं, भाव–होना) का शब्दार्थ व्यतिरेकव्याप्ति तक ही सीमित लगता है, परन्तु साध्य के बिना नहीं होने का अर्थ है, साध्य के होने पर ही होना। यह अविनाभाव रूपादि गुणों की तरह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। किन्तु साध्य और साधनभूत पदार्थों के ज्ञान करने के बाद स्मरण,

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि की सहायता से जो एक मानस विकल्प होता है, वही इस अविनाभाव को ग्रहण करता है। इसी का नाम तर्क है।

४. अनुमान–

[१८९]साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। लिंगग्रहण और व्याप्तिस्मरण के अनु–पीछे होनेवाला, मान–ज्ञान अनुमान कहलाता है। यह ज्ञान अविशद होने से परोक्ष है, पर अपने विषय में अविसंवादी है और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपों का निराकरण करने के कारण प्रमाण है। साधन से साध्य का नियत ज्ञान अविनाभाव का स्मरण होता है, फिर जिस साधन से साध्य की व्याप्ति ग्रहण की है, उस साधन के साथ वर्तमान साधन का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किया जाता है; तब साध्य का अनुमान होता है। यह मानस ज्ञान है।

लिंगपरामर्श अनुमिति का कारण नहीं–

साध्य का ज्ञान ही साध्यसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति करने के कारण अनुमिति में कारण हो सकता है और वही अनुमान कहा जा सकता है, नैयायिक आदि के द्वारा माना गया लिंगपरामर्श नहीं; क्योंकि लिंगपरामर्श में व्याप्ति का स्मरण और पक्षधर्मताज्ञान होता है अर्थात् 'धूम साधन अग्नि साध्य से व्याप्त है और वह पर्वत में है' इतना ज्ञान होता है। यह ज्ञान केवल साधन–सम्बन्धी अज्ञान को हटाता है, साध्य के अज्ञान को नहीं। अत: यह अनुमान की सामग्री तो हो सकता है, स्वयं अनुमान नहीं। अनुमिति का अर्थ है अनुमेय–सम्बन्धी अज्ञान को हटाकर अनुमयार्थ का ज्ञान। सो इसमें साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है।

जिस प्रकार अज्ञात भी चक्षु अपनी योग्यता से रूपज्ञान उत्पन्न कर देती है उस प्रकार साधन अज्ञात रहकर साध्यज्ञान नहीं करा सकता किन्तु उसका साधनरूप से ज्ञान होना आवश्यक है। साधनरूप से ज्ञान का अर्थ है– साध्य के साथ उसके अविनाभाव का निश्चय! अनिश्चित साधन मात्र अपने स्वरूप या योग्यता से साध्यज्ञान नहीं करा सकता, अत: उसका अविनाभव निश्चित ही होना चाहिए। यह निश्चय अनुमिति के समय अपेक्षित होता है। अज्ञायमान धूम तो अग्नि का ज्ञान करा ही नहीं सकता, अन्यथा सुप्त और मूर्च्छित आदि को या जिनने आजतक धूम का ज्ञान ही नहीं किया है, उन्हें भी अग्निज्ञान हो जाना चाहिए।

---

189 ''साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं...'' –न्यायवि. श्लो. १६७।

अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नियन्त्रित नहीं—

[190]अविनाभाव ही अनुमान की मूल धुरा है। सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहते हैं। सहभावी रूप, रस आदि तथा वृक्ष और शिंशपा आदि व्याप्यव्यापकभूत पदार्थों में सहभावनियम होता है। नियत पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती कृत्तिकोदय और शकटोदय में तथा कार्यकारणभूत अग्नि और धूम आदि में क्रमभावनियम होता है। अविनाभाव को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) से ही नियन्त्रित नहीं कर सकते। जिनमें परस्पर तादात्म्य नहीं है ऐसे रूप से रस का अनुमान होता है तथा जिनमें परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है ऐसे रूप से रस का अनुमान होता है तथा जिनमें परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। ऐसे कृत्तिकोदय को देखकर एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटोदय का अनुमान किया जाता है। तात्पर्य यह कि जिनमें परस्पर तादात्म्य या तदृत्पत्ति सम्बन्ध नहीं भी है, उन पदार्थों में नियत पूर्वोत्तरभाव यानी क्रमभाव होने पर तथा नियत सहभाव होने पर अनुमान हो सकता है। अतः अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही सीमित नहीं है।

साधन—

जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन[191] कहते हैं। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति, व्याप्ति ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं और 'अन्यथानुपपत्तिरूप से निश्चित होना' यही एकमात्र साधन का लक्षण हो सकता है।

साध्य—

शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य[192] कहते हैं। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित होने के कारण सिद्ध करने के योग्य है, वह शक्य ह। वादी को इष्ट होने से अभिप्रेत है और संदेहादियुक्त होने के कारण असिद्ध है, वही वस्तु साध्य होती है। बौद्ध परम्परा में[193] भी ईप्सित और इष्ट, प्रत्यक्षादि अविरुद्ध और प्रत्यक्षादि

---

190 ''सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।'' —परीक्षामुख ३।१६।

191 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।' —न्यायावतार श्लो. २२।
'साधनं प्रकृताभावोऽनुपपन्नं' —प्रमाण सं., पृ. १०२।

192 'साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।' —न्यायवि. श्लो. १७२।

193 'स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति।' —न्याय वि., पृ. ७९।

अनिराकृत से विश्लेषण अभिप्रेत और शक्य के स्थान में प्रयुक्त हुए हैं। अप्रसिद्ध या असिद्ध विशेषण तो साध्य शब्द के अर्थ से ही फलित होता है। साध्य का अर्थ है– सिद्ध करने योग्य अर्थात् असिद्ध। सिद्ध पदार्थ का अनुमान व्यर्थ है। अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादिबाधित पदार्थ साध्य नहीं हो सकते। केवल सिसाधयिषित (जिसके सिद्ध करने की इच्छा है) अर्थ को भी साध्य नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रमवश अनिष्ट और बाधित पदार्थ भी सिसाधयिषा (साधने की इच्छा) के विषय बनाये जा सकते हैं, ऐसे पदार्थ साध्याभास हैं, साध्य नहीं। असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है और इष्ट विशेषण वादी की दृष्टि से।

[१९४]अनुमान प्रयोग के समय कहीं धर्म और कहीं धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। परन्तु व्याप्तिनिश्चयकाल में केवल धर्म ही साध्य होता है।

अनुमान के भेद–

इसके दो भेद हैं– एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान। स्वयं निश्चित साधन के द्वारा होनेवाले साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं और अविनाभावी साध्यसाधन के वचनों से श्रोता को उत्पन्न होनेवाला साध्यज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। यह परार्थानुमान उसी श्रोता को होता है, जिसने पहले व्याप्तिग्रहण कर ली है।[१९५] वचनों को परार्थानुमान तो इसलिए कह दिया जाता है कि वे वचन परबोधन को तैयार हुए वक्ता के ज्ञान के कार्य हैं और श्रोता के ज्ञान के कारण हैं, अत: कारण में कार्य का और कार्य में कारण का उपचार कर लिया जाता है। इसी उपचार से वचन भी परार्थानुमानरूप से व्यवहार में आते हैं। वस्तुत: परार्थानुमान ज्ञानरूप ही है। वक्ता का ज्ञान भी जब श्रोता को समझाने के उन्मुख होता है तो उस काल में वह परार्थानुमान हो जाता है।

स्वार्थानुमान के अंग–

अनुमान का यह स्वार्थ और परार्थ विभाग वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परम्पराओं में पाया जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष का भी स्वार्थ और परार्थरूप में विभाजन केवल आ. सिद्धसेन के न्यायावतार (श्लो. ११, १२) में ही है।

'न्यायमुखप्रकरणे तु स्वयं साध्यत्वेनेप्सित: पक्षोऽविरुद्धार्थोऽनिराकृत इति पाठात्। –प्रमाणवार्तिकालं., पृ. ५१०।

194 देखो, परीक्षामुख ३।२०–२७।

195 'तद्वचनमति तद्धेतुत्वात्।' –परीक्षामुख ३।५१।

स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं– धर्मी, साध्य और साधन। साधन गमक होने से, साध्य गम्य होने से और साधनभूत धर्मों का आधार होने से अंग है। विशेष आधार में साध्य की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। केवल साध्य धर्म का निश्चय तो व्याप्ति के ग्रहण के समय ही हो जाता है। इसके पक्ष और हेतु ये दो अंग भी माने जाते हैं। यहाँ 'पक्ष' शब्द साध्यधर्म और धर्मी का समुदाय विवक्षित है; क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मी को ही पक्ष कहते हैं। यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है और ज्ञान में ये सब विभाग नहीं किये जा सकते; फिर भी उसका शब्द से उल्लेख तो करना ही पड़ता है। जैसे कि घटप्रत्यक्ष का 'यह घड़ा है' इस शब्द के द्वारा उल्लेख होता है, उसी तरह 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से' इन शब्दों के द्वारा स्वार्थानुमान का प्रतिपादन होता है।

धर्मी का स्वरूप–

धर्मी[१९६] प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्ध कहीं प्रमाण से; कहीं विकल्प से और कहीं प्रमाण और विकल्प दोनों से होती है। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से जो धर्मी सिद्ध होता है, वह प्रमाणसिद्ध है, जैसे पर्वतादि। जिसकी प्रमाणता यह अप्रमाणता निश्चित न हो ऐसी प्रतीतिमात्र से जो धर्मी सिद्ध हो उसे विकल्पसिद्ध कहते हैं, जैसे 'सर्वज्ञ है, या खरविषाण नहीं हैं।' यहाँ अस्तित्व और नास्तित्व की सिद्धि के पहले सर्वज्ञ और खरविषाण को प्रमाणसिद्ध नहीं कह सकते। वे तो मात्र प्रतीति या विकल्प से ही सिद्ध होकर धर्मी बने हैं। इस[१९७] विकल्पसिद्ध धर्मी केवल सत्ता और असत्ता ही साध्य हो सकती है, क्योंकि जिनकी सत्ता और असत्ता में विवाद है, अर्थात् अभी तक जिनकी सत्ता या असत्ता प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकी है, वे ही धर्मी विकल्पसिद्ध होते हैं। प्रमाण और विकल्प दोनों से प्रसिद्ध धर्मी उभयसिद्धधर्मी कहलाता है, किन्तु भूत और भविष्यत तथा देशान्तरवर्ती शब्द विकल्प या प्रतीति से सिद्ध हैं और सम्पूर्ण शब्दमात्र को धर्मी बनया है, अत: यह उभयसिद्ध हे।

[१९८]प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में इच्छानुसार कोई भी धर्म साध्य बनाया जा सकता है। विकल्पसिद्ध धर्मी को प्रतीतिसिद्ध, बुद्धिसिद्ध और प्रत्ययसिद्ध भी कहते हैं।

परार्थानुमान–

---

196 'प्रसिद्धो धर्मी।' –परीक्षामुख ३।२२।

197 देखो, परीक्षामुख ३।२३।

198 परीक्षामुख ३।२५।

परोपदेश से होनेवाला साधन से साध्य का ज्ञान[199] परार्थानुमान है। जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से या धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता' इस वाक्य को सुनकर जिस श्रोता ने अग्नि और धूम की व्याप्ति ग्रहण की है, उसे व्याप्ति का स्मरण होने पर जो अग्निज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है। परोपदेशरूप वचनों को तो परार्थानुमान उपचार से ही कहते हैं, क्योंकि वचन अचेतन है, वे ज्ञानरूप मुख्य प्रमाण नहीं हो सकते।

परार्थानुमान के दो अवयव

इस परार्थानुमान के प्रयोजक वाक्य के दो अवयव होते हैं– एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु। धर्म और धर्मी के समुदायरूप पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते है, जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है।' साध्य से अविनाभाव रखनेवाले साधन के वचन को हेतु कहते हैं, जैसे 'धूमवाला होने से, या धूमवाला अन्यथा नहीं हो सकता'। हेतु के इन दो [200]प्रयोगों में कोई अन्तर नहीं है। पहला कथन विधिरूप से है और दूसरा निषेधरूप से। 'अग्नि के होने पर ही धूम होता है' इसका ही अर्थ है कि 'अग्नि के अभाव में नहीं होता।' दोनों प्रयोगों में अविनाभावी साधन का कथन है। अत: इनमें से किसी एक का ही प्रयोग करना चाहिए।

पक्ष और प्रतिज्ञा तथा साधन और हेतु में वाच्य और वाचक का भेद है। पक्ष और साधन वाच्य हैं तथा प्रतिज्ञा और हेतु उनके वाचक शब्द व्युत्पन्न श्रोता को प्रतिज्ञान और हेतुरूप परोपदेश से परार्थानुमान उत्पन्न होता है।

अवयवों की अन्य मान्यताएँ–

परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव हैं। परार्थानुमान के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। नैयायिक[201] प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव मानते हैं। न्यायभाष्य में (१।१।३२) जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास इन पाँच अवयवों का और भी अतिरिक्त कथन मिलता है। दशवैकालिक निर्युक्ति (गा. १३७) में प्रकरणविभक्ति, हेतुविभक्ति आदि अन्य ही दस अवयवों का उल्लेख है। पाँच अवयव वाले वाक्य का प्रयोग इसप्रकार होता है– 'पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से,

---

199 'परार्थ तु तदर्थपरामर्शिव चनाज्जातम्।' –परीक्षामुख ३।५०।

200 'हेतोस्तथोपपत्त्या व स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति।।'
–न्यायावतार श्लो. १७।

201 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयबा:।' –न्यायसू. १।१।३२।

जो–जो धूमवाला है, इसलिए अग्निवाला है।' सांख्य उपनय और निगमन के प्रयोग को आवश्यक नहीं मानते।[२०२] मीमांसकों का भी यही अभिप्राय है। मीमांसकों की उपनय पर्यन्त चार अवयव मानने की परम्परा का उल्लेख भी जैनग्रन्थों में पूर्वपक्षरूप से मिलता है।[२०३] न्यायप्रवेश (पृ. १, २) में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन का अवयव रूप से उल्लेख मिलता है।

पक्षप्रयोग की आवश्यकता–

पक्ष के प्रयोग को धर्मकीर्ति ने असाधनांगवचन कहकर निग्रहस्थान में शामिल किया है।[२०४] इनका कहना है कि हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन रूप हैं। अनुमान के प्रयोग के लिए हमें हेतु के इस त्रैरूप्य का कथन करना ही पर्याप्त है और त्रिरूप हेतु ही साध्यसिद्धि के लिए आवश्यक है। 'जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे घड़ा, चूँकि सभी पदार्थ सत् हैं' यह हेतु का प्रयोग बौद्ध के मत से होता है। इसमें हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति दिखाकर पीछे उसकी पक्षधर्मता (पक्ष में रहना) बताई गई है। दूसरा प्रकार यह भी है कि 'सभी पदार्थ सत् हैं, जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे घड़ा' इसे प्रयोग में पहले पक्षधर्मत्व दिखाकर पीछे व्याप्ति दिखाई गई है। तात्पर्य यह कि बौद्ध अपने हेतु के प्रयोग में ही दृष्टान्त और उपनय को शामिल कर लेते हैं। वे हेतु, दृष्टान्त और उपनय इन तीन अवयवों को प्रकारान्तर से मान लेते हैं। [२०५]जहाँ वे केवल हेतु के प्रयोग की बात करते हैं वहाँ हेतु प्रयोग के पेट में दृष्टान्त और उपनय पड़े ही हुए हैं। पक्षप्रयोग और निगमन को वे किसी भी तरह नहीं मानते; क्योंकि पक्षप्रयोग निरर्थक है और निगमन पिष्टपेषण है।

जैन तार्किकों[२०६] का कहना है कि शिष्यों को समझाने के लिए शास्त्रपद्धति में आप योग्यताभेद से दो, तीन, चार और पाँच या इससे भी अधिक अवयव मान सकते हैं, पर वादकथा में, जहाँ विद्वानों का ही अधिकार है, प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव कार्यकारी हैं। प्रतिज्ञा का प्रयोग किये बिना साध्यधर्म के आधार में सन्देह बना रह सकता है। बिना प्रतिज्ञा के किसी की सिद्धि के लिए हेतु दिया जाता है? फिर पक्षधर्मत्वप्रदर्शन के द्वारा प्रतिज्ञा को मान करके भी बौद्ध का उससे इनकार करना अतिबुद्धिमत्ता है।

---

202 देखो, सांख्यका. माठर वृ., पृ. ५।

203 प्रमेयरत्नमाला ३।३७।

204 वादन्याय, पृ. ६१।

205 'विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः।' –प्रमाणवा. १–२८।

206 'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।' –परीक्षामुख ३–४१।

जब बौद्ध का यह कहना है कि 'समर्थन के बिना हेतु निरर्थक है'; तब अच्छा तो यही है कि समर्थन को ही अनुमान का अवयव माना जाय, हेतु तो समर्थन के कहने से स्वत: गम्य हो जाएगा। 'हेतु के बिना कहे किसी का समर्थन?' यह समाधान पक्षप्रयोग में भी लागू होता है, 'पक्ष के बिना किसकी सिद्धि के लिए हेतु?' या 'पक्ष के बिना हुतु रहेगा कहाँ?' अत: प्रस्ताव आदि के द्वारा पक्ष भले ही गम्यमान हो, पर वादी को वादकथा में अपना पक्ष–स्थापन करना ही होगा, अन्यथा पक्ष प्रतिपक्ष का विभाग कैसे किया जाएगा? यदि हेतु को कहकर आप समर्थन की सार्थकता मानते हैं; तो पक्ष को कहकर ही हेतुप्रयोग को न्याय मानना चाहिए। अत: जब [२०७]साधनवचनरूप हेतु और पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा नह दो अवयवों से ही परिपूर्ण अर्थ का बोध ही हो जाता है तब अन्य दृष्टान्त, उपनय और निगमन वादकथा में व्यर्थ हैं।

उदाहरण की व्यर्थता–

[२०८]उदाहरण साध्यप्रतिपत्ति में कारण तो इसलिए नहीं है कि अविनाभावी साधन से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। विपक्ष में बाधक प्रमाण मिल जाने से व्याप्ति का निश्चय भी हो जाता है; अत: व्यापित निश्चय के लिए भी उसकी उपयोगिता नहीं है। फिर दृष्टान्त किसी खास व्यक्ति का होता है और व्याप्ति होती है सामान्यरूप। अत: यदि उस दृष्टान्त में विवाद उत्पन्न हो जाय तो अन्य दृष्टान्त उपस्थित करना होगा और इस तरह अनवस्था दूषण आता है। यदि केवल दृष्टान्त का कथन कर दिया जाय तो साध्यधर्मी में साध्य और साधन दोनों के सद्भाव में शंका उत्पन्न हो जाती है। अन्यथा उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता है? व्याप्तिस्मरण के लिए भी उदाहरण की सार्थकता नहीं है; क्योंकि अविनाभावी हेतु के प्रयोगमात्र से ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। सबसे खास बात तो यह है कि विभिन्न मतवादी तत्त्व का स्वरूप विभिन्न रूप से स्वीकार करते हैं। बौद्ध घड़े को क्षणिक कहते हैं, जैन कथञ्चित क्षणिक और नैयायिक अवयवी को अनित्य और परमाणुओं को नित्य। ऐसी दशा में किसी सर्वसम्मत दृष्आन्त का मिलना कठिन है। अत: जैन तार्किकों ने इसके झगड़े को ही हटा दिया है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त में व्याप्ति का ग्रहण करना अनिवार्य भी नहीं है; क्योंकि जब समस्त वस्तुओं को पक्ष बना लिया जाता है तब किसी दृष्टान्त का मिलना असम्भव हो जाता है। अन्तत: पक्ष में ही साध्य और साधन की व्याप्ति विपक्ष में

---

207 परीक्षामुख ३।३२।

208 परीक्षामुख ३।३३–४०।

बाधक प्रमाण देखकर सिद्ध कर ली जाती है। इसलिए भी दृष्टान्त निरर्थक हो जाता है और वादकथा में अव्यवहार्य भी। हाँ, बालकों की व्युत्पत्ति की व्युत्पत्ति के लिए उसकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता।

उपनय और निगमन तो केवल उपसंहार–वाक्य हैं, जिनकी अपने में कोई उपयोगिता नहीं है। धर्मों में हेतु और साध्य के कथन मात्र से ही उनकी सत्ता सिद्ध है। उनमें कोई संशय नहीं रहता।

वादिदेवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५४८) ने विशिष्ट अधिकारी के लिए बौद्धों की तरह केवल एक हेतु के प्रयोग करने की भी सम्मति प्रकट की है; परन्तु बौद्ध तो त्रिरूप हेतु के समर्थन में पक्षधर्मत्व के बहाने प्रतिज्ञा के प्रतिपाद्य अर्थ को कह जाते हैं, पर जैन तो त्रैरूप्य नहीं मानते, वे तो केवल अविनाभावी को ही हेतु का स्वरूप मानते हैं, तब वे केवल हेतु का प्रयोग करके कैसे प्रतिज्ञा को गम्य बता सकेंगे? अत: अनुमानप्रयोग की समग्रता के लिए अविनाभावी हेतुवादी जैन को प्रतिज्ञा अपने शब्दों से कहनी ही चाहिए, अन्यथा साध्यधम्र के आधार का सन्देह कैसे हटेगा? अत: जैन के मत से सीधा अनुमानवाक्य इसप्रकार का होता है– 'पर्वत अग्निवाला है, धमवाला होने से' 'सब अनेकान्तात्मक हैं, क्योंकि सत् हैं।'

पक्ष में हेतु का उपसंहार उपनय है और हेतुपूर्वक पक्ष का वचन निगमन है। ये दोनों अवयव स्वतन्त्रभाव से किसी की सिद्धि नहीं करते। अत: लाघव, आवश्यकता और उपयोगिता सभी प्रकार से प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों अवयवों की ही परार्थानुमान में सार्थकता है। वादाधिकारी विद्वान् इनके प्रयोग से ही उदाहरण आदि से समझाये जानेवाले अर्थ को स्वत: ही समझ सकते हैं।

हेतु के स्वरूप की मीमांसा–

हेतु का स्वरूप भी विभिन्न वादियों ने अनेक प्रकार से माना है। नैयायिक[२०९] पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इसप्रकार पंचरूपवाला हेतु मानते हैं। हेतु का पक्ष में रहना, समस्त सपक्षों में या किसी एक सपक्ष में रहना, किसी भी विपक्ष में नहीं पाया जाना, प्रत्यक्षादि से साध्यका बाधित नहीं होना और तुल्यबलवाले किसी प्रतिपक्षी हेतु का नहीं होना ये पाँच बातें प्रत्येक सद्धेतु के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका समर्थन उद्योत

---

209 न्यायवा. ता. टी. १।१।५

करके न्यायवार्तिक (१।१।५) में देखा जाता है। प्रशस्तपादभाष्य[210] में हेतु त्रैरूप्य का ही निर्देश है।

त्रैरूप्यवादी बौद्ध त्रैरूप्य को स्वीकार करके अबाधितविषयत्व को पक्ष के लक्षण से ही अनुगत कर लेते हैं; क्योंकि पक्ष के लक्षण में 'प्रत्यक्षाद्यनिराकृत' पद दिया गया है। अपने साध्य के साथ निश्चित त्रैयरूप्यवाले हेतु में समबलवाले किसी प्रतिपक्षी हेतु की सम्भावना ही नहीं की जा सकती, अतः असत्प्रतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है। इस तरह वे तीन रूपों को हेतु का अत्यन्त आवश्यक स्वरूप मानते हैं और इसी त्रिरूप हेतु को साधनांग कहते हैं और इनकी न्यूनता को असाधनांग वचन कहकर निग्रह स्थान में शामिल करते हैं। पक्षधर्मत्व असिद्धत्व दोष का परिहार करने के लिए है, अपक्षसत्त्व विरुद्धत्व का निराकरण करने के लिए तथा विपक्षव्यावृत्ति अनैकान्तिक दोष की व्यावृत्ति के लिए है।[211]

जैन दार्शनिकों ने प्रथम से ही अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु के प्राणरूप से पकड़ा है। सपक्षसत्त्व इसलिए आवश्यक नहीं है कि एक तो समस्त पक्षों में हेतु का होना अनिवार्य नहीं है। दूसरे सपक्ष में रहने या न रहने से हेतुता में कोई अन्तर नहीं आता। केवलव्यतिरेक की हेतु सापक्ष में नहीं रहता, फिर भी सद्धेतु है। 'हेतु का साध्य के अभाव में नहीं ही पाया जाना' यह अन्यथानुपपत्ति, अन्य सब रूपों की व्यर्थता सिद्ध कर देती है। पक्षधर्मत्व भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि अनेक हेतु ऐसे हैं जो पक्ष में नहीं पाये जाते, फिर भी अपने अविनाभावी साध्य का ज्ञान कराते हैं। जैसे 'रोहिणी नक्षत्र एक मुहूर्त के बाद उदित होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय रोहिणी नामक पक्ष में नहीं पाया जाता है। अतः पक्षधर्मत्व ऐसा रूप नहीं है जो हेतु की हेतुता के लिए अनिवार्य हो। [212]काल और आकाश को पक्ष बनाकर कृत्तिका और रोहिणी का सम्बन्ध बैठाना तो बुद्धि का अतिप्रसंग[213] है। अतः केवल नियमवाली विपक्षव्यावृत्ति ही हेतु की आत्मा है, इसके अभाव में वह हेतु ही नहीं रह सकता। सपक्षसत्त्व तो इसलिए माना जाता है कि हेतु का अवनिाभाव किसी दृष्टान्त में ग्रहण करना चाहिए या दिखन चाहिए। परन्तु हेतु बहिर्व्याप्ति (पक्ष में साध्यसाधन की व्याप्ति) से ही सद्धेतु बनता है।

---

210 प्रश. कन्दली, पृ. ३००।

211 हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः।।' –प्रमाणवा. ३।१४।

212 देखो, प्रमाणवा. स्ववृ. टी. ३।१।

213 प्रमाणसं., पृ. १०४।

जिसका अविनाभाव निश्चित है उसके साध्य में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा ही नहीं आ सकती। फिर बाधित तो साध्य नहीं हो सकता; क्योंकि साध्य के लक्षण में 'अबाधित' पद पड़ा हुआ है। जो बाधित होगा वह साध्याभास होकर अनुमान को आगे बढ़ने ही न देगा।

इसी तरह जिस हेतु का अपने साध्य के साथ समग्र अविनाभाव है, उसका तुल्यबलशाली प्रतिपक्षी प्रतिहेतु सम्भव ही नहीं है, जिसके वारण करने के लिए असत्प्रतिपक्षत्व को हेतु का स्वरूप माना जाय। निश्चित अविनाभाव न होने से 'गर्भ में आया हुआ मित्रा का पुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मित्रा का पुत्र है जैसे कि उसके अन्य श्याम पुत्र' इस अनुमान में त्रिरूपता होने पर भी सत्यता नहीं है। मित्रापुत्रत्व हेतु गर्भसथ पुत्र में है, अत: पक्षधर्मत्व मिल गया, सपक्षभूत अन्य पुत्रों में पाया जाता है, अत: सपक्षत्त्व भी सिद्ध है, विपक्षभूत गोरे चैत्र के पुत्रों से वह व्यावृत्त है, अत: सामान्यतया विपक्षव्यावृत्ति भी है। मित्रापुत्र के श्यामत्व में कोई बाधा नहीं है और समान बलवाला कोई प्रतिपक्षी हेतु नहीं है। इस तरह इस मित्रापुत्रत्व हेतु में त्रैरूप और पाँचरूप्य होने पर भी सत्यता नहीं है; क्योंकि मित्रापुत्रत्व हेतु में त्रैरूप और पाँचरूप्य होने पर भी सत्यता नहीं है; क्योंकि मित्रापुत्रत्व का श्यामत्व के साथ कोई अविनाभाव नहीं है। अविनाभाव इसलिए नहीं है कि उसका श्यामत्व के साथ सहभाव या क्रमभाव नियम सहीं है। श्यामत्व का कारण है उसके उत्पादक नामकर्म का उदय और मित्रा का गीर्ा अवस्था में हरी पत्रशाक आदि का खाना। अत: जब मित्रापुत्रत्व का श्यामत्व के साथ किसी निमित्तक अविनाभाव नहीं है और विपक्षभूत गौरत्व की भी वहाँ सम्भावना की जा सकती है, तब वह सच्चा हेतु नहीं हो सकता, परन्तु त्रैरूप्य और पाँचरूप्य न होने पर भी अविनाभाव होने के कारण सद्धेतुता है। अत: अविनाभाव ही एक मात्र हेतु का स्वरूप हो सकता है, त्रैरूप्य आदि नहीं। इस आश्य का एक प्राचीन श्लोक मिलता है, जिसे अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय (श्लो. ३२३) में शामिल किया है। तत्त्वसंग्रहपंजिका के अनुसार यह श्लोक पात्रस्वामी का है।

''अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?''

अर्थात् जहाँ अन्यथा नुपपत्ति या अविनाभाव है वहाँ त्रैरूप्य मानने से कोई लाभ नहीं और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रैरूप्य मानना भी व्यर्थ है।

आचार्य विद्यानन्द ने इसी की छाया से पंचरूप का खण्डन करनेवाला निम्नलिखित श्लोक रचा है–[२१४]

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पश्चभि:?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभि:।।"

–प्रमाणपरीक्षा, पृ. ७२।

अर्थात् जहाँ (कृत्तिकोदय आदि हेतुओं में) अन्यथानुपपन्नत्व–अविनाभाव है वहाँ पञ्चरूप न भी हों तो भी कोई हानि नहीं है, उनके मानने से क्या लाभ? और जहाँ (मित्रातनयत्व आदि हेतुओं में) पञ्चरूप हैं और अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है, वहाँ पञ्चरूप मानने से क्या? वे व्यर्थ हैं।

हेतु बिन्दु टीका में[२१५] इन पाँच रूपों के अतिरिक्त छइवें 'ज्ञातत्व' स्वरूप को माननेवाले मत का उल्लेख पाया जाता है। यह उल्लेख सामान्यतया नैयायिक और मीमांसक का नाम लेकर किया गया है। पाँच रूपों में असत्प्रतिपक्षत्व का विवक्षितैकसंख्यत्व शब्द से निर्देश है। असत्प्रतिपक्ष अर्थात् जिसका कोई प्रतिपक्षी हेतु विद्यमान न हो, जो अप्रतिद्वन्द्वी हो और विवक्षितैक संख्यत्व का भी यही अर्थ है कि जिसकी एक संख्या हो अर्थात् जो अकेला हो, जिसका कोई प्रतिपक्षी न हो। षड्लक्षण हेतु में ज्ञातत्वरूप के पृथक् कहने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लिंग अज्ञात होकर साध्य का ज्ञान करा ही नहीं सकता। वह न केवल ज्ञान ही हो, किनतु उसे अपने साध्य के साथ अविनाभावीरूप में निश्चित भी होना चाहिए। तात्पर्य यह कि एक अविनाभाव के होने पर शेष रूप या तो निरर्थक हैं या उस अविनाभाव के विस्तार मात्र हैं। बाधा[२१६] और अवनीाााव का विरोध है। यदि हेतु अपने साध्य के साथ अविनाभाव रखता है, तो बाधा कैसी? और यदि बाधा है, तो अविनाभाव कैसा? इनमें केवल एक 'विपक्षव्यावृत्ति' रूप ही ऐसा है, जो हेतु का असाधारण लक्षण हो सकता है। इसी का नाम अविनाभाव है।

नैयायिक अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इस तरह तीन प्रकार के हेतु मानते हैं। 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है' इस अनुमान में कृतकत्व हेतु सपक्षभूत अनित्य घट में पाया

---

214 'अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशंकते।' –तत्त्वसंत्र पं. श्लो. १३६४।

215 'षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्–एका संख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं ...यद्ये कसंख्यावच्छिन्नायां प्रतिहेतु रहितायां तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वम्।' –हेतुबि. टी., पृ. २०६।

216 'बाधाविनाभावयोर्विरोधात्।' –हेतुवि. परि. ४।

जाता है और आकाश आदि नित्य विपक्षों से व्यावृत्त रहता है और पक्ष में इसका रहना निश्चित है, अतः यह अन्वयव्यतिरेकी है। इसमें पञ्चरूपता विद्यमान है। 'अदृष्ट आदि किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं' यहाँ अनुमेयत्व हेतु पक्षभूत अदृष्आदि में पाया जाता है, सपक्ष घट में भी इसकी वृत्ति है, इसलिए पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व तो है, पर विपक्षव्यावृत्ति नहीं है; क्योंकि जगत् के समस्त पदार्थ पक्ष और सपक्ष के अन्तर्गत आ गये हैं। जब कोई विपक्ष है ही नहीं तब व्यावृत्ति किससे हो? इस केवलान्वयी हेतु में विपक्ष व्यावृत्ति के सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। 'जीवित शरीर आत्मा से युक्त है, क्योंकि उसमें प्राणादिमत्त्व– श्वासोच्छ्वास आदि पाये जाते हैं', यहाँ जीवित शरीर पक्ष है, सामकत्व साध्य है और प्राणादिमत्त्व हेतु है। यह प्क्षभूत जीवित शरीर में पाया जाता है और विपक्षभूत पत्थर आदि से व्यावृत्त है, अतः इसमें पक्ष धर्मत्व और विपक्षव्यावृत्ति तो पाई जाती है; किन्तु सपक्षसत्त्व नहीं है, क्योंकि जगत् के समस्त चेतन पदार्थों का पक्ष में और अचेतन पदार्थों का विपक्ष में अन्तर्भाव हो गया है, सपक्ष कोई बचता ही नहीं है। इस केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व के सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। स्वयं नैयायिकों[२१७] ने केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओं में चार–चार रूप स्वीकार करके चतुर्लक्षण को भी सद्हेतु माना है। इस तरह पञ्चरूपता इन हेतुओं में अपने आप अव्याप्त सिद्ध हो जाती है।

केवल एक अविनाभाव ही ऐसा है, जो समस्त सद्हेतुओं में अनुपचरितरूप से पाया जाता है और किसी भी हेत्वाभास में इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इसलिए जैनदर्शन ने हेतु को 'अन्यथानुपपत्ति' या 'अविनाभाव' रूप से एकलक्षणवाला[२१८] ही माना है।

हेतुर्के प्रकार–

वैशेषिक सूत्र में एक जगह (९।२।१) कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी इन पाँच प्रकार के लिंगों का निर्देश है। अन्यत्र (३–११–२३) अभूत–भूतका, भूत–अभूतका और भूत–भूतका इसप्रकार तीन हेतुओं का वर्ण है। बौद्ध[२१९] स्वभाव, कार्य और

---

217 'यद्यप्यविनाभावः पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिंगस्य समाप्यते।'
–न्यायवा. ता. टी. पृ. १७८।
''केवलान्वयसाधको हेतुः केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सहपञ्च। केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि।''
–वैशे. उप. पृ. ९७।
218 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।' –त. श्लों १।१३।१२१।
219 न्यायबिन्दु २।१२।

अनुपलब्धि इस तरह तीन प्रकार के हेतु मानते हैं। कार्यहेतुका अपने साध्य के साथ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है, स्वभावहेतुका तादात्म्य होता है और अनुपलब्धियों में भी तादात्म्य सम्बन्ध ही विवक्षित है। जैन तार्किकपरम्परा में अविनाभाव को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति में ही नहीं बाँधा है, किन्तु उसका व्यापक क्षेत्र निश्चित किया है। अविनाभाव, सहभाव और क्रमभावमूलक होता है। सहभाव तादात्म्यप्रयुक्त भी हो सकता है और तादात्म्य के बिना भी। जैसे कि तराजू के एक पलड़े का ऊपर को जाना और दूसरे का नीचे की तरफ झुकना, इन दोनों में तादात्म्य न होकर भी सहभाव है। क्रमभाव कार्य–कारणभवमूलक भी होता है और कार्यकारणभाव के बिना भी। जैसे कि कृत्तिकोदय और उसके एक मुहूर्त के बाद उदित होनेवाले शकटोदय में परस्पर कार्यकारणभाव न होने पर भी नियत क्रमभाव है।

अविनाभाव के इसी व्यापक स्वरूप को आधार बनाकर जैन परम्परा में हेतु के स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये भेद किये हैं[२२०]। हेतु के सामान्यतया दो भेद भी होते हैं[२२१]– एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। उपलब्धि, विधि और प्रतिषेध दोनों को सिद्ध करती है। इसी तरह अनुपलब्धि भी। बौद्ध[२२२] कार्य और स्वभाव हेतु को केवल विधिसाधक और अनुपलब्धि हेतु को मात्रप्रतिषेधसाधक मानते हैं, किन्तु आगे दिये जानेवाले उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि अनुपलब्धि और दोनों ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं। वैशेषिक संयोग और समवाय को स्वतन्त्र माने हैं; परन्तु इस प्रकार के भेद सहभावमूलक अविनाभाव में संगृहीत हो जाते हैं। वे या तो सहचर हेतु में या स्वभावहेतु में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

कारणहेतु का समर्थन–

बौद्ध कारण हेतु को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है[२२३], क्योंकि वर्तमान रस को पूर्व रस उपादानभाव से तथा पूर्वरूप निमित्तभाव से उत्पन्न करता है और पूर्वरूप अपने उत्तररूप को पैदा करके ही रस में निमित्त बनता है। अत: रस को चखकर उसकी

---

220 परीक्षामुख ३।५४।

221 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एक: प्रतिषेधहेतु:। –न्यायबि. २।१९।

222 'न च कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति।' –न्यायवि. २।४९

223 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।' –परीक्षामुख ३।५५।

एकसामग्री का अनुमान होता है। फिर एकसामग्री के अनुमान से जो उत्तर रूप का अनुमान किया जाता हैं वह कारण से कार्य का ही अनुमान है। इसे स्वभावहेतु में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। कारण से कार्य के अनुमान में दो शर्तें आवश्यक हैं। एक तो उस कारण की शक्ति का किसी प्रतिबन्धक से प्रतिरोध न हो और दूसरे सामग्री की विकलता न हो। इन दो बातों का निश्चय होने पर ही कारण कार्य का अव्यभिचारी अनुमान करा सकता है। जहाँइनका निश्चय न हो, वहाँ न सही; पर जिस कारण के सम्बन्ध में इनका निश्चय करना शक्य है, उस कारण को हेतु स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर हेतु–

इसी तरह[२२४] पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं में न तो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है और न तदुत्पत्ति ही; क्योंकि काल का व्यवधान रहने पर इन दोनों सम्बन्धों की सम्भावना नहीं है। अत: इन्हें भी पृथक् हेतु स्वीकार करना चाहिए। आज हुए अपशकुन को कालान्तर में होनेवाले मरण का कार्य मानना तथा अतीत जागृत अवस्था के ज्ञान को प्रबोधकालीन ज्ञान के प्रति कारण मानना उचित नहीं है; क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारण के व्यापार के अधीन होती है। जो कारण अतीत और अनुत्पन्न होने के कारण स्वयं असत् हैं, अतएव व्यापारशून्य हैं; उनसे कार्योत्पत्ति की सम्भावना कैसे की जा सकती है?

इसी तरह[२२५] सहचारी पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं, अत: वे परस्पर कार्यकारणभूत नहीं कहे जा सकते और एक अपनी स्थिति में दूसरे की अपेक्षा नहीं करता, अत: उनमें परस्पर तादात्म्य भी नहीं माना जा सकता। इसलिए सहचर हेतु को भी पृथक् मानना ही चाहिए।

हेतु के भेद–

विधिसाधक उपलब्धि को अविरुद्धोपलब्धि और प्रतिषेध–साधक उपलब्धि को विरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इनके उदाहरण इसप्रकार हैं–

१. अविरुद्धव्याप्योपलब्धि– शब्द परिणामी है, क्योंकि वह कृतक है।
२. अविरुद्धकार्योपलब्धि– इस प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि वचन आदि देखे जाते हैं।
३. अविरुद्धकारणोपलब्धि– यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है।

---

224 देखो, लघीय. श्लो. १४। परीक्षामुख ३।५६–५८।
225 परीक्षामुख ३।५९।

४. अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि— एक मुहूर्त के बाद शकट (रोहिणी) का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्ति का उदय हो रहा है।
५. अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि— एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय हो रहा है।
६. अविरुद्धसहचरोपलब्धि— इस बिजौरे में रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है।

इनमें अविरुद्धव्यापकोपलब्धि भेद इसलिए नहीं बताया कि व्यापक व्याप्य का ज्ञान नहीं कराता, क्योंकि वह उसके अभाव में भी पाया जाता है।

प्रतिषेध को सिद्ध करनेवाली छह विरुद्धोपलब्धियाँ[२२६]—

१. विरुद्धव्याप्योपलब्धि— यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता पायी जाती है।
२. विरुद्धकार्योपलब्धि— यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूप पाया जाता है।
३. विरुद्धकारणोपलब्धि— इस प्राणी में सुख नहीं है, क्योंकि इसके हृदय में श्लय है।
४. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि— एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय रेवती का उदय हो रहा है।
५. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि— एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ, क्योंकि इस समय पुष्य का उदय हो रहा है।
६. विरुद्धसहचरोपलब्धि— इस दीवाल में उस तरफ के हिस्से का अभाव नहीं है; क्योंकि इस तरफ का हिस्सा देखा जाता है।

इन छह उपलब्धियों में प्रतिषेध साध्य है और जिसका प्रतिषेध किया जा रहा है उससे विरुद्ध के व्याप्य, कार्य, कारण आदि की उपलब्धि विवक्षित है। जैसे विरुद्ध कारणोपलब्धि में सुख का प्रतिषेध साध्य है, तो सुख का विरोधी दु:ख हुआ, उसके कारण हृदयशल्य को हेतु बनाया गया है।

प्रतिषेध साधक सात अविरुद्धानुपलब्धियाँ[२२७]—

१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि— इस भूतल पर घड़ा नहीं है, क्योंकि वह अनुपलब्ध है। यद्यपि यहाँ घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो

---

226 परीक्षामुख ३।६६—७२।
227 परीक्षामुख ३।७३—८०।

जाता है; परन्तु जो व्यक्ति अभावव्यवहार नहीं करना चाहते उन्हें अभावव्यवहार कराने में इसकी सार्थकता है।

२. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि– यहाँ शीशम नहीं है; क्योंकि वृक्ष नहीं पाया जाता।

३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि– यहाँ पर अप्रतिबद्ध शक्तिशाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम नहीं पाया जाता। यद्यपि साधारणतया कार्याभाव से कारणभाव नहीं होता, पर ऐसे कारण का अभाव कार्य के अभाव से अवश्य किया जा सकता है जो नियम से कार्य का उत्पादक होता है।

४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि– यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं पायी जाती।

५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि– एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं है।

६. अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि– एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं है।

७. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि– इस समतराजू का एक पलड़ा नीचा नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा ऊँचा नहीं पाया जाता।

विधिसाधक तीन विरुद्धानुपलब्धियाँ[२२८]–

१. विरुद्धद्धकार्यानुपलब्धि– इस प्राणी में कोई व्याधि है, क्योंकि इसकी चेष्टाएँ नीरोग व्यक्ति की नहीं हैं।
२. विरुद्धकारणानुपलब्धि– इस प्राणी में दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग नहीं देखा जाता।
३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि– वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होता।

इन अनुपलब्धियों में साध्य से विरुद्ध के कार्य, कारण आदि की अनुपलब्धि बतायी गई है। हेतुओं का यह वर्गीकरण परीक्षामुख के आधार से है।

---

[228] परीक्षामुख ३।८१–८४।

वादिदेवसूरि ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' (३।६४) में विधिसाधक तीन अनुपलब्धियों की जगह पाँच अनुपलब्धियाँ बताई हैं तथा निषेधसाधक छह अनुपलब्धियों की जगह सात अनुपलब्धियाँ गिनाई हैं। आचार्य विद्यानन्द[२२९] ने वैशेषिकों के अभूत–भूतादि तीन प्रकारों में 'अभूत अभूतका' यह एक प्रकार और बढ़ाकर सभी विधि और निषेध साधक उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियों को इन्हीं में अन्तर्भूत किया है। अकलंकदेव ने 'प्रमाणसंग्रह' (पृ. १०४–५) सद्भावसाधक छह और अनुपलब्धियों का कंठोक्त वर्णन करके शेष इन्हीं में अन्तर्भाव करने का संकेत किया है।

परम्परा से सम्भावित हेतु– कार्य के कार्य, कारण के कारण, कारण के विरोधी आदि हेतुओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

अदृश्यानुपलब्धि भी अभावसाधिका–

बौद्ध[२३०] दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि माते हैं। दृश्य से उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु से है कि जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धि के समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट पदार्थों में हम लोगों के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की निवृत्ति होने पर भी उनका अभाव नहीं होता। प्रमाण की प्रवृत्ति से प्रमेय का सद्भाव तो जाना जाता है, पर प्रमाण की निवृत्ति से प्रमेय का अभाव नहीं किया जा सकता। अतः विप्रकृष्ट विषयों की अनुपलब्धि संशयहेतु होने से अभावसाधक नहीं हो सकती।[२३१] वस्तु के दृश्यत्व का इतना ही अर्थ है कि उसके उपलम्भ करनेवाले समस्त करणों की समग्रता हो और वस्तु में एक विशेष स्वभाव हो। घट और भूतल एकज्ञानसंसर्गी थे, जितने कारणों से भूतल दिखाई देता है उतने ही कारणों से घड़ा। अतः जब शुद्ध भूतल दिखाई दे रहा है तब यह तो मानना ही होगा कि वहाँ भूतल की उपलब्धि की वह सब सामग्री विद्यमान है जिससे घड़ा यदि होता तो वह भी अवश्य दिख जाता। तात्पर्य यह कि एकज्ञान संसर्गी पदार्थान्तर की उपलब्धि इस बात का प्रमाण है कि वहाँ उपलब्धि की समस्त सामग्री है। घट में उस सामग्री के द्वारा प्रत्यक्ष होने का स्वभाव भी है, क्योंकि यदि वहाँ घड़ा लाया जाय तो उसी सामग्री से वह अवश्य दिख जायगा। पिशाचादि या परमाणु आदि पदार्थों में वह स्वभावविशेष नहीं है, अतः सामग्री की पूर्णता रहने पर भी उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। यहाँ सामग्री की पूर्णता का प्रमाण इसलिए नहीं दिया जा सकता

---

229 प्रमाणपरीक्षा, पृ. ७२–७४।

230 न्यायबिन्दु २।२८–३०, ४६।

231 न्यायबिन्दु २।४८–४९।

कि उनका एकज्ञानसंसर्गी कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। इस दृश्यता को 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' शब्द से भी कहते हैं। इस तरह बौद्ध दृश्यानुपलब्धि को गमक और अदृश्यानुपलब्धि को संशयहेतु मानते हैं।

परन्तु जैनतार्किक[२३२] अकलंकदेव कहते हैं कि दृश्यत्व का अर्थ केवल प्रत्यक्षविषयत्व ही नहीं है; किन्तु उसका अर्थ है प्रमाणविषयत्व। जो वस्तु जिस प्रमाण का विषय होती है, वह वस्तु यदि उसी प्रमाण से उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध हो जाना चाहिए। उपलम्भ का अर्थ प्रमाणसामान्य है। देखो, मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय परचैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ पर चैतन्य में प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है, क्योंकि परचैतन्य कभी भी हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। हम तो वचन, उष्णता, श्वासोच्छ्‌वास या आकार विशेष आदि के द्वारा शरीर में मात्र उसका अनुमान करते हैं। अत: उन्हीं वचनादि के अभाव से चैतन्य का अभाव सिद्ध होना चाहिए। यदि अदृश्यानुपलब्धि को संशयहेतु मानते हैं; तो आत्मा की सत्ता भी कैसे सिद्ध की जा सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमान के विषय होते हैं। अत: यदि हम उनके साधक चिह्नों के अभाव में उनकी अनुमान से भी उपलब्धि न कर सकें तो ही उनका अभाव मानना चाहिए। हाँ, जिन पदार्थों को हम किसी भी प्रमाण से नहीं जान सकते, उनका अभाव हम अनुपलब्धि से नहीं कर सकते। यदि परशरीर में चैतन्य का अभाव हम अनुपलब्धि से न जान सकें और संशय ही बना रहे, तो मृतशरीर का दाह करना कठिन हो जायगा और दाह करनेवालों को सन्देह में पातकी बनना पड़ेगा। संसार के समस्त गुरुशिष्यभाव, लेन–देन आदि व्यवहार, अतीन्द्रिय चैतन्य का आकृतिविशेष आदि से सद्‌भाव मानकर ही चलते हैं और उनके अभाव में चैतन्य का अभाव जानकर मृतकों में वे व्यवहार नहीं किये जाते। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थ को हम जिन–जिन प्रमाणों से जानते हैं उस वस्तु उन–उन प्रमाणों की निवृत्ति होने पर अवश्य ही अभाव मानना चाहिए। अत: दृश्यत्व का संकुचित अर्थ– मात्र प्रत्यक्षत्व न करके 'प्रमाणविषयत्व' करना ही उचित है और व्यवहार्य भी है।

उदाहरणादि–

---

232 'अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्युक्तं परचैतयनिवृत्तावारेकापत्तेः, संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसंगात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।'
–अष्टश., अष्टसह. पृ. ५२

यह पहले लिखा जा चुका है कि अव्युत्पन्न श्रोता के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन इन अवयवों की भी सार्थकता है। स्वार्थानुमान में भी जो व्यक्ति व्याप्ति को भूल गया है, उसे व्याप्तिस्मरण के लिए कदाचित् उदाहरण का उपयोग हो भी सकता है, पर व्युत्पन्न व्यक्ति को उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। व्याप्ति की सम्प्रतिपत्ति अर्थात् वादी और प्रतिवादी की समान प्रतीति जिस स्थल में हो उस स्थल को दृष्टान्त कहते हैं और दृष्टान्त का सम्यक् वचन उदाहरण[२३३] कहलाता है। साध्य और साधन की व्याप्ति– अविनाभाव सम्बन्ध कहीं साधर्म्य अर्थात् अन्वयरूप से गृहीत होता है और कहीं वैधर्म्य अर्थात व्यतिरेकरूप से। जहाँ अन्वयव्याप्ति गृहीत हो वह अन्वयदृष्टान्त तथा व्यतिरेकव्याप्ति जहाँ गृहीत हो वह व्यतिरेकदृष्टान्त है। इस दृष्टान्त का सम्यक् अर्थात् दृष्टान्त की विधि से कथन करना उदाहरण है। जैसे 'जो–जो धूमवाला है वह–वह अग्निवाला है, जैसे कि महानस, जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे कि महाह्रद।' इसप्रकार व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त का कथन उदाहरण कहलाता है।

दृष्टान्त की सदृशता से पक्ष में साधन की सत्ता दिखाना उपनय[२३४] है। जैसे 'उसी तरह यह भी धूमवाला है।' साधन का अनुवाद करके पक्ष में साध्य का नियम बताना निगमन है। जैसे 'इसलिए अग्निवाला है।' संक्षेप में हेतु के उपसंहार को उपनय कहते हैं और प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन[२३५]।

[२३६]हेतु का कथन कहीं तथोपपत्ति (साध्य के होने पर ही साधन का होना), अन्वय या साधर्म्यरूप से होता है और कहीं अन्यथानुपपत्ति (साध्य के अभाव में हेतु का नहीं ही होना), व्यतिरेक या वैधर्म्यरूप से होता है। दोनों का प्रयोग करने से पुनरुक्ति दूषण आता है। हेतु का प्रयोग व्याप्तिग्रहण के अनुसार ही होता है। अत: हेतु के प्रयोगमात्र से विद्वान् व्याप्ति का स्मरण या अवधारण कर लेते हैं। पक्ष का प्रयोग तो इसलिए आवश्यक है कि साध्य और साधन का आधार अतिस्पष्टरूप से सूचित हो जाय।

व्याप्ति के प्रसंग से व्याप्य और व्यापक का लक्षण भी जान लेना आवश्यक है।

---

[233] देखो, परीखामुख ३।४२–४४।

[234] परीक्षामुख ३।४५।

[235] परीक्षामुख ३।४६।

[236] परीक्षामुख ३।८९–९३।

व्याप्य और व्यापक–

व्याप्तिक्रिया का जो कर्म होता है अर्थात् जो व्याप्त होता है वह व्याप्य है और जो व्याप्तिक्रिया का कर्ता होता है अर्थात् जो व्याप्त करता है वह व्यापक होता है। जैसे अग्नि धुआँ को व्याप्त करती है अर्थात् जहाँ भी धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य मिलेगी, पर धुआँ अग्नि को व्याप्त नहीं कह सकते कि 'जहाँ भी अग्नि है वहाँ धूम अवश्य ही होगा', क्योंकि अग्नि के अंगारों में धुआँ नहीं पाया जाता। [२३७]व्यापक 'तदतत्' अर्थात् हेतु के सद्भाव और हेतु के अभाव, दोनों स्थलों में मिलता है जब कि व्याप्य केवल तन्निष्ठ अर्थात् साध्य के होने पर ही होता है, अभाव में कदापि नहीं। अत: साध्य व्यापक है और साधन व्याप्य।

व्याप्ति[२३८] व्याप्य और व्यापक दो में रहती है। अत: जब व्यापक के धर्मरूप से व्याप्ति की विवक्षा होती है तब उसका कथन 'व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही, न होना कभी नहीं' इस रूप में होता है और जब व्याप्य के धर्मरूप से विवक्षित होती है तब 'व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना, अभाव में कभी नहीं होना' इस रूप में वर्णन होता है।

व्यापक गम्य होता है और व्याप्य गमक; क्योंकि व्याप्य के होने पर व्यापक का पाया जाना निश्चित है; परन्तु व्यापक के होने पर व्याप्य का अवश्य ही होना निश्चित नहीं है, वह हो भी और न भी हो। व्यापक अधिकदेशवर्ती होता है जबकि व्याप्य होता है और साधनाभाव व्यापक। जहाँ–जहाँ साध्य का अभाव होगा वहाँ–वहाँ साधन का अभाव अवश्य होगा अर्थात् साध्य के अभाव का कोई नियम नहीं है; क्योंकि निर्धूम स्थल में भी अग्नि पाई जाती है। अत: व्यतिरेकव्याप्ति में साध्यभाव व्याप्य अर्थात् गमक होता है और साधनाभाव व्यापक अर्थात् गम्य।

अकस्मात् धूमदर्शन से होनेवाला अग्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं–

आ. प्रज्ञाकर[२३९] अकस्मात् धुआँ को देखकर होनेवाले अग्नि के ज्ञान को अनुमान न मानकर प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उनका विचार है कि जब अग्नि और धूम की व्याप्ति पहले ग्रहण नहीं की गई है, तब

---

237 'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य च तत्रैव भाव:।' –प्रमाणवा. स्ववृ. ३।१।

238 'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।'

239 'अत्यन्ताभ्यासतस्तस्य झटित्येव तदर्थदृक्।
अकस्माद् धूमतो वह्निप्रतीतिरिव देहिनाम्।।' –प्रमाणवार्तिकाल. २।१३९।

अगृहीतव्याप्तिक पुरुष को होनेवाला अग्निज्ञान अनुमान की कोटि में नहीं आना चाहिए; किन्तु जब प्रत्यक्ष का इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होना निश्चित है, तब जो अग्नि परोक्ष है और जिसके साथ हमारी इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं है, उस अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष की मर्यादा में कैसे आ सकता है? यह ठीक है कि व्यक्ति ने 'जहाँ—जहाँ धूम होता है, वहाँ—वहाँ अग्लि होती है, अग्नि के अभाव में धूम कभी नहीं होता' इसप्रकार स्पष्टरूप से व्याप्ति का निश्चय नहीं किया है; किन्तु अनेक बार अग्नि और धूम को देखने के बाद उसके मन में अग्नि और धूम के सम्बन्ध के सूक्ष्म संस्कार अवश्य थे और वे ही सूक्ष्म संस्कार अचानक धुआँ को देखकर उद्‌बुद्ध होते हैं और अग्नि का ज्ञान करा देते हैं। यहाँ धूम का ही तो प्रत्यक्ष है, अग्नि तो सामने है ही नहीं। अतः इस परोक्ष अग्निज्ञान को सामन्यतया श्रुत में स्थान दिया जा सकता है; क्योंकि इसमें एक अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान किया गया है। इसे अनुमान कहने में भी कोई विशेषबाधा नहीं है, क्योंकि व्याप्ति के सूक्ष्म संस्कार उसके मन पर अंकित थे ही। फिर यह ज्ञान अविशद है, अतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

अर्थापत्ति अनुमान में अन्तर्भूत है—

मीमांसक[२४०] अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानते हैं। किसी दृष्ट या श्रुत पदार्थ से वह जिसके बिना नहीं होता उस अविनाभावी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है। इससे अतीन्द्रिय शक्ति आदि पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। यह छह प्रकार की है—

१. [२४१]प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति— प्रत्यक्ष से ज्ञात दाह के द्वारा अग्नि में दहनशक्ति की कल्पना करना। शक्ति प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है।
२. [२४२]अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति— एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होना रूप हेतु से सूर्य में गति का अनुमान करके फिर उस गति से सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना करना।
३. [२४३]श्रुतार्थापत्ति— 'देवदत्त दिन को नहीं खाता, फिर भी मोटा है' इस वाक्य को सुनकर उसके रात्रिभोजन का ज्ञान करना।

---

240 मी. श्लो. अर्था. श्लो. १।
241 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ३।
242 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ३।
243 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ५१।

४. [२४४]उपमानार्थापत्ति– गवय से उपमित गौ में उस ज्ञान के विषय होने की शक्ति की कल्पना करनां
५. [२४५]अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति– 'शब्द वाचकशक्तियुक्त है, अन्यथा उससे अर्थप्रतीति नहीं हो सकती। इस अर्थापत्ति से सिद्ध वाचकशक्ति से शब्द में नित्यत्व सिद्ध करना अर्थात् 'शब्द नित्य है, वाचकशक्ति अन्यथा नहीं हो सकती' यह प्रतीति करना।
६. [२४६]अभावपूर्विका अर्थापत्ति– अभाव प्रमाण के द्वारा जीवित चैत्र का घर में अभाव जानकर उसके बाहर होने की कल्पना करना।

इन[२४७] अर्थापत्तियों में अविनाभाव उसी समय गृहीत होता है। लिंग का अविनाभाव दृष्टान्त में पहले से ही निश्चित कर लिया जाता है जब कि अर्थापत्ति में पक्ष में ही तुरन्त अविनाभाव का निश्चय किया जाता है। अनुमान में हेतु का पक्षधर्मत्व आवश्यक है जब कि अर्थापत्ति में पक्षधम्र आवश्यक नहीं माना जाता। जैसे 'ऊपर की ओर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदी का पूर अन्यथा नहीं आ सकता' यहाँ नीचे नदीपूर को देखकर तरन्त ही उपरिवृष्टि की जो कल्पना होती है उसमें न तो पक्षधर्म है और न पहले से किसी सपक्ष में व्याप्ति ही ग्रहण की गई है।

परन्तु इतने मात्र से अर्थापत्ति को अनुमान से भिन्न नहीं माना जा सकता। अविनाभावी एक अर्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान करना जैसे अनुमान में है वैसे अर्थापत्ति में भी है। हम पहले बता चुके हैं कि पक्षधर्मत्व अनुमान का कोई आवश्यक अंग नहीं है। कृत्तिकोदय आदि हेतु पक्षधर्मरहित होकर भी सच्चे हैं और मित्रातनयत्व आदि हेत्वाभास पक्षधर्मत्व के रहने पर भी गमक नहीं होते। इसी तरह सपक्ष में पहले से व्याप्ति को ग्रहण करना इतनी बड़ी विशेषता नहीं है कि इसके आधार पर दोनों को पृथक् प्रमाण माना जाय और सभी अनुमानों में सपक्ष में व्याप्ति ग्रहण करना आवश्यक भी नहीं है। व्याप्ति पहले गृहीत हो या तत्काल; इससे अनुमान में कोई अन्तर नहीं आता। अत: अर्थापत्तिका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है।

सम्भव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं–

इसी तरह समीव प्रमाण यदि अविनाभावमूलक है तो वह अनुमान में ही अन्तर्भूत हो जाता है। सेर में छटाँक की सम्भावना एक

---

244 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ४

245 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ५–८।

246 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ९।

247 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ३०।

निश्चित अविनाभावी माप के नियमों से सम्बन्ध रखती है। यदि वह अविनाभाव के बिना ही होता है तो उसे प्रमाण ही नहीं कह सकते।

अभाव स्वतन्त्र प्रमाण नहीं—

मीमांसक अभाव को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि [२४८]भावरूप प्रमेय के लिए जैसे भावात्मक प्रमाण होता है उसी तरह अभावरूप प्रमेय के लिए अभावरूप प्रमाण की ही आवश्यकता है। [२४९]वस्तु सत् और असत् उभयरूप है। इनमें इन्द्रिय आदि के द्वारा सदंश का ग्रहण हो जाने पर भी असदंश के ज्ञान के लिए अभावप्रमाण अपेक्षित होता है। [२५०]जिस पदार्थ का निषेध करना है उसका स्मरण, जहाँ निषेध करना है उसका ग्रहण होने पर मन से ही जो 'नास्ति' ज्ञान होता है वह अभाव है। जिस[२५१] वस्तुरूप में सद्भाव के ग्राहक पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती उसमें अभाव बोध के लिए अभावप्रमाण प्रवृत्ति करता है। [२५२]अभाव यदि न माना जाय तो प्रागभावादिमूलक समस्त व्यवहार नष्ट हो जाएँगे। वस्तु की परस्पर प्रतिनियत रूप में स्थिति अभाव के अधीन है। दूध में दही का अभाव प्रागभाव है। दही में दूध का अभाव प्रध्वंसाभाव है। घट में पट का अभाव अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव है और खरविषाण का अभाव अत्यन्ताभाव है।

किन्तु वस्तु उभयात्मक है, इसमें विवाद नहीं है, पर अभावांश भी वस्तु का धर्म होने से यथा सम्भव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान ओर अनुमान आदि प्रमाणों से ही गृहीत हो जाता है। भूतल और घट को 'सघटं भूतलम्' इस एक प्रत्यक्ष ने जाना था। पीछे शुद्ध भूतल को जाननेवाला प्रत्यक्ष ही घटाभाव को ग्रहण कर लेता है, क्योंकि घटाभाव शुद्धभूतलादि रूप ही तो है। अथवा 'यह वही भूतल है जो पहले घटसहित था' इसप्रकार का प्रत्यभिज्ञान भी अभाव को ग्रहण कर सकता है। अनुमान के प्रकरण में उपलब्धि और अनुपलब्धि अनेक हेतुओं के उदाहरण दिये गये हैं जो अभावों के ग्राहक होते हैं। यह कोई नियम नहीं है कि भावात्मक प्रमेय के लिए भावरूप प्रमाण और अभावात्मक प्रमेय के लिए अभावात्मक प्रमाण ही माना जाय; क्योंकि उड़ते हुए पत्तों के नीचे न गिरने रूप अभाव से आकाश में वायु का

---

248 'मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्।
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता।।
त्थैवाभावमेयेऽपि न भावास्य प्रमाणता।'' — मी. श्लों. अभाव. श्लों. ४५।४६।

249 मी. श्लों. अर्था. श्लों. १२—१४।

250 गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायते अक्षानपेक्षया।' — मी. श्लों. अर्था. श्लों. २७।

251 मी. श्लों. अर्था. श्लों. १।

252 मी. श्लों. अर्था. श्लों. ७।

सद्भाव माना जाता है और शुद्धभूतलग्राही प्रत्यक्ष से घटाभाव का बोध तो प्रसिद्ध ही है। घट का प्रागभाव मृत्पिंड को छोड़कर अन्य नहीं बताया जा सकता। [२५३]अभाव भावान्तररूप होता है, यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है। अतः जब प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा ही उसका ग्रहण हो जाता है तब स्वतन्त्र अभावप्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

कथा—विचार—

परार्थानुमान के प्रसंग में कथा का अपना विशेष स्थान है। पक्ष और प्रतिपक्ष ग्रहण कर वादी और प्रतिवादी में जो वचन—व्यवहार स्वमत के स्थापन पर्यन्त चलता है उसे कथा कहते है। न्याय—परम्परा में कथा के तीन भेद माने गये हैं— १. वाद, २. जल्प और ३. वितण्डा। तत्त्व के जिज्ञासुओं की कथा को वाद कहा जाता है। जय—पराजय के इच्छुक विजिगीषुओं की कथा जल्प और वितण्डा है। दोनों कथाओं में पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह आवश्यक है। [२५४]वाद में प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण किये जाते हैं। इसमें सिद्धान्त से अविरूद्ध पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग अनिवार्य होने से न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास इन आठ निग्रहस्थानों का प्रयोग उचित माना गया है। अन्य छल, जाति आदि का प्रयोग इस वादकथा में वर्जित है। इसका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। [२५५]जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायों का अवलम्बन लेना भी न्याय माना गया है। इनका उद्देश्य तत्त्वसंरक्षण करना है और तत्त्व की संरक्षा किसी भी उपाय से करने में इन्हें आपत्ति नहीं है। न्यायसूत्र (४।२।५०) में स्पष्ट लिखा है कि जिस तरह अंकुर की रक्षा के लिए काँटे के समान छल, जाति आदि असत् उपायों का अवलम्बन लेना भी अनुचित नहीं है। [२५६]जनता मूढ़ और गतानुगतिक होती है। वह दुष्ट वादी के द्वारा ठगी जाकर कुमार्ग में न चली जाय, इस मार्ग—संरक्षण के उद्देश्य से कारुणिक मुनि ने छल आदि जैसे असत् उपायों का भी उपदेश दिया है।

वितण्डा कथा में वादी अपने पक्ष के स्थापन की चिन्ता न करके केवल प्रतिवादी पक्ष में दूषण—ही—दूषण देकर उसका मुँह बन्द

---

253 'भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽनुपलम्भवत्।
अभावः सम्मतस्तस्य हेतोः किन्न समुद्भवः?' —उद्धृत, प्रमेयक. पृ. १६०।

254 न्यायसू. १।२।१।

255 न्यायसू. १।२।२,३।

256 ''गतानुगतिको लोकः कुमार्ग तत्प्रतारितः।
मागादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः।।'' —व्यायमं. पृ. ११।

कर देता है, जब कि जल्प कथा में परपक्ष खण्डन के साथ ही साथ स्वपक्ष–स्थापन भी आवश्यक होता है।

इस तरह स्वमतसंरक्षण के उद्देश्य से एक बार छल, जाति जैसे असत् उपायों के अवलम्बन की छूट होने पर तत्त्वनिर्णय गौण हो गया; और शास्त्रार्थ के लिए ऐसी नवीन भाषा की सृष्टि की गई, जिसके शब्दजाल में प्रतिवादी इतना उलझ जाय कि वह अपना पक्ष ही सिद्ध न कर सके। इसी भूमिका पर केवल व्याप्ति, हेत्वाभास आदि अनुमान के अवयवों पर सारे नव्यन्याय की सृष्टि हुई। जिनका भीतरी उद्देश्य तत्त्वनिर्णय की अपेक्षा तत्त्वसंरक्षण ही विशेष मालूम होता है। चरक के विमान स्थान में संधाय–संभाषा और विगुह्य–सम्भाषा ये दो भेद उक्त वाद और जल्प वितण्डा के अर्थ में ही आये हैं। यद्यपि नैयायिक ने छल आदि को असद् उत्तर माना है और साधारण अवस्था में उसका निषेध भी किया है, परन्तु किसी भी प्रयोजन से जब एक बार छल आदि घुस गये तो फिर जय–पराजय के क्षेत्र में उन्हीं का राज्य हो गया।

बौद्ध परम्परा के प्राचीन उपायहृदय और तर्कशास्त्र आदि में छलादि के प्रयोग का समर्थन देखा जाता है, किन्तु आचार्य धर्मकीर्ति ने इसे सत्य और अहिंसा की दृष्टि से उचित न समझकर अपने वादन्याय ग्रन्थ में उनका प्रयोग सर्वथा अमान्य और अन्याय ठहराया है। इसका भी कारण यह है कि बौद्ध परम्परा में धर्मरक्षा के साथ संघरक्षा का भी प्रमुख स्थान है। उनके [२५७]त्रिशरण में बुद्ध और धर्म की शरण जाने के साथ ही साथ संघ के शरण में भी जाने की प्रतिज्ञा की जाती है। जबकि जैन परम्परा में संघशरण का कोई स्थान नहीं है। इनके [२५८]चतु:शरण में अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण को ही प्राप्त होना बताया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि संघरक्षा और संघप्रभावना के उद्देश्य से भी छलादि असद् उपायों का अवलम्बन करना जो प्राचीन बौद्ध तर्कग्रन्थों में घुस गया उसमें सत्य और अहिंसा की धर्मदृष्टि कुछ गौण तो अवश्य हो गयी है। धर्मकीर्ति ने इस असंगति को समझा और हर हालत में छल, जाति आदि असत् प्रयोगों को वर्जनीय ही बताया है।

साध्य की तरह साधनों की भी पवित्रता–

---

257 ''बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघ सरणं गच्छामि।''

258 ''चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।''
–चत्तारि दंडक।

जैन तार्किक पहले से ही सत्य और अहिंसारूप धर्म की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाने को सदा प्रस्तुत रहे हैं। उनके संयम और त्याग की परम्परा साध्य की तरह साधनों की पवित्रता पर भी प्रथम से ही भार देती आयी है। यही कारण है कि जैनदर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में कहीं पर भी किसी भी रूप में छलादि के प्रयोग का आपवादिक समर्थन भी नहीं देखा जाता। इसके एक ही अपवाद हैं, श्वेताम्बर परम्परा के अठारहवीं सदी के आचाय्र यशोविज। जिन्होंने वादद्वात्रिंशतिका[२५९] में प्राचीन बौद्ध तार्किकों की तरह शासन–प्रभावना के मोह में पड़कर अमुक देशादि में आपवादिक छलादि के प्रयोग को भी उचित मान लिया है। इसका कारण भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा की मूल प्रकृति में समाया हुआ है। दिगम्बर निर्ग्रन्थ परम्परा अपनी कठोर तपस्या, त्याग और वैराग्य के मूलभूत अपरिग्रह और अहिंसारूपी धर्मस्तम्भों में किसी भी प्रकार का अपवाद किसी भी उद्देश्य से स्वीकार करने को तैयार नहीं रही, जबकि श्वेताम्बर परम्परा बौद्धों की तरह लोकसंग्रह की ओर भी झुकी। चूँकि लोकसंग्रह के लिए राजसम्पर्क, वाद और मतप्रभावना आदि करना आवश्यक थे इसीलिए व्यक्तिगत चारित्र की कठोरता भी कुछ मृदुता में परिणत हुई। सिद्धान्त की तनिक भी ढिलाई पानी की तरह अपना रास्ता बनाती ही जाती है। दिगम्बर परम्परा के किसी भी तर्कग्रन्थ में छलादि के प्रयोग के आपवादिक औचित्य का नहीं मानना और इन असद् उपायों के सर्वथा परिवर्जन का विधान, उनकी सिद्धान्त–स्थिरता का ही प्रतिफल है। अकलंकदेव ने इसी सत्य और अहिंसा की दृष्टि से ही छलादिरूप असद् उत्तरों के प्रयोग को सर्वथा अन्याय और परिवर्जनीय माना[२६०] है। अतः उनकी दृष्टि से वाद और जल्प में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसलिए वे संक्षेप में समर्थवचनों को वाद[२६१] कहकर भी कहीं वाद के स्थान में जल्प[२६२] शब्द का भी प्रयोग कर देते हैं। उनने बतलाया है कि मध्यसीों के समक्ष वादी और प्रतिवादियों के स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूप वचन को वाद कहते हैं। वितण्डा[२६३] वादाभास है, जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र खण्डन ही खण्डन करता है[२६४], जो सर्वथा त्याज्य है। न्यायदीपिका (पृ. ७९) तत्त्वनिर्णय या तत्त्वज्ञान के विशुद्ध प्रयोजन से जय–पराजय की भावना से रहित

---

259 ''अयमेव विधेयस्तत्तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षयाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्।।'' –द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ८।६।

260 देखो, सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि (५वाँ परिच्छेद)।

261 ''समर्थवचनं वादः'' –प्रमाणसं. श्लो. ५१।

262 ''समर्थवचनं जल्पं चतुरंग विदूर्बुधाः।
पक्षनिर्णयपर्य्यनतं फलं मार्गप्रभावना।।'' –सिद्धिवि, ५।२।

263 ''तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः।'' –न्यायवित्र २।३८४।

264 ''यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रह सीनसाधनोपालम्भो जल्पः।
स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।'' –न्याय सूत्र १।२।२–३।

गुरु–शिष्य या वीतरागी विद्वानों में तत्त्वनिर्णय तक चलनेवाले वचनव्यवहार को वीतराग कथा कहा है और वादी तथा प्रतिवादी में स्वमत–स्थापन के लिए जय–पराजय पर्यन्त चलनेवाले वचनव्यवहार को विजिगीषु कथा कहा है।

वीतराग कथा सभापति और सभ्यों के अभाव में भी चल सकती है और जब कि विजिगीषु कथा में वादी और प्रतिवादी के साथ सभ्य और सभापति का होना भी आवश्यक है। सभापति के बिना जय और पराजय का निर्णय कौन देगा? और उभयपक्षवेदी सभ्यों के बिना स्वमतोन्मत्त वादिप्रतिवादियों को सभापति के अनुशासन में रखने का कार्य कौन करेगा? अतः वाद चतुरंग होता है।

जय–पराजयव्यवस्था–

नैयायिकों ने जब जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग स्वीकार कर लिया तब डनहीं के आधार पर जयपराजय की व्यवस्था बनी। इन्होंने प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थान माने हैं। सामान्य से 'विप्रतिपत्ति– विरुद्ध या असम्बद्ध कहना ओर अप्रतिपत्ति–पक्षस्थापन नहीं करना, प्रतिवादी के द्वारा स्थापित का प्रतिषेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध स्वपक्ष का उद्धार नहीं करना' ये दो ही निग्रहस्थान[२६५]–पराजयस्थान होते हैं। इन्हीं के विशेष भेद प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस[२६६] हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञा की हानि करदे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद, वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ सके, हेतु, दृष्टान्त आदि का क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून या अधिक कहे जाँय पुनरुक्ति हो, प्रतिवादी वादी के द्वारा कहे गये पक्ष का अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, दूषण को अर्ध स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहयोग्य के लिए निग्रह स्थान का उद्‌भावन न कर सके, जो निग्रह योग्य नहीं है, उसे निग्रह स्थान बतावे, सिद्धान्तविरुद्ध बोले, हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगी। ये शास्त्रार्थ कानून हैं, जिनका थोड़ा–सा भंग होने पर सत्यसाधनवादी के हाथ में भी पराजय आ सकती है और दुष्ट साधनवादी इन अनुशासन के नियमों को पालकर जयलाभ भी कर सकता है। तात्पर्य यह कि यहाँ शास्त्रार्थ के नियमों का बारीकी से पालन करने और न करने का प्रदर्शन ही जय और पराजय का आधार हुआ; स्वपक्षसिद्धि या परपक्षदूषण जैसे मौलिक कर्तव्य नहीं। इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि पञ्चावयव

---

265 ''विप्रतिपत्तिप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।'' –न्यायसू. १।२।१९।

266 न्यायसू. ५।२।१।

वाले अनुमानप्रयोग में कुछ कमी–बेसी और क्रमभंग यदि होता है तो उसे पराजय का कारण होना ही चाहिए।

धर्मकीर्ति आचाय्र ने इन छल, जाति और निग्रहस्थानों के आधार से होनेवाली जय–पराजय–व्यवस्था का खण्डन करते हुए लिखा है कि जयपराजय की व्यवस्था की इसप्रकार घुटाले में नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादी का मात्र इसिलए निग्रह होना कि 'वह कुछ अधिक बोल गया या कम बोल गया या उसने अमुक कायदे का बाकायदा पालन नहीं किया' सत्य, अहिंसा और न्याय की दृष्टि से उचित नहीं है। अत: वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमश: असाधनांगवचन और अदोषोद्‌भावन ये दो ही निग्रहस्थान[२६७] मानना चाहिए। वादी का कर्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले और प्रतिवादी का कार्य है कि वह यथार्थ दोषों का उद्‌भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधने के अंग नहीं है ऐसे वचन कहता है यानी साधनांग का अवचन या असाधनांग का वचन करता है तो उसकी असाधनांग वचन होने से पराजय होगी। इसी तरह प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषों का उद्‌भावन न कर सके या जो वस्तुत: दोष नहीं है उन्हें दोष की जगह बोले तो दोषानुद्‌ीाावन और अदोषोद्‌भावन होने से उसकी पराजय अवश्यमीावी है।

इस तरह सामान्यलक्षण करने पर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपले में पड़ गये हैं। [२६८]उन्होंने असाधनांग वचन और आदोषोद्‌भावन के विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक किसी एक दृष्टान्त से ही साध्य की सिद्धि जब सम्भव है तब दोनों दृष्टान्तों का प्रयोग करना असाधनांगवचन होगा। त्रिरूप हेतु का वचन साधनांग है। उसका कथन न करना असाधनांग है। प्रतिज्ञा, निगमन आदि साधन के अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांग है। इसी तरह उनने अदोषोद्‌भावन के भी विविध व्याख्यान किये हैं। यानी कुछ कम बोलना या अधिक बोलना, इनकी दृष्टि में भी अपराध है। यह सब लिखकर भी अन्त में उनने सूचित किया है कि स्वपक्ष–सिद्धि और परपक्ष–निराकरण ही जय–पराजय की व्यवस्था के आधार होना चाहिए।

[२६९]आचार्य अकलंकदेव असाधनांग वचन तथा अदोषोद्भावन के झगड़े को भी पसन्द नहीं करते। त्रिरूप को साधनांग माना जाय,

---

267 ''असाधननांगवचनमदोषोद्भावनं द्वयो:।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तिमिति नेष्यते।।'' –वादन्याय, पृ. १।

268 देखो, वादन्याय, प्रथम प्रकरण।

269 ''तदुक्तम्–स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन:।

पंचरूप को नहीं, किस को दोष माना जाय, किसको नहीं' यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थ का विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ जब बौद्ध, नैयायिक और जैनों के बीच चलते हैं, जो क्रमशः त्रिरूपवादी, पंचरूपवादी और एकरूपवादी हैं तब हर एक दूसरे की अपेक्षा असाधनांगवादी हो जाता है। ऐसी अवस्था में शास्त्रार्थ के नियम स्वयं ही शास्त्रार्थ के विषय बन जाते हैं। अतः उन्होंने बताया कि वादी का काम है कि वह अविनाभावी साधन से स्वपक्ष की सिद्धि करे और परपक्ष का निराकरण करे। प्रतिवादी का कार्य है कि वह वादी के स्थापित पक्ष में यथार्थ दूषण दे और अपने पक्ष की सिद्धि भी करे। इस तरह स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष का निराकरण ही बिना किसी लागलपेट के जय और पराजय के आधार होने चाहिए। इसी में सत्य, अहिंसा और न्याय की सुरक्षा है। स्वपक्ष की सिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक भी बोल जाय तो भी कोई हानि नहीं है। ''स्वपक्षं प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्, लोकवत्'' अर्थात् अपने पक्ष को सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी यदि सीधे [२७०]विरुद्ध हेत्वाभास का उद्भावन करता है तो उसे स्वतन्त्र रूप से पक्ष की सिद्धि करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि वादी के हेतु को विरुद्ध कहने से प्रतिवादी का पक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। असिद्धादि हेत्वाभासों के उद्भावन करने पर तो प्रतिवादी को अपने पक्ष की सिद्धि करना भी अनिवार्य है। स्वपक्ष की सिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थ के नियमों के अनुसार चलने पर भी किसी भी हालत में जय का भागी नहीं हो सकता।

इसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिक के मत से छल आदि का प्रयोग करके अपने पक्ष की सिद्धि किये बिना ही सच्चे साधन बोलनेवाले भी वादी को प्रतिवादी जीत सकता है। बौद्ध परम्परा में छलादि का प्रयोग वर्ज्य है, फिर भी यदि वादी असाधनांगवचन और प्रतिवादी अदोषोद्भावन करता है तो उनका पराजय होता है। वादी को असाधनांगवचन से पराजय तब होगा जब प्रतिवादी यह बता दे कि वादी ने असाधनांगवचन किया है। इस असाधनांगवचन में जिस विषय को लेकर शास्त्रार्थ चला है, उससे असम्बद्ध बातों का कथन और नाटक आदि की घोषणा आदि भी ले लिए गए हैं। एक स्थल ऐसा भी आ सकता है, जहाँ दुष्टसाधन बोलकर भी वादी पराजित नहीं होगा। जैसे वादी ने दुष्ट साधन का प्रयोग किया। प्रतिवादी ने यथार्थ दोष का उद्भावन न करके अन्य दोषाभासों का उद्भावन किया, फिर वादी ने

नासाधनांगवचनं नादोषोद्भाबनं द्वयोः।।'' —उद्धृत अष्टसह. पृ. ८७।

270 ''अकलंकोऽप्यभ्यधात्—विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते।।'' —त. श्लो., पृ. २८०। रत्नाकरावतारिका, पृ. ११४१।

प्रतिवादी के द्वारा दिये गये दोषाभासों का परिहार कर दिया। ऐसी अवस्था में प्रतिवादी दोषाभास का उद्भावन करने के कारण पराजित हो जायगा। यद्यपि दुष्ट साधन बोलने से वादी को जय नहीं मिलेगा, किनतु वह पराजित भी नहीं माना जायगा। इसी तरह एक स्थल ऐसा है जहाँ वादी निर्दोष साधन बोलता है, प्रतिवादी की दूषणाभासता नहीं बताता। ऐसी दशा में किसी को जय या पराजय न होगी। प्रथम अकलंकदेव स्वपक्षसिद्धि ओर परपक्षनिराकरणमूलक जय और पराजय की व्यवस्था के आधार से यह कहते हैं कि यदि प्रतिवादी को दूषणाभास कहने के कारण पराजय मिलती है तो वादी की भी साधनाभास कहने के कारण पराजय होनी चाहिए, क्योंकि यहाँ वादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सका है। अकलंकदेव के मत से एक का स्वपक्ष सिद्ध करना ही दूसरे के पक्ष की असिद्धि हे। अत: जय का मूल आधार स्वपक्षसिद्धि है और पराजय का मूल कारण पक्ष का निराकृत होना है। तात्पर्य यह कि जब 'एक के जय में दूसरे की पराजय अवश्यमीावी है' ऐसा नियम है तब स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष निराकृति ही जय–पराजय के आधार माने जाने चाहिए। बौद्ध वचनाधिक्य आदि को भी दूषणों में शामिल करके उलझ जाते हैं।

सीधी बात है कि परस्पर दो विरोधी पक्षों को लेकर चलनेवाले वाद में जो भी अपना पक्ष सिद्ध करेगा, वह जयलाभ करेगा और अर्थात् ही दूसरे का, पक्ष का निराकरण होने के कारण पराजय होगा। यदि कोई भी अपनी पक्षसिद्धि नहीं कर पाता है और एक–वादी या प्रतिवादी वचनाधिक्य कर जाताहै तो इतने मात्र से उसकी पराजय नहीं होनी चाहिए। या दोनों की ही पराजय हो या दोनों को ही जयाभाव रहे। अत: स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष–निराकरणमूलक ही जयपराजय व्यवस्था सत्य और अहिंसा के आधार से न्याय है। छोटे–मोटे वचनाधिक्रू आदि के कारण न्यायतुला को नहीं डिगने देना चाहिए। वादी सच्चे साधन बोलकर अपने पक्ष की सिद्धि करने के बाद वचनाधिक्य और नाटकादि की घोषणा भी करे, तो भी वह जयी ही होगा। इसी तरह प्रतिवादी वादी के पक्ष में यथार्थ दूषण देकर यदि अपने पक्ष की सिद्धि कर लेता है, तो वह भी वचनाधिक्य करने के कारण पराजित नहीं हो सकता। इस व्यवस्था में एक साथ दोनों को जय या पराजय का प्रसंग नहीं आ सकता। एक की स्वपक्षसिद्धि में दूसरे के पक्ष का निराकरण गर्भित है ही, क्योंकि प्रतिपक्ष की असिद्धि बताये बिना स्वपक्ष की सिद्धि परिपूर्ण नहीं होती।

पक्ष के ज्ञान और अज्ञान से जय–पराजय व्यवस्था मानने पर तो पक्षप्रतिपक्ष का परिग्रह करना ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि किसी

एक ही पक्ष में वादी और प्रतिवादी के ज्ञान और अज्ञान की जाँच की जा सकती है।

पत्र—वाक्य—

लिखित शास्त्रार्थ में वादी और प्रतिवादी परस्पर जिन लेख—प्रतिलेखों का आदान—प्रदान करते हैं, उन्हें पत्र कहते हैं। अपने पक्ष की सिद्धि करनेवाले निर्दोष और गूढ़ पद जिसमें हों, जो प्रसिद्ध अवयवही पर्याप्त हैं, इतने मात्र से व्युत्पन को अर्थप्रतीति हो जाती है। अव्युत्पन्न श्रोताओं की अपेक्षा तीन अवयव, चार अवयव और पाँच अवयवों वाला भी पत्रवाक्य हो सकता है। पत्रवाक्य में प्रकृति और प्रत्ययों को गुप्त रखकर उसे अत्यन्त गूढ़ बनाया जाता है, जिससे प्रतिवादी सहज ही उसका भेदन न कर सके। जैसे— 'विश्वम् अनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वात्' इस अनुमानवाक्य के लिए यह गूढ़ पत्र प्रस्तुत किया जाता है—

''स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मदुभान्तवाक्।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीत स्वात्मकत्वत:।।'' —प्रमेयक., पृ. ६८५।

जब कोई वादी पत्र देता है और प्रतिवादी उसके अर्थ को समझकर खण्डन करता है, उस समय यदि वादी यह कहे कि 'यह मेरे पत्र का अर्थ नहीं है'; तब उससे पूँछना चाहिए कि 'जो आपके मन में वह इसका अर्थ है? या जो इस वाक्यरूप पत्र से प्रतीत होता है वह है, या जो आपके मन में भी है और वाक्य से प्रतीत भी होता?' प्रथम विकल्प में पत्र का देना ही निरर्थक है; क्योंकि जो अर्थ आपके मन में मौजूद है उसका जानना ही कठिन है, यह पत्रवाक्य तो उसका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। द्वितीय विकल्प ही उचित मालूम पड़ता है कि प्रकृति, प्रत्यय आदि के विभाग से जो अर्थ उस पत्रवाक्य से प्रतीत होता हो, उसी का साधन और दूषण शास्त्रार्थ में होना चाहिए। इसमें प्रकरण आदि से जितने भी अर्थ सम्भव हों वे सब उस पत्रवाक्य के अर्थ माने जाँएगे। इसमें वादी के द्वारा इष्ट होने की शर्त नहीं लगाई जा सकती; क्योंकि जब शब्द से प्रतीत हुआ और वही वादी के मन में भी था, फिर भी यदि दुराग्रहवश वादी यह कहने को उतारू हो जाय कि 'यह मेरा अर्थ ही नहीं है', तो उस समय कोई नियन्त्रण नहीं रखा जा सकेगा। अत: इसका एकमात्र सीधा मार्ग है कि जो प्रसिद्धि के अनुसार उन शब्दों से प्रतीत हो, वही अर्थ माना जाय।

यद्यपि वाक्य श्रोत्र—इन्द्रिय के द्वारा सुने जानेवाले पदों के समुदाय रूप होते हैं और पत्र होता है एक कागज का लिखित टुकड़ा,

फिर भी उसे उपचरितोपचार विधि से वाक्य कहा जा सकता है। यानी कान से सुनाई देनेवाले पदों का सांकेतिक लिपि के आकारों में उपचार होता है और लिपि के आकारों में उपचरित वाक्य का कागज आदि पर लिखित पत्र में उपचार किया जाता है। अथवा पत्र—वाक्य की 'पदों का त्राण अर्थात् प्रतिवादी से रक्षण हो जिन वाक्यों के द्वारा, उसे पत्र वाक्य कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मुख्यरूप से कान से सुनाई देनेवाले वाक्य को पत्र—वाक्य कह सकते हैं।

५. आगम—श्रुत—

मतिज्ञान के बाद जिस दूसरे ज्ञान का परोक्ष रूप से वर्णन मिलता है, वह है श्रुतज्ञान। परोक्ष प्रमाण में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञान की पर्यायें हैं जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो श्रुत प्रकट होता है, उसका वर्णन सिद्धान्त—आगमग्रन्थों में भगवान् महावीर की पवित्र वाणी के रूप में पाया जाता है। तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी दिव्य—ध्वनि से प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांग रूप में ग्रथन गणधरों के द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अंगप्रविष्अ कहा जाता है और जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्यप्रशिष्यों के द्वारा रचा जाता है, वह अंगबाह्य श्रुत है। अंग—प्रविष्ट श्रुत के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंगबाह्य श्रुत कालिक, उत्कालिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का हे। यह वर्णन आगमिकदृष्टि से है। जैन परम्परा में श्रुत प्रमाण के नाम से इन्हीं द्वादशांग और द्वादशांगानुसारी अन्य शास्त्रों का आगम या श्रुत की मर्यादा में लिया जाता है। इसके मूलकर्ता तीर्थंकर हैं और उत्तरकर्ता उनके साक्षात् शिष्य गणधर तथा उत्तरोत्तर कर्ता प्रशिष्य आदि आचाग्र परम्परा है। इन व्याख्या से आगम प्रमाण या श्रुत वैदिक परम्परा के 'श्रुति' शब्द की तरह अमुक ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाती है।

परन्तु परोक्ष आगम प्रमाण से इतना ही अर्थ इष्ट नहीं है, किन्तु व्यवहार में भी अविसंवादी और अवंचक आप्त के वचनों को सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह भी आगम की मर्यादा में आता है। इसलिए अकलंकदेव[२७१] ने आप्त का व्यापक अर्थ किया है कि जो जिस विषय में अविसंवादक हे वह उस विषय में आप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषय में अविसंवादकता या अवंचकता का होना ही मुख्य शर्त है। इसलिए व्यवहार में होनेवाले शब्दजन्य

---

271 ''यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थ ज्ञानात्।'' —अष्टश., अष्टसह., पृ. २३६।

अर्थबोध को भी एक हद तक आगम प्रमाण में स्थान मिल जाता है। जैसे कोई कलकत्ते का प्रत्यक्षद्रष्टा यात्री आकर कलकत्ते का वर्णन करे तो उन शब्दों को सुनकर वक्ता को प्रमाण माननेवाले श्रोता को जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी आगमप्रमाण में शामिल है।

वैशेषिक और बौद्ध आगमज्ञान को भी अनुमानप्रमाण में अन्तर्भूत करते हैं; परन्तु शब्दश्रवण, संकेतस्मरण आदि सामग्री से लिंगदर्शन और व्याप्तिस्मरण के बिना ही होनेवाला यह आगमज्ञान अनुमान में शामिल नहीं हो सकता। श्रुत या आगमज्ञान केवल आप्त के शब्दों से ही उत्पन्न नहीं होता, किन्तु हाथ के इशारे आदि संकेतों से और ग्रन्थ की लिपि को पढ़ने से आदि से भी होता है। इनमें संकेत स्मरण ही मुख्य प्रयोजक है।

श्रुत के तीन भेद—

अकलंकदेव ने प्रमाणसंग्रह में[२७२] श्रुत के प्रत्यक्षनिमित्तक, अनुमाननिमित्तक तथा आगमनिमित्तक ये तीन भेद किये हैं। परोपदेश की सहायता लेकर प्रत्यक्ष से उत्पन्न होनेवाला श्रुत प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत है, परोपदेशसहित लिंग से उत्पन्न होनेवाला श्रुत अनुमानपूर्वक श्रुत और केवल परोपदेश से उत्पन्न होनेवाला श्रुत आगम निमित्तक श्रुत है। जैनतर्कवार्तिककार[२७३] प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत को नहीं मानकर परोपदेशज और लिंगनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते हैं। तात्पर्य यह कि जेनपरम्परा ने आगम प्रमाण में मुख्यतया तीर्थंकर की वाणी के आधार से साक्षात् या परम्परा से निबद्ध ग्रन्थविशेषों को लेकर भी उसके व्यावहारिक पक्ष को नहीं छोड़ा है। व्यवहार में प्रामाणिक वक्ता के शब्द को सुनकर या हस्तसंकेत आदि को देखकर संकेतस्मरण से जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आगम प्रमाण में शामिल है। आगमवाद और हेतुवाद का क्षेत्र अपना—अपना निश्चित है— अर्थात् आगम के बहुत से अंश ऐसे हो सकते हैं, जहाँ कोई हेतु या युक्ति नहीं चलती। ऐसे विषयों में युक्तिसिद्ध वचनों की एककर्तृकता से युक्त्यसिद्ध वचनों का भी प्रमाण मान लिया जाता है।

आगमवाद और हेतुवाद—

जैन परम्परा ने वेद के अपौरुषेयत्व और स्वत: प्रामाण्य को नहीं माना है। उसका कारण यह है कि कोई भी ऐसा शब्द, जो धर्म और उसके नियम—उप—नियमों का विधान करता हो, वीतराग और तत्त्वज्ञ पुरुष का आधार पाये बिना अर्थबोध नहीं करा सकता। जिनकी

---

272 ''श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्।'' —प्रमाणासं., पृ. १।

273 जैनतर्कवार्तिक, पृ. ७४।

शब्द–रचना में एक सुनिश्चित क्रम, भाव प्रवणता और विशेष उद्देश्य की सिद्धि करने का प्रयोजन हो, वे वेद बिना पुरुष प्रयत्न के चले आये, यह सम्भव नहीं, अर्थात् अपौरुषेय नहीं हो सकते। वैसे मेघ–गर्जन आदि बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिनका कोई विशेष अर्थ या उद्देश्य नही होता, वे भले ही अपौरुषेय हों; पर उनसे किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

वेद को अपौरुषेय मानने का मुख्य प्रयोजन था– पुरुष की शक्ति और तत्त्वज्ञता पर अविश्वास करना। यदि पुरुषों की बुद्धि को स्वतन्त्र विचार करने की छूट दी जाती है तो किसी अतीन्द्रिय पदार्थ के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं बन सकता था। धर्म (यज्ञ आदि) इस पदार्थ में अतीन्द्रिय है कि उसके अनुष्ठान करने से जो संस्कार या अपूर्व पैदा होता है; वह कभी भी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं होता, और न उसका फल स्वर्गादि ही इन्द्रियाग्राह्य होते हैं। इसीलिए 'परलोक है या नहीं' यह बात आज भी विवाद और संदेह की बनी हुई है। मीमांसक ने मुख्यतया पुरुष की धर्मज्ञता का ही निषेध किया है। उसका कहना है कि धर्म और उसके नियम–उपनियमों को वेद के द्वारा जानकर बाकी संसार के सब पदार्थों का यदि कोई साक्षात्कार करता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। सिर्फ धर्म में अन्तिम प्रमाण वेद ही हो सकता है, पुरुष का अनुभव नहीं। किसी भी पुरुष का ज्ञान इतना विशुद्ध और व्यापक नहीं हो सकता है कि वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी परिज्ञान कर सके, और न पुरुष में इतनी वीतरागता आ सकती है, जिससे वह पूर्ण निष्पक्ष रहकर धर्म का प्रतिपादन कर सके। पुरुष प्रायः अनृतवादी होते हैं। उनके वचनों पर पूरा–पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता।

वैदिक परम्परा में ही जिन नैयायिक आदि ने नित्य ईश्वर को वेद का कर्ता कहा है उसके विषय में भी मीमांसक का कहना है कि किसी ऐसे समय की कल्पना ही नहीं की जा सकती कि जब वेद न रहा हो। ईश्वर सर्वज्ञता भी उसके वेदमय होने के कारण ही सिद्ध होती है, स्वतः नहीं।

तात्पर्य यह कि जहाँ वैदिक परम्परा में धर्म का अन्तिम और निर्बाध अधिकार सूत्र वेद के हाथ में है, वहाँ जैन परम्परा में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन तीर्थंकर (पुरुष विशेष) करते हैं। वे अपनी साधना से पूर्ण वीतरागता और तत्त्वज्ञता प्राप्तकर धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के भी साक्षात्द्रष्टा हो जाते हैं। उनके लोकभाषा में होनेवाले उपदेशों का संग्रह और विभाजन उनके शिष्य गणधर करते हैं। यह कार्य द्वादशांग–रचना के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परा में जहाँ किसी धर्म के नियम

और उपनियम में विवाद उपस्थित होता है तो उसका समाधान वेद के शब्दों में ढूँढना पड़ता है जब कि जैन परम्परा में ऐसे विवाद के समय किसी भी वीतराग तत्त्व के वचन निर्णायक हो सकते हैं। यानी पुरुष इतना विकास कर लेता है कि वह स्वयं तीर्थंकर बनकर तीर्थ (धर्म) का प्रवर्तन भी करता है। इसीलिए उसे 'तीर्थंकरोतीति तीर्थंकर:' तीर्थंकर कहते हैं। वह केवल तीर्थज्ञ ही नहीं होता। इस तरह मूलरूप में धम्र के कर्ता और मोक्षमार्ग के नेता ही धर्मतीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। आगे उन्हीं के वचन 'आगम' कहलाते हैं। ये सर्वप्रथम गणधरों के द्वारा 'अंगश्रुत' के रूप में ग्रथित होते हैं। इनके शिष्य–प्रशिष्य तथा अन्य आचार्य उन्हीं आगम–ग्रन्थों का आधार लेकर जो नवीर ग्रन्थ रचना करते हैं वह 'अंगबाह्य' साहित्य कहलाता है। दोनों की प्रमाणकता का मूल आधार पुरुष का निर्मल ज्ञान ही है। यद्यपि आज वैसे निर्मल ज्ञानी साधक नहीं होते, फिर भी जब वे हुए थे तब उन्होंने सर्वज्ञप्रणीत आगम का आधार लेकर ही धर्मग्रन्थ रचे थे।

आज हमारे सामने दो ज्ञानक्षेत्र स्पष्ट खुले हुए हैं– एक तो वह ज्ञानक्षेत्र, जिसमें हमारा प्रत्यक्ष, युक्ति तथा तर्क चल सकते हैं और दूसरा वह क्षेत्र, जिसमें तर्क आदि की गुञ्जाइश नहीं होती, अर्थात् एक हेतुवाद पक्ष और दूसरा आगमवाद पक्ष। इस सम्बन्ध में जैनआचार्यों ने अपनी नीति बहुत विचार के बाद यह स्थिर की है कि हेतुवाद पक्ष में हेतु से और आगमवादपक्ष में आगम से व्यवस्था करनेवाला स्वसमय का प्रज्ञापक–आराधक होता है और अन्य सिद्धान्त का विराधक होता है। जैसा कि आचार्य सिद्धसेन की इस गाथा से स्पष्ट है–

''जो हेउवायपक्खम्सि हेउओ आगमम्मि आगमओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अण्णे।।''

—
सन्मति.
३।४५।

आचार्य[२७४] समन्तभद्र ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं कि जहाँ वक्ता अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष हों वहाँ हेतु से ही तत्त्व की सिद्धि करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त– सर्वज्ञ और वीतराग हो वहाँ उसके वचनों पर विश्वास करके भी तत्त्वसिद्धि की जा सकती है। पहला प्रकार हेतुसाधित कहलाता है और दूसरा प्रकार आगमसाधित। मूल में पुरुष

---

274 ''वक्तर्यनाप्यते यद्धेतो: साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साधितमागमसाधितम्।।''
—आप्तमी. श्लो. ७८।

के अनुभव और साक्षात्कार का आधार होने पर भी एक बार किसी पुरुष विशेष में आप्ताता का निश्चय हो जाने पर उसके वाक्य पर विश्वास करके चलने का मार्ग भी है। लेकिन यह मार्ग बीच के समय का है। इससे पुरुष की बुद्धि और उसके तत्त्व साक्षातकार की अन्तिम प्रमाणता का अधिकार नहीं छिनता। जहाँ वक्ता की अनाप्तता निश्चित है वहाँ उसके वचनों को या तो हम तर्क और हेतु से सिद्ध करेंगे या फिर आप्तवक्ता के वचनों को मूल आधार मानकर उससे संगति बैठने पर ही उनकी प्रमाणता मानेंगे। इस विवेचन से इतना तो समझ में आ जाता है कि वक्ता की आप्तता और अनाप्तता का निश्चय करने की जिम्मेवारी अन्ततः युक्ति और तर्क पर ही पड़ती है। एक बार निश्चय हो जाने के बाद फिर प्रत्येक युक्ति या हेतु ढूँढों या न ढूँढो, उससे कुछ बनता–बिगड़ता नहीं है। चालू जीवन के लिए यही मार्ग प्रशस्त हो सकता है। बहुत–सी ऐसी बातें हैं, जिनमें युक्ति और तर्क नहीं चलता, उन बातों को हमें आगमपक्ष में डालकर वक्ता के आप्तत्व के भरोसे ही चलना होता है और चलते भी हैं। परन्तु; वैदिक परम्परा के समान अन्तिम निर्णय अकर्तृक शब्दों के अधीन नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक जैन अचार्य अपने नूतन ग्रन्थ के प्रारम्भ में उस ग्रन्थ की परम्परा को सर्वज्ञ तक ले जाता है और इस बात का विश्वास दिलाता है कि उसके प्रतिपादित तत्त्व कपोल–कल्पित न होकर परम्परा से सर्वज्ञ प्रतिपादित ही हैं।

तर्क की एक सीमा तो है ही। पर हमें यह देखना है कि अन्तिम अधिकार किसके हाथ में हैं? क्या मनुष्य केवल अनादिकाल से चली आई अकर्तृक परम्पराओं के यन्त्रजाल का मूक अनुसरण करनेवाला एक जन्तु ही है या स्वयं भी किसी अवस्था में निर्माता और नेता हो सकता है? वैदिक परम्पराओं में इसका उत्तर है 'नहीं हो सकता', जब कि जैन परम्परा यह कहती है कि 'जिस पुरुष ने वीतरागता और तत्त्वज्ञता प्राप्त कर ली है उसे किसी शास्त्र या आगम के आधार की या नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं शास्त्र बनाता है, परम्पराएँ रचता है और सत्य को युगशरीर में प्रकट करता है। अतः मध्यकालीन व्यवस्था के लिए आगमिक क्षेत्र आवश्यक और उपयोगी होने पर भी उसकी प्रतिष्ठा सार्वकालिक और सब पुरुषों के लिए एक–सी नहीं है।

एक कल्पकाल में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। वे सब अक्षरशः एक ही प्रकार का उ देश देते हों, ऐसी अधिक सम्भावना नहीं है; यद्यपि उन सबका तत्त्वसाक्षात्कार और वीतरागता एक–जैसी ही होती है। हर तीर्थंकर के समय विभिन्न व्यक्तियों की परिस्थितियाँ जुदे–जुदे प्रकार की होती हैं और वह उन परिस्थितियों में उलझे हुए भव्य जीवों

को सुलटने और सुलझने का मार्ग बताता है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मुक्ति और विश्व की शान्ति के लिए अहिंसा, परिग्रह, अनेकान्तदृष्टि और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त त्रैकालिक हैं। इन मूल सिद्धान्तों के साक्षात्कार में किसी भी तीर्थंकर को मतभेद नहीं हुआ; क्योंकि मूल सत्य दो प्रकार का नहीं होता; परन्तु उस मूल सत्य को जीवनव्यवहार में लाने के प्रकार व्यक्ति, समाज, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की दृष्टि से अनन्त प्रकार के हो सकते हैं। यह बात हम सबके अनुभव की है। जो कार्य एक समय में अनमुक परिस्थिति में एक के लिए कर्तव्य हाता है, वही उसी व्यक्ति को परिस्थिति बदलने पर अखरता है। अत: कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म की मूल आत्मा एक होने पर भी उसके परिस्थिति–शरीर अनेक होते हैं, पर सत्यासत्य का निर्णय उस मूल आत्मा की संगति और असंगति से होता है। जैनपरम्परा की यह पद्धति श्रद्धा और तर्क दोनों को उचित स्थान देकर उनका समन्वय करती है।

वेदापौरुषयत्व विचार–

हम पहले लिख चुके हैं कि मीमांसक पुरुष में पूर्ण ज्ञान और वीतरागता का विकास नहीं मानता और धर्मप्रतिपादक वेदवाक्य को किसी पुरुषविशेष की कृति न मानकर उसे अपौरुषेय या अकर्तृक मानता है। उस अपौरुषेयत्व की सिद्धि के लिए 'अस्मर्यमाण कर्तृकत्व' हेतु दिया जाता है। इसका अर्थ है कि यदि वेद का कोई कर्ता होता तो उसका स्मरण होना चाहिए था चूँकि स्मरण नहीं है, अत: वेद अनादि है और अपौरुयेय है; किन्तु, कर्ता का स्मरण नहीं होना किसी की अनादिता और नित्यता का प्रमाण नहीं हो सकता। नित्य वस्तु अकर्त्तृक ही होती है। कर्ता का स्मरण होने और न होने से पौरुषेयता या अपौरुषेयता का कोई सम्बन्ध नहीं है। बहुत से पुराने मकान, कुएँ, खण्डहर आदि ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनके कर्ताओं या बनानेवालों का स्मरण नहीं है, फिर भी वे अपौरुषेय नहीं है।

अपौरुषेय होना प्रमाणता का साधक भी नहीं है। बहुत से लौकिकम्लेच्छादि व्यवहार–गाली–गलौज आदि ऐसे चले आते हैं, जिनके कर्ता का कोई स्मरण नहीं है, पर इतने मात्र से वे प्रमाण नहीं माने जा सकते। 'वटे वटे वैश्रवण:' इत्यादि अनेक पदवाक्य परम्परा से कर्ता के स्मरण बिना ही चले आते हैं, पर वे प्रमाणकोटि में शमिल नहीं है।

पुराणों में वेद को ब्रह्मा के मुख से निकला हुआ बताया है और यह भी लिखा है[२७५] कि प्रतिमन्वतर में भिन्न–भिन्न वेदों का

---

275 प्रतिमन्वन्तरं चैवश्रुतिरन्या विधीयते –मत्स्यपु. १४।५८।

विधान होता है। ''यो वेदाँश्च प्रहिणोति'' इत्यादि[२७६] वाक्य वेद के कर्ता के प्रतिपादक हैं ही। जिस तरह याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण ऋषियों के नामों से अंकित होने के कारण पौरुषेय कैसे कहा जा सकता है? वेदों में न केवल ऋषियों के ही नाम[२७७] पाये जाते हैं; किन्तु उनमें अनेक ऐतिहासिक राजाओं, नदियों और देशों के नामों का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वे उन–उन परिस्थितियों में बने हैं।

बौद्ध वेदों को अष्टक ऋषिकर्तृक कहते हैं तो जैन उन्हें कालासुरकर्तृक बताते हैं। अत: उनके कर्तृविशेष में तो विवाद हो सकता है, किन्तु 'वे पौरुषेय हैं और उनका कोई–न–कोई बनानेवाला अवश्य है' यह विवाद की बात नहीं है।

'वेद का अध्ययन सदा वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, अत: वेदा अनादि है' यह दलील भी पुष्ट नहीं है; क्योंकि 'कण्व आदि ऋषियों ने काण्वादि शाखाओं की रचना नहीं की, किन्तु अपने गुरु से पढ़कर ही उनने उसे प्रकाशित किया' यह सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस तरह तो यह भी कहा जा सकता है कि महाभारत भी व्यासने स्वयं नहीं बनाया; किन्तु अन्य महाभारत के अध्ययन से उसे प्रकाशित किया है।

इसी तरह काल को हेनु बनाकर वर्तमान काल की तरह अतीत और अनागत काल को वेद के कर्ता से शून्य कहना बहुत विचित्र तर्क है। इस तरह किसी भी अनिश्चित कर्तृक वस्तु को अनादि अनन्त सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि महाभारत का बनानेवाला अतीत काल में नहीं था, क्योंकि वह काल है जैसे कि वर्तमानकाल।

जब वैदिक शब्द लौकिक शब्द के समान ही संकेतग्रहण के अनुसार अर्थ का बोध कराते हैं और बिना उच्चारण किये पुरुष को सुनाई नहीं देते तब ऐसी कौन–सी विशेषता है जिससे कि वैदिक शब्दों को अपौरुषेय कहा जाय? यदि कोई एक भी व्यक्ति अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नहीं हो सकता तो वेदों की अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकता में विश्वास कैसे किया जा सकता है?

---

276 श्वेता. ६।१८।

277 सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः।
अनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्।
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः।।' –पात्रकेसरितोत्र श्लो. १४।

वैदिक शब्दों की अमुक छन्दों में रचना है। वह रचना बिना किसी पुरुष प्रयत्न के अपने आप कैसे हो गई? यद्यपि मेघगर्जन आदि अनेकों शब्द प्ररुषप्रयत्न के बिना प्राकृतिक संयोग–वियोगों से होते हैं; परन्तु वे निश्चित अर्थ के प्रतिपादक नहीं होते और न उनमें सुसंगत छनदोरचना और व्यवस्थित ही देखी जाती है। अत: जो मनुष्य की रचना के समान ही एक विशिष्ट रचना में आबद्ध है वे अपौरुषेय नहीं हो सकते।

अनादि परम्परा रूप हेतु से वेद को अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकता की सिद्धि करना उसी तरह कठिन है जिस तरह गाली–गलौज आदि की प्रामाणिकता सिद्ध करना। अन्तत: वेद के व्याख्यान के लिए भी अतीन्द्रियार्थदर्शी ही अन्तिम प्रमाण बन सकता है। विवाद की अवस्था में 'यह मेरा अर्थ है यह नहीं' यह स्वयं शब्द तो बोलेंगे नहीं। यदि शब्द अपने अर्थ के मामले में स्वयं रोकनेवाला होता तो वेद की व्याख्याओं में मतभेद नहीं होना चाहिए था।

शब्दमात्र को नित्यमानकर वेद के नित्यत्व का समर्थन करना भी प्रतीति से विरुद्ध है; क्योंकि तालु आदि के व्यापार से पुद्‌गलपर्यायरूप शब्द की उत्पत्ति ही प्रमाणसिद्ध है, अभिव्यक्ति नहीं। संकेत के लिए शब्द को नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थों में अमुक घड़े के नष्ट होने पर भी अन्य सदृश घड़ों सादृश्यमूलक व्यवहार चल जाता है उसी तरह जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया है वह भले ही नष्ट हो जाय, पर उसके सदृश अन्य शब्दों में वाचक व्यवहार का होना अनुभवसिद्ध है। 'यह वही शब्द है, जिसमें मैंने संकेत ग्रहण किया था' इसप्रकार का एकत्वप्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्ति के कारण ही होता है; क्योंकि जब हम उस सरीखे दूसरे शब्द को सुनते हैं, तो दीपशिखा की तरह भ्रमवश उसमें एकत्व का भान हो जाता है।

आज का विज्ञान शब्दतरंगों को उसी तरह क्षणिक मानाता है जिस तरह जैन, बौद्धादिदर्शन। अत: अतीन्द्रिय पदार्थों में वेद की अन्तिम प्रमाणता मानने के लिए यह आवश्यक है कि उसका आद्य प्रतिपदक स्वयं अतीन्द्रियदर्शी हो। अतीन्द्रियदर्शन की असम्भवता कहकर अन्धपरम्परा चलाने से प्रमाणता का निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाववाली आत्मा का सम्पूर्ण आवरणों के हट जाने पर पूर्ण ज्ञानी बन जाना असम्भव बात नहीं है। शब्द वक्ता के भावों को ढोनेवाला एक माध्यम है, जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता अपनी न होकर वक्ता के गुण और दोषों पर आश्रित होती है। यानी गुणवान् वक्ता के द्वारा कहा गया शब्द प्रमाण होता है। और दोषवाले वक्ता के द्वारा

प्रतिपादित शब्द अप्रमाण। इसलिए कोई शब्द को धन्यवाद या गाली नहीं देता, किन्तु उसके बोलनेवाला वक्ता को। वक्ता का अभाव मानकर 'दोष निराश्रय नहीं रहेंगे' इस युक्ति से वेद को निर्दोष कहना तो ऐसा ही है जैसे मेघ गर्जन और बिजली की कड़कड़ाहट को निर्दोष बताना। वह इस विधि से निर्दोष बन भी जाय, पर मेघगर्जन आदि की तरह वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। वह विधि–प्रतिषेध आदि प्रयोजनों का साधक नहीं बन सकेगा।

व्याकरणादि के अभ्यास से लौकिक शब्दों की तरह वैदिक पदों के अर्थ की समस्या को हल करना इसलिए असंगत है कि जब शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं तब अनिष्ट अर्थ का परिहार करके इष्ट अर्थ का नियमन करना कैसे सम्भव होगा? प्रकरण आदि भी अनेक हो सकते हैं। अत: धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के सक्षात्कार करनेवाले के बिना धार्मिक नियम–उपनियमों में वेद की निर्बाधता सिद्ध नहीं हो सकती। जब एक बार अतीन्द्रियदर्शी को स्वीकार कर लिया, तब वेद को अपौरुषेय मानना निरर्थक ही है। कोई भी पद और वाक्य या श्लोक आदि छन्द रचना पुरुष की इच्छा सकती है, पर भाषा मानव की अपनी देन है, उसमें उसका प्रयत्न, विवक्षा और ज्ञान सभी कारण होते हैं।

शब्दार्थ–प्रतिपत्ति–

स्वाभाविक योग्यता और संकेत के कारण शब्द और हस्तसंज्ञा आदि वस्तु की प्रतिपत्ति करानेवाले होते हैं। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य शक्ति स्वाभाविक है उसी तरह शब्द और अर्थ में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वाभाविक ही है। जैसे कि हस्तसंज्ञा आदि का अपने अभिव्यञ्जनीय अर्थ के साथ सम्बन्ध अनित्य होकर भी इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करा देता है, उसी तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होकर भी अर्थबोध करा सकता है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध माता, पिता, गुरु तथा समाज आदि की परम्परा द्वारा अनादि काल से प्रवाहित है और जगत् की समस्त व्यवहार–व्यवस्था का मूल कारण बन रहा है।

ऊपर जिस आप्त के वचन को श्रुत या आगम प्रमाण कहा है, उसका व्यापक लक्षण[२७८] तो 'अवञ्चकत्व या अविसंवादित्व' ही है, परन्तु आगम के प्रकरण में वह आप्त–सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी विवक्षित है। मनुष्य अज्ञान और रागद्वेष के कारण मिथ्या भाषण में

---

278 'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः।' –अष्टश. अष्टसह. पृ. २३६।

प्रवृत्त होता है।[२७९] जिस वस्तु का ज्ञान न हो, या ज्ञान होकर भी किसी से राग या द्वेष हो, तो ही असत्य वचन का अवसर आता है। अत: सत्यवक्ता आप्त के लिए पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होना तो आवश्यक है ही, साथ–ही साथ उसे हितोपदेशी भी होना चाहिए। हितोपदेश की इच्छा के बिना जगतहित में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हितोपदेशित्व के बिना सिद्ध पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होकर भी आप्त–कोटि में नहीं आते, वे आप्त से ऊपर हैं। हितोपदेशित्व की भावना होने पर भी यदि पूर्ण ज्ञान और वीतरागता न हो, तो अन्यथा उपदेश की सम्भावना बनी रहती है। यह नीति लौकिक वाक्यों में तद्विषयक ज्ञान और तद्विषयक अवञ्चकत्व में लागू है।

शब्द की अर्थवाचकता–

अन्यापोह शब्द का वाच्य नहीं–

बौद्ध अर्थ को[२८०] शब्द का वाच्य नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्द अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकते; क्योंकि जो शब्द अर्थ की मौजूदगी में उनका कथन करते हैं वे ही अतीत–अनागतरूप से अविद्यमान पदार्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। अत: उनका अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्यथा कोई भी शब्द निरर्थक नहीं हो सकेगा। स्वलक्षण अनिर्देश्य है। अर्थ में शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है, जिससे कि अर्थ के प्रतिभासित होने पर शब्द का बोध हो या शब्द के प्रतिभासित होने पर अर्थ का बोध अवश्य हो। वासना और संकेत की इच्छा के अनुसार शब्द अन्यथा भी संकेतित किये जाते हैं, इसलिए उनका अर्थ से कोई अविनाभाव नहीं है। वे केवल बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोह के वाचक होते हैं। यदि[२८१] शब्दों का अर्थ से वास्तविक सम्बन्ध होता तो एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी विभिन्न शब्दों की और उन शब्दों के आधार से रचे हुए विभिन्न दर्शनों की सृष्टि न हुई होती। 'अग्नि ठण्डी है या गरम' इसका निर्णय जैसे अग्नि स्वयं अपने स्वरूप से कर देती है, उसी तरह 'कौन शब्द सत्य है और कौन असत्य' इसका निर्णय भी शब्द को अपने स्वरूप से ही कर देना चाहिए था, पर विवाद आज तक मौजूद है। अत: गौ आदि शब्दों को सुनकर हमें एक सामान्य का बोध होता है।

---

279 'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति।।' –आप्तस्वरूप।

280 'अतीयाजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाच: कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मत:।।' –प्रमाणवा. ३।२०७।

281 'परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात्प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु।।' –प्रमाणवा. ३।२०६। निबध्यते।

यह सामान्य वास्तविक नहीं है। किन्तु विभिन्न गौ व्यक्तियों में पाई जानेवाली अगोव्यावृत्तिरूप है। इस अगोपोह के द्वारा 'गौ गौ' इस सामान्यव्यवहार की सृष्टि होती है और यह सामान्य उन्हीं व्यक्तियों को प्रतिभासित होता है, जिनने अपनी बुद्धि में इसप्रकार के अभेद का भान कर लिया है। अनेक गायों में अनुस्यूत एक, नित्य और निरंश गोत्व असत् है, क्योंकि विभिन्न देशवर्ती व्यक्तियों में एक साथ एक गोत्व का पाया जाना अनुभव से विरुद्ध तो है ही, साथ ही साथ व्यक्ति के अन्तराल में उसकी उपलब्धि न होने से बाधित भी है। जिस प्रकार छात्रमण्डल छात्र व्यक्तियों को छोड़कर अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, वह एक प्रकार की कल्पना है, जो सम्बन्धित व्यक्तियों की बुद्धि तक ही सीमित है, उसी तरह गोत्व और मनुष्यत्वादि सामान्य भी काल्पनिक हैं, बाह्य सत् वस्तु नहीं। सभी गायें गौ के कारणों से उत्पन्न हुई हैं और आगे गौ के कार्यों को करती हैं, अत: उनमें अगोकारणव्यावृत्ति और अगोकार्यव्यावृत्ति अर्थात् अतत् कार्यकारणव्यावृत्ति से सामान्य व्यवहार होने लगता है। परमार्थसत् गौ वस्तु क्षणिक है, अत: उसमें संकेत भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिस गौव्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जायगा, वह गौ व्यक्ति द्वितीय क्षण में जब नष्ट हो जाती है, तब वह संकेत व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि अगले क्षण में जिन गौव्यक्तियों में संकेत ग्रहण किया जायगा, वह गौ व्यक्ति द्वितीय क्षण में जब नष्ट हो जाती है, तब वह संकेत व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि अगले क्षण में जिन गौव्यक्तियों और शब्दों से व्यवहार करना है उन व्यक्तियों में तो संकेत ही ग्रहण नहीं किया गया है, वे तो असंकेतित ही हैं। अत: शब्द वक्ता की विवक्षा को सूचित करता हुआ, बुद्धिकल्पित अन्यव्यावृत्ति या अन्या पोह का ही वाचक होता है, अर्थ का नहीं।[२८२]

[२८३]इन्द्रियग्राह्य पदार्थ भिन्न होता है और शब्दगोचर अर्थ भिन्न। शब्द से अन्धा भी अर्थबोध कर सकता है, पर वह अर्थ को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। दाह शब्द के द्वारा जिस दाह अर्थ का बोध होता है और अग्नि को छूकर जिस दाह की प्रतीति होती है, वे दोनों दाह जुदे–जुदे हैं, इसे समझने की आवश्यकता नहीं है। अत: शब्द केवल कल्पित सामान्य का वाचक है।

यदि शब्द अर्थ का वाचक होता, तो शब्दबुद्धि का प्रतिभास इन्द्रियबुद्धि की तरह विशद होना चाहिए था अर्थव्यक्यिाँ अनन्त और

---

282 ''विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते।
ततोऽन्यापोहनिष्ठतवादुक्ताऽन्यापोहकृच्छुति:।।'' –प्रमाणवा. २।१६४।

283 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचर:।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते।।'' –उद्धृत प्रश. व्यो., पृ. ५८४। –न्यायकुमदचन्द्र, पृ. ५५३।

क्षणिक हैं, इसलिए जब उनका ग्रहण ही समभव नहीं है; तब पहले तो उनमें संकेत[२८४] ही गृहीत नहीं हो सकता, यदि संकेत गृहीत हो भी जाय, तो व्यवहारकाल तक उसकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उससे अर्थबोध होना असम्भव है। कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है, जो शब्द और अर्थ दोनों को विषय करता हो, अतः संकेत होना ही कठिन है। स्मरण निर्विषय और गृहीतग्राही होने से प्रमाण ही है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ वाच्य है—

किन्तु बौद्ध की यह मान्यता उचित नहीं है।[२८५] पदार्थ में कुछ धर्म सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। सदृश धर्मों को ही सामान्य कहते हैं। यह अनेकानुगत नह होकर प्रत्येक व्यक्ति निष्ठ है। यदि सादृश्य हो वस्तुगत धर्म न माना जाय, तो अगोवृत्ति 'अमुक गौव्यक्तियों में ही पायी जाती है, अश्वादि व्यक्तियों में नहीं, यह नियम कैसे किया जा सकेगा? जिस तरह भाव—अस्तित्व वस्तु का अर्थ है, उसी तरह अभाव— परनास्तित्व भी वस्तु का ही धर्म है। उसे तुच्छ या निःस्वभाव कहकर उड़ाया नहीं जा सकता। सादृश्य को बोध और व्यवहार हम चाहे अगोनिवृत्ति आदि निषेधमुख से करें या सास्नादिमत्त्व आदि समानधर्मरूप गोत्व आदि को देखकर करें, पर इससे उसकी परमार्थसत् वस्तुता में कोई बाधा नहीं आती। जिस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणों को विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होता है, उसी तरह शब्द संकेत भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थ में ही किया जाता है। केवल सामान्य में यदि संकेत ग्रहण किया जाय, तो उससे विशेषव्यक्तियों में प्रवृत्तियों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनन्त विशेशव्यक्तियाँ तत्तत्रूप में हम लोगों के ज्ञान जब विषय ही नहीं बन सकतीं, तब उनमें संकेत ग्रहण की बात तो अत्यन्त असम्भव है। सदृश धर्मों की अपेक्षा शब्द का अर्थ में संकेत ग्रहण किया जाता है। जिस शब्द व्यक्ति और अर्थव्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जाता है, भले ही वे व्यवहारकाल तक नह जाँय, पर तत्सदृश दूसरे शब्द से तत्सदृश दूसरे अर्थ की प्रतीति होने में क्या बाधा है? एक घटशब्द का एक घटपदार्थ में संकेत ग्रहण करने पर भी तत्सदृश यावत् घटों में तत्सदृश यावत् घटशब्दों की प्रवृत्ति होती ही है। संकेत ग्रहण करने के बाद शब्दार्थ का स्मरण करके व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष बुद्धि अतीत अर्थ को जानकर भी प्रमण है, उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है, न केवल प्रमाण ही, किन्तु सविषयक भी है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृति में है तब शब्द सुनकर तद्वाच्य अर्थ

---

284 ''तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दौः प्रतिपाद्यते।
संकेतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिविरोधतः।। —तत्त्वसं., पृ. २०७।

285 देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५५७।

का स्मरण करके तथा अर्थ को देखकर तद्वाचक शब्द का स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलाया जा सकता है

एक सामान्य–विशेषात्मक अर्थ को विषय करने पर भी इन्द्रियज्ञान स्पष्अ और शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे कि एक ही वृक्ष को विषय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषों के ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते हैं।[२८६] स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेद के कारण नहीं आती; किन्तु आवरण के क्षयोपशम से आती है। फिर शब्द से होनेवाले अर्थ का बोध मानस है और इन्द्रिय से होनेवाला पदार्थ का ज्ञान ऐन्द्रिक है। जिस तर अविनाभावसम्बन्ध से अर्थ का बोध करनेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होने से प्रमाण है, उसी तरह वाच्यवाचक सम्बन्ध के बलपर अर्थ बोध करानेवाला शब्दज्ञान भी अविसंवादी ोने से प्रमाण ही होना चाहिए। हाँ, जिस शब्द में विसंवाद या संशयादि पाये जाँय, वह अनुमानाभास और प्रत्यक्षाभास की तरह शब्दाभास हो सकता है, पर इतने मात्र से सभी शब्दज्ञानों को अप्रमाणकोटि में नहीं डाला जा सकता। कुछ[२८७] शब्दों को अर्थव्यभिचारी देखकर सभी शब्दों को अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता।

यदि शब्द बाह्यार्थ में प्रमाण न हो, तो क्षणिकत्व आदि के प्रतिपादक शब्द भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे और तब बौद्ध स्वयं अदृष्ट नदी, देश और पर्वतादि का ज्ञान शब्दों से कैसे कर सकेंगे?[२८८] यदि हेतुवादरूप (परार्थानुमान) शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो; तो साधन और साधनाभास की व्यवस्था कैसी होगी? इसी तरह आप्त के वचन के द्वारा[२८९] यदि अर्थ का बोध न हो; तो आप्त और अनाप्त का भेद कैसे सिद्ध होगा? यदि [२९०]पुरुषों के अभिप्रायों में विचित्रता होने के कारण सभी शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जाएँ, तो सुगत के सर्वशास्तृत्व में कैसे विश्वास किया जा सकेगा? यदि अर्थव्यभिचार होने के कारण शब्द अर्थ में प्रमाण नहीं है; तो अन्य शब्द की विवक्षा में अन्य शब्द का प्रयोग देखा जाने से जब विवक्षा व्यभिचार भी होता है, तो उसे विवक्षा में भी प्रमाण कैसे कहा जा सकता है? जिस तरह सुविवेचित व्याप्य और कार्य अपने व्यापक और कारण का उल्लंघन नहीं कर सकते, उसी तरह सुविवेचित शब्द भी अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता। फिर शब्द का विवक्षा के साथ कोई अविनाभाव भी

---

286 देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ५६५।
287 लघीय. श्लो. २७।
288 लघीय. श्लो. २६।
289 'आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः।।' –लघी. का. २८।
290 लघीय. श्लो. २९।

नहीं है, क्योंकि [291]शब्द वर्ण या पद कहीं अवांछित अर्थ को भी कहते हैं और कहीं वाञ्छित को भी नहीं कहते।

यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक हों, तो शब्दों में सत्यात्व और मिथ्यात्व की व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि दोनों ही प्रकार के शब्द अपनी–अपनी विवक्षा का अनुमान तो कराते ही हैं। शब्द में सत्य और असत्य व्यवस्था का मूल आधार अर्थप्राप्ति और अप्राप्ति ही बन सकता है। जिस शब्द का अर्थ प्राप्त हो वह सत्य और जिसका अर्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या होता हे। जिन शब्दों का बाह्य अर्थ प्राप्त नहीं होता उन्हें ही हम विसंवादी कहकर मिथ्या ठहराते हैं। प्रत्येक दर्शनकार अपने द्वारा प्रतिपादित शब्दों का वस्तुसम्बन्ध ही तो बताने का प्रायास करता है। वह उसकी काल्पिनिकता का परिहार भी जोरों से करता है। अविसंवादी का अधार अर्थप्राप्ति को छोड़कर दूसरा कोई बन ही नहीं सकता।

अगोनिवृत्तिरूप सामान्य में जिस गौ की आप निवृत्ति करना चाहते हैं उस गौ का निर्वचन करना ही कठिन है। स्वलक्षण गौ कि निवृत्ति तो इसलिए नहीं कर सकते कि वह शब्द के अगोचर है। यदि अगोनिवृत्ति के पेट में पड़ी हुई गौ को भी अगोनिवृत्तिरूप ही कहा जाता है, तो अनवस्था से पिण्ड नहीं छूटता व्यवहारी सीधे गौशब्द को सुनकर गौ अर्थ का ज्ञान करते हैं, वे अन्य अगौ आदि का निषेध करके गौ तक नहीं पहुँचते। गायों में ही 'अगोनिवृत्ति पायी जाती है।' इसका अर्थ ही है कि उन सबमें यह एक समान धर्म है। 'शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध मानने पर अर्थ के दखने पर शब्द भी सुनाई देना चाहिए' यह आपत्ति अत्यन्त अज्ञान पूर्ण हैं; क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म है, उनमें से कोई ही धर्म किसी ज्ञान के विषय होते हैं; सब सबके नहीं। जिनकी जब जैसी इन्द्रियादिसामग्री और योग्यता होती है वह धर्म उस ज्ञान का स्पष्ट या अस्पष्टरूप में विषय बनता है।

यदि गौशब्द के द्वारा अगोनिवृत्ति करते है; तो अश्वादिनिवृत्तिरूप कौन–सा पदार्थ शब्द का वाच्य होगा? असाधारण गौस्वलक्षण तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह समस्त शब्द और विकल्पों के अगोचर है। शावलेयादि व्यक्तिविशेष को कह नहीं सकते; क्योंकि यदि गो–शब्द शावलेयादि का वाचक होता है तो वह सामान्यशब्द नहीं रह सकता। इसलिए समस्त सजातीय शावलेयादिव्यक्तियों में प्रत्येक में जो सादृश्य रहता है, तन्निमित्तक ही गौबुद्धि होती है और वही सादृश्य सामान्य रूप है।[292]

---

291 लघीय. श्लो. ६४, ६५।

292 देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ. ४३३।

आपके मत से जो विभिन्न सामान्यवाची गौ, अश्व आदि शब्द हैं वे सब मात्र निवृत्ति के वाचक होने से पर्यायवाची हो जाँयगे, क्योंकि वाच्यभूत अपोह के नीरूप (तुच्छ) होने से उसमें कोई भेद शेष नहीं रहता। एकत्व, नानात्व और संसृष्टतव आदि धर्म वस्तु में ही प्रतीत होते हैं। यदि अपोह में भेद माना जाता है तो वह भी वस्तु ही हो जायगा।

[२९३]अपोह्य (जिनका अपोह किया जाता है) नामक सम्बन्धियों के भेद से अपोह में भेद डालना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसी दशा में प्रमेय, अभिधेय और ज्ञेय आदि शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि संसार में अप्रमेय, अनभिधेय और अज्ञेय आदि की सत्ता ही नहीं है। यदि शावलेयादि गौव्यक्तियों में परस्पर सादृश्य न होने पर भी उनमें एक अगोपोह की कल्पना की जाती है। तो गौ और अश्व में भी एक अपोह की कल्पना हो जानी चाहिए; क्योंकि शावलेय–गौ व्यक्ति बाहुलेयगौव्यक्ति से जब उतनी ही भिन्न है, जितनी कि अश्वव्यक्ति से तो परस्पर उनमें कोई विशेषता नहीं रहती। अपोहपक्ष में इतरेतराश्रय दोष भी आता है– अगौ का व्यवच्छेद करके गौ की प्रतिपत्ति होती है और गौ का व्यवच्छेद करके अगौ का ज्ञान होता है।

अपोहपक्ष में विशेषणविशेष्य–भाव का बनना भी कठिन है; क्योंकि जब 'नीलम् उत्पलम्' यहाँ 'अनीलव्यावृत्ति' यह अर्थ फलित होता है तब एक व्यावृत्ति का दूसरी व्यावृत्ति से विशिष्ट होने का कोई मतलब ही नहीं निकलता। यदि विशेषणविशेष्यभाव के समर्थन के लिए अनीलव्यावृत्त नील वस्तु और अनुत्पलव्यावृत्त उत्पल वस्तु 'नीलमुत्पलम्' इस पद का वाच्य कही जाती है; तो अपोह की वाच्यता स्वयं खण्डित हो जाती है और जिस वस्तु को आप शब्द के अगोचर कहते थे, वही वस्तु शब्द का वाच्य सिद्ध हो जाती है।

यदि गौ शब्द के द्वारा अगौ का अपोह किया जाता है, तो अगोशब्द का वाच्य भी तो एक अपोह (गो–अपोह) ही होगा। यानी जिसका अपोह (व्यवच्छेद) किया जाता है, वह स्वयं जब अपोहरूप है, तो उस व्यवच्छेद्य अपोह को वस्तुरूप मानना पड़ेगा; क्योंकि प्रतिषेध वस्तु का होता है। यदि अपोह का प्रतिषेध किया जाता है तो अपोह को स्वयं वस्तु ही मानना होगा। इसलिए अश्वादि में गौ आदि का जो अपोह होता है वह सामान्यभूत वस्तु का ही कहना चाहिए। इस तरह भी शब्द का वाच्य वस्तु ही सिद्ध होती है।

---

293 प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ. ४३४।

'किञ्च' 'अपोह' इस शब्द का वाच्य क्या होगा? यदि 'अनपोहव्यावृत्ति;' तो 'अनपोहव्यावृत्ति का वाच्य कोई अन्य व्यावृत्ति होगी, इस तरह अनवस्था आती है। अत: यदि अपोहशब्द का वाच्य 'अपोह' विधिरूप माना जाता है; तो अन्य शब्दों का भी विधिरूप वाच्य मानने में क्या आपत्ति है? चूँकि प्रतिनियत शब्दों से प्रतिनियत अर्थों में प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए शाब्दप्रत्ययों का विषय परमार्थ वस्तु ही मानना चाहिए। रह जाती है संकेत की बात; सो सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में संकेत किया जा सकता है। ऐसा अर्थ वास्तविक है और संकेत तथा व्यवहारकाल तक द्रव्यदृष्टि से रहता भी है। समस्त संकेत के विषय भी बन जाएँगी जिस प्रकार कि अग्नि और धूम की व्याप्ति के ग्रहण करने के समय अग्नित्वेन समस्त अग्नियाँ और धूमत्वेन समस्त धूम व्याप्ति के विषय हो जाते हैं।

यह अंश का भी उचित नहीं कि 'शब्द के द्वारा यदि अर्थ का बोध हो जाता है, तो चक्षुरादि इन्द्रियों की कल्पना व्यर्थ है;' क्योंकि शब्द से अर्थ की अस्पष्ट रूप में प्रतीति होती है। अत: उसकी स्पष्ट प्रतीति के लिए अन्य इन्द्रियों की सार्थकता है। यह दूषण भी ठीक नहीं है कि 'जैसे अग्नि के छूने से फोला पड़ता है और दु:ख होता है, उसी तरह दाह शब्द के सुनने से भी होना चाहिए;' क्योंकि फोला पड़ना या दु:ख होना अग्निज्ञान का कार्य नहीं है; किन्तु अग्नि और देह के सम्बन्ध का कार्य है। सुषुप्त या मूर्च्छित अवस्था में ज्ञान के न होने पर भी अग्नि पर हाथ पड़ जाने से फोला पड़ जाता है और दूर से से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा अग्नि को देखने पर भी फोला नहीं पड़ता है। अत: सामग्री भेद से एक ही पदार्थ में स्पष्ट–अस्पष्ट आदि नाना प्रतिभास होते हैं।

यदि शब्द का वाच्य वस्तु न हो, तो शब्दों में सत्यत्व और असत्यत्व व्यवस्था नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इत्यादि आपके वाक्य भी उसी तरह मिथ्या होंगे जिस प्रकार कि 'सर्वं नित्यम्' इत्यादि विरोधी वाक्य। समस्त शब्दों को विवक्षा का सूचक मानने पर भी यही दूषण अनिवार्य है। यदि शब्द से मात्र विवक्षा का ज्ञान होता है तो उससे बाह्य अर्थ की प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होनी चाहिए। अत: व्यवहारसिद्धि के लिए शब्द का वाच्य वस्तुभूत सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही मानना चाहिए। शब्दों में सत्यासत्य व्यवस्था भी अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति के निमित्त से ही स्वीकार की जाती है। जो शब्द अर्थ व्यभिचारी हैं वे खुशी से शब्दाभास सिद्ध हों, पर इतने मात्र से सभी शब्दों का सम्बन्ध अर्थ से नहीं तोड़ा जा सकता और न उन्हें अप्रमाण ही कहा जा सकता है। यह ठीक ही है कि शब्द की प्रवृत्ति बुद्धिगत संकेत के अनुसार होती

है। जिस रूप से वाचक है और वह अर्थ वाच्य। यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य है; तो वह 'वस्तु' 'अवाच्य' आदि शब्दों के द्वारा भी नहीं कही जा सकेगी और इस तरह जगत् से समस्त शब्दाव्यवहार का उच्छेद ही हो जाएगा। हम सभी शब्दों को अर्थाविनाभावी नहीं कहते, किन्तु 'जिनके वक्ता आप्त हैं वे शब्द कभी भी अर्थ के व्यभिचारी नहीं हो सकते हमारा इतना ही अभिप्राय है।

प्राकृत अपभ्रंश शब्दों की अर्थवाचकता (पूर्वपक्ष)—

इस तरह 'शब्द अर्थ के वाचक हैं' यह सामान्यत: सिद्ध होने पर भी मीमांसक और वैयाकरणों का यह आग्रह[२९४] है कि सभी शब्दों में वाचकशक्ति नहीं है, किन्तु संस्कृत शब्द ही साधु हैं और उन्हीं में वाचशक्ति है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि शब्द असाधु हैं उनमें अर्थ प्रतिपादन की शक्ति नहीं है। जहाँ—कहीं प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों के द्वारा अर्थप्रतीति देखी जाती है, वहाँ वह[२९५] शक्ति भ्रम से ही होती है, या उन प्राकृतादि असाधु शब्दों को सुनकर प्रथम ही संस्कृत—साधु शब्दों का स्मरण आता है और फिर उनसे अर्थबोध होता है।

इस तरह शब्दराशि के एक बड़े भाग को वाचकशक्ति से शून्य कहनेवाले इस मत में एक विचित्र साम्प्रदायिक भावना कार्य कर रही है। ये संस्कृत शब्दों को साधु कहकर[२९६] और इनमें ही वाचकशक्ति मानकर ही चुप नहीं हो जाते, किन्तु साधुशब्द के उच्चारण को[२९७] धर्म और पुण्य मानते हैं और उसे ही कर्तव्य—विधि में शमिल करते हैं तथा असाधु अपभ्रंश—शब्दों के उच्चारण को शक्तिशून्य ही नहीं, पाप का कारण भी कहते हैं। इसका मूल कारण है संस्कृत में रचे गये वेद को धर्म्य और प्रमाण मानना तथा प्राकृत, पाली आदि भाषाओं में रचे गये जैन, बौद्ध आदि आगमों को अधर्म्य और अप्रमाण घोषित करना। स्त्री और शूद्रों को धर्म के अधिकारों से वंचित करने के अभिप्राय से उनके लिए संस्कृत—शब्दों का उच्चारण ही निषिद्ध कर दिया गया। नाटकों में स्त्री और शूद्र पात्रों के मुख से प्राकृत का ही उच्चारण कराया गया है। 'ब्राह्मण[२९८] को साधु शब्द बोलना चाहिए, अपभ्रंश या म्लेच्छ शब्दों का व्यवहार नहीं करना

---

294 ''गवादय एव साधवो न गाव्यादय: इति साधुत्वरूपनियम:।'' —शास्त्रदी. १।३।२७।

295 'न चापभंशानामवाचकतया कथमर्थावबोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवतां बाधकाभावात्। विशेषदर्शिनस्तु द्विविधा:— तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्त: तद्विकलाश्च। तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोध:।' —शब्दकौ., पृ. ३२।

296 'इत्थं च संस्कृत एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्वं साधुत्वम्।' —वैयाकरणभू. पृ. २४९।

297 'शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धा: साधवो धर्मसाधनम्।' —वाक्यप. १।२७।

298 'तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापाभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्द:।' —पात. महा. पास्पशा.।

चाहिए' आदि विधिवाक्यों की सृष्टि का एक ही अभिप्राय है कि धर्म में वेद और वेदोपजीवी वर्ग का अबाध अधिकार कायम रहे। अधिकार हथयाने की इस भावना ने वस्तु के स्वरूप में ही विपर्यास उत्पन्न कर देने का चक्र चलाया और एकमात्र संकेत के बलपर अर्थबोध करनेवाले शब्दों में भी जातिभेद उत्पन्न कर दिया गया। इतना ही नहीं 'असाधु दुष्ट शब्दों का उच्चारण वज्र बनकर इन्द्र की तरह जिह्वा को छेद देगा' यह भय भी दिखाया[२९९] गया। तात्पर्य यह कि वर्गभेद के विशेषाधिकारों का कुचक्र भाषा के क्षेत्र में भी अबाध गति से चला।

वाक्यपदीय (१—२७) में शिष्ट पुरुषों के द्वारा जिन शब्दों का उच्चारण हुआ है ऐसे आगमसिद्ध शब्दों को साधु और धर्म का साधन माना है। यद्यपि अपभ्रंश आदि शब्दों के द्वारा अर्थप्रतीति होती है, चूँकि उनका प्रयोग शिष्ट—जन आगमों में नहीं करते हैं, इसलिए वे असाधु हैं।

तन्त्रवार्तिक (पृ. २७८) आदि में भी व्याकरणसिद्ध शब्दों को साधु और वाचकशक्तियुक्त कहा है और साधुत्व का आधार वृत्तिमत्त्व (संकेत से अर्थबोध करना) को न मानकर व्याकरणनिष्पन्नत्व को ही अर्थबोध और साधुत्व का आधार माना गया है। इस तरह जब अर्थबोधक शक्ति संस्कृत—शब्दों में ही मानी गई, तब यह प्रश्न स्वाभाविक था कि 'प्राकृत और अपभ्रंश आदि शब्दों से जो अर्थबोध होता है वह कैसे?' इसका समाधान द्राविड़ी प्राणायाम के ढंग से किया है। उनका कहना है कि 'प्राकृत आदि शब्दों को सुनकर पहले संस्कृत शब्दों का स्मरण होता है और पीछे उनसे अर्थबोध होता है। जिन लोगों को संस्कृत शब्दों का स्मरण होता है और पीछे उनसे अर्थबोध जोता है। जिन लोगों को संस्कृत शब्द ज्ञात नहीं है, उन्हें प्रकरण, अर्थाध्याहार आदि के द्वारा लक्षणा से अर्थबोध होता है। जैसे कि बालक 'अम्मा अम्मा' आदि रूप से अस्पष्ट उच्चारण करता है, पर सुननेवालों को तद्वाचक मूल 'अम्ब' शब्दा का स्मरण होकर ही अर्थ प्रतीति होती है, उसी तरह प्राकृत आदि शब्दों से भी संस्कृत शब्दों का स्मरण करके ही अर्थबोध होता है। तात्पर्य यह कि कहीं पर साधु शब्दों के स्मरण करके ही अर्थबोध होता है। तात्पर्य यह कि कहीं पर साधु शब्दों के स्मरण के द्वारा, कहीं वाचकशक्ति के भ्रम से, कहीं प्रकरण और अविनाभावी अर्थ का ज्ञान आदि निमित्त से होनेवाली लक्षणा से अर्थबोध का निर्वाह हो जाता है। इस तरह एक विचित्र साम्प्रदायिक भावना के वश होकर शब्दों में साधुत्व और असाधुत्व की जाति कायम की गई है।

---

299 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।' —पात. महा. पास्पशा.।

उत्तर पक्ष–

[३००]किन्तु जब अन्वय लौर व्यतिरेक द्वारा संस्कृत शब्दों की तरह प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों से स्वतन्त्रभाव से अर्थप्रतीति और लोकव्यवहार देखा जाता है, तब केवल संस्कृत शब्दों को साधु और वाचकशक्तिवाला बताना पक्षमोह का ही परिणाम है। जिन[३०१] लोगों ने संस्कृत शब्दों को स्वप्न में भी नहीं सुना है, वे निर्बाध रूप से प्राकृत आदि भाषा–शब्दों से ही सीधा व्यवहार करते हैं। अत: उनमें वाचकशक्ति स्वसिद्ध ही माननी चाहिए। जिनकी वाचकशक्ति का उन्हें भान ही नहीं है उन शब्दों का स्मरण मानकर अर्थबोध की बात करना व्यवहारविरुद्ध ते है ही, कल्पनासंगत भी नहीं है। प्रमाद और अशक्ति से प्राकृत शब्दों का उच्चारण उन लोगों का तो माना जा सकता है जो संस्कृत शब्दों को धर्म मानते हैं, पर जिन असंख्य व्यवहारी लोगों की भाषा ही प्राकृत और अपभ्रंशरूप लोकभाषा है और यावज्जीवन वे उसी से अपनी लोकयात्रा चलाते हैं, उनके लिए प्रमाद और अशक्ति से भाषाव्यवहार की कल्पना अनुभवविरुद्ध है। बल्कि[३०२] कहीं–कहीं तो जब बालकों को संस्कृत पढ़ाई जाती है तब 'वृक्ष, अग्नि' आदि संस्कृत शब्दों का अर्थबोध, 'रूख' 'आगी' आदि अपभ्रंश शब्दों से ही कराया जाता है।

अनादिप्रयोग, विशिष्टपुरुषप्रणीतता, बाधारहितता, विशिष्टार्थवाचकता और प्रमाणान्तरसंवाद आदि धर्म संस्कृत की तरह प्राकृतादि शब्दों में भी पाये जाते हैं।

यदि संस्कृत शब्द के उच्चारण से ही धर्म होता हो; तो अन्य व्रत, उपवास आदि धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं।

'प्राकृत' शब्द स्वयं अपनी स्वाभाविकता और सर्वव्यवहार–मूलकता को कह रहा है। संस्कृत का अर्थ है संस्कार किया हुआ और प्राकृत का अर्थ है स्वाभाविक। किसी विद्यमान वस्तु में कोई विशेषता लाना ही संस्कार कहलाता है और वह इस अर्थ में कृत्रिम ही है।

''प्रकृति: संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं प्राकृतम्'' प्राकृत की यह [३०३]व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से है। पहले संस्कृत के व्याकरण

---

300 देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ७६२।

301 'म्लेच्छादीनां साधुशब्दपरिज्ञानाभावात् कथं तद्विषया स्मृति:? तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्तिस्यात्।' –तत्त्वोप., पृ. १२४।

302 'विपर्ययदर्शनाच्च.......'' – वादन्यायटी., पृ. १०५

303 देखो, हेम. प्र., प्राकृतसर्व., प्राकृतच., वाग्भटा. टी २।२।

बने हैं और पीछे प्राकृत के व्याकरण। अत: व्याकरण–रचना में संस्कृत–शब्दों को प्रकृति मानकर, वर्णविकार वर्णागम आदि से प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण की रचनाएँ हुई हैं; किन्तु प्रयोग की दृष्टि से तो [304]प्राकृत शब्द ही स्वाभाविक और जन्मसिद्ध हैं। जैसे कि मेघ का जल स्वभावत: एकरूप होकर भी नीम, गन्ना आदि विशेष आधारों में संस्कार को पाकर अनेकरूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह स्वाभाविक सब की बोली प्राकृत भाषा पाणिनि आदि के व्याकरणों से संस्कार को पाकर उत्तरकाल में संस्कृत आदि नामों को पा लेती है। पर इतने मात्र से वह अपने मूलभूत प्राकृत शब्दों की अर्थबोधक शक्ति को नहीं छीन सकती।

अर्थबोध के लिए संकेत ही मुख्य आधार है। 'जिस शब्द का, जिस अर्थ में, जिन लोगों ने संकेत ग्रहण कर लिया है, उन शब्दों से उन लोगों को उस अर्थ का बोध हो जाता है' यह एक साधारण नियम है यदि ऐसा न होता तो संसार में देशभेद से सैकड़ों प्रकार की भाषाएँ न बनतीं। एक ही पुस्तकरूप अर्थ का 'ग्रन्थ, किताब, पोथी' आदि अनेक देशीय शब्दों के वाचकव्यवहार में जब कोई बाधा या असंगति नहीं आई, तब केवल संस्कृत–शब्द में ही वाचकशक्ति मानने का दुराग्रह और उसी के उच्चारण से धर्म मानने की कल्पना तथा स्त्री और शूद्रों को संस्कृत शब्दों के उच्चारण का निषेध आदि वर्ग–स्वार्थ की भीषण प्रवृत्ति के ही दुष्परिणाम हैं। धर्म और अधर्म के साधन किसी जाति और वर्ग के लिए जुदे नहीं होते। जो ब्राह्मण यज्ञ आदि के समय संस्कृत शब्दों से ही अपना समस्त जीवन–व्यवहार चलाते हैं। बल्कि हिसाब लगाया जा तो चौबीस घण्टों में संस्कृत शब्दों का व्यवहार पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं होता होगा। व्याकरण के बन्धनों में भाषा को बाँधकर उसे परिष्कृत और संस्कृत बनाने में हमें कोई आपत्ति नहीं है और इस तरह वह कुछ विशिष्ट वाग्–विलासियों की ज्ञान और विनोद की सामग्री भले ही हो जाय, पर इससे शब्दों की सर्वसाधारण वाचकशक्तिरूप सम्पत्ति पर एकाधिकार नहीं किया जा सकता। 'संकेत के अनुसार संस्कृत भी अपने क्षेत्र में वाचकशक्ति की अधिकारिणी हो, और शेष भाषाएँ भी अपने–अपने क्षेत्र में संकेताधीन वाचकशक्ति की समान अधिकारिणी रहें' यही एक तर्कसंगत और व्यवहारी मार्ग है।

नाटयशा. १७।२। त्रि. प्रा., पृ. १। प्राकृतसं. ।

304 'प्राकृतेति– सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार: सहजो वचनव्यवहार: प्रकृति:, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणसिद्धदेवाणं अद्धमग्गहा वाणी इत्यादिवचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतम्, बालमहिलादिसकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुचयते मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।' –काव्या. रुद्र. नमि. २।२२।

शब्द की साधुता का नियामक है 'अवितथ—सत्य अर्थ का बोधक होना' न कि उसका संस्कृत होना। जिस प्रकार संस्कृत शब्द यदि अवितथ—सत्य अर्थ का बोधक होने से साधु हो सकता है, तो उसी तरह प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ भी सत्यार्थ का प्रतिपादन करने से साधु बन सकती है।

जैन परम्परा जन्मगत जातिभेद और तन्मूलक विशेष अधिकारों को स्वीकार नहीं करती। इसलिए वह वस्तुविचार के समय इन वर्गस्वार्थ और पक्षमोह के रंगीन चश्मों की दृष्टि नहीं चढ़ने देती और इसीलिए अन्य क्षेत्रों की तरह भाषा के क्षेत्र में भी उसने अपनी निर्मल दृष्टि से अनुभवमूलक सत्य—पद्धति को ही अपनाया है।

शब्दोच्चारण के लिए जिह्वा, तालु और कण्ठ आदि की शक्ति और पूर्णता अपेक्षित होती है और सुनने के लिए श्रोत्र—इन्द्रिय का परिपूर्ण होना। ये दोनों इन्द्रियाँ जिस व्यक्ति के भी होंगी, वह बिना किसी जातिभेद के सभी शब्दों का उच्चारण कर सकता है और सुन सकता है और जिन्हें जिन—जिन शब्दों का संकेत गृहीत है उन्हें उन—उन शब्दों को सुनकर अर्थबोध भी बराबर होता है। 'स्त्री और शूद्र संस्कृत न पढ़ें तथा द्विज पढ़ें' इसप्रकार विधि—निषेध केवल वर्गस्वार्थ की भित्ति पर आधारित हैं। वस्तुस्वरूप के विचार में इनका कोई उपयोग नहीं है, बल्कि ये वस्तुस्वरूप को विकृत ही कर देते हैं।

उपसंहार—

इस तरह परोक्ष—प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिाान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद होते हैं। इनमें 'अविशद ज्ञान' यह सामान्य लक्षण समानरूप से पाया जाता है। अत: एक लक्षण से लक्षित होने के कारण ये सब परोक्षप्रमाण में अन्तर्भूत हैं; भले ही इनकी अवान्तरसामग्री जुदा—जुदा हो। रह जाती है अमुक ग्रन्थ को प्रमाण मानने और न मानने की बात, सो उसका आधार अविसंवाद ही हो सकता है। जिन वचनों या जिनके वचनों में अविसंवाद पाया जाय, वे प्रमाण होते हैं और विसंवादी वचन अप्रमाण। यह विवेक समग्र ग्रन्थ के भिन्न—भिन्न अंशों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। इसमें सावधानी इतनी ही रखनी है कि अविसंवादित्व की जाँच में हमें भ्रम न हो। उसका अन्तिम निष्कर्ष केवल वर्तमानकालीन सीमित साधनों से ही नहीं निकाला जाना चाहिए; किन्तु त्रैकालिक कार्यकारणभाव की सुनिश्चित पद्धति से ही उसकी जाँच होनी चाहिए। इस खरी कसौटी पर जो वाक्य अपनी यार्थता और सत्यार्थता को साबित कर सकें वे प्रमाणसिद्ध हैं और शेष अप्रमाण। यही बात आप्त के सम्बन्ध है। 'यो

यत्रावञ्चक: स तत्र आप्त:' अर्थात् जो जिस अंश में अवंचक—अविसंवादी हे वह उस अंश में आप्त हैं इस सामान्य सूत्र के अनुसार लोव्यवहार और आगमिक परम्परा दोनों में आप्त का निर्णय किया जा सकता है और आगमप्रमाण की सीमा लोक और शास्त्र दोनों तक विस्तृत की जा सकती है। यही जैन परम्परा ने किया भी है।

ज्ञान के कारण—

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं—

ज्ञान के कारणों का विचार करते समय जैनतार्किकों की यह दृष्टि रही है कि ज्ञान की कारणसामग्री में ज्ञान की शक्ति को उपयोग में लाने के लिए या उसे लब्धि अवस्था से व्यापार करने की ओर प्रवृत्त करने में जो अनिवार्य आधकतम हों उन्हीं को शामिल करना चाहिए। इसीलिए ज्ञान के व्यापार में अन्तरंग कारण उसकी शक्ति अर्थात् क्षयोपशम विशेषरूप योग्यता ही मानी गई है। इसके बिना ज्ञान की प्रकटता नहीं हो सकती, वह उपयोगरूप नहीं बन सकता। बाह्य कारण इन्द्रिय और मन हैं, जिनके होने पर ज्ञान की योग्यता पदार्थों के जानने का व्यापार करती है। भिन्न—भिन्न इन्द्रियों के वयापार से ज्ञान की शक्ति उन—उन इन्द्रियों के विषयों को जानती है। इन्द्रिय व्यापार के समय मन के व्यापार का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए इन्द्रियव्यापार के समय मन के व्यापार का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए इन्द्रियप्रत्यक्ष में इन्द्रियों की मुख्यता होने पर भी मन को बलाधायक—बल देनेवाला स्वीकार किया गया है। मानसप्रत्यक्ष या मानसज्ञान में केवल मनोव्यापार ही कार्य करता है। इन्द्रिय और मन का व्यापार होने पर जो भी पदार्थ सामने होगा उसका ज्ञान हो ही जायगा। इन्द्रिय और मन का व्यापार नियम से ज्ञान की शक्ति को उपयोग में ला ही देते हैं, जब कि अर्थ और आलोक आदि कारणों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे ज्ञान की शक्ति को उपयोग में ला ही दें। पदार्थ और प्रकाश आदि के रहने पर भी सुषुप्त अवस्था और ध्यान का होना असम्भव हो जाता है; क्योंकि पदार्थ और प्रकाश का सान्निध्य जगत् में बना ही हुआ है। विग्रहगति (एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने के लिए की जानेवाली मरणोत्तर गति) में इन्द्रिय और मन की पूर्णता न होने से पदार्थ और प्रकाश आदि का सान्निधान होने पर भी ज्ञान की उपयोग अवस्था नहीं होती। अत: ज्ञान का अन्वय ओर व्यतिरेक यदि मिलता है तो इन्द्रिय और मन के साथ ही, अर्थ और आलोक के साथ नहीं। जिस प्रकार तेल, बत्ती, अग्नि आदि अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाला प्रकाश मिट्टी, कुम्हार आदि अपने कारणों से उत्पन्न हुए घड़े को प्रकाशित करता है, उसी तरह कर्मक्षयोपशम

और इन्द्रियादि कारणों से उपयोग अवस्था में आया हुआ ज्ञान अपने–अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले जगत् के पदार्थों को जानता है। जैसे दीपक न तो घट से उत्पन्न हुआ है और न घट के आकार ही है, फिर भी वह घट का प्रकाशक है; उसी तरह ज्ञान घटादि पदार्थों से उत्पन्न न होकर और उनके आकार न होकर भी उन पदार्थों को जाननेवाला होता है।

बौद्धों के चार प्रत्यय और तदुत्पत्ति आदि–

बौद्ध चित्त और चैत्तों की उत्पत्ति में चार प्रत्यय मानते[३०५] है–

(१) समनन्तर प्रत्यय, (२) अधिपति प्रत्यय, (३) आलम्बन प्रत्यय और मरणोन्मुख व्यक्ति को पदार्थ के रहने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता या विपरीत ज्ञान होता है।

क्षणिक पदार्थ तो ज्ञान के प्रति कारण भी नहीं हो सकते; क्योंकि जब वह क्षणिक होने से कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थ के होने पर भी उसके काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तथा अर्थ के अभाव में ही ज्ञान उत्पन्न होता है, तब ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे माना जा सकता है? कार्य और कारण समानकाल में तो नहीं रह सकते।

ज्ञान[३०६] अमूर्त्त है, अत: वह मूर्त्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को भी धारण नहीं कर सकता। मूर्त्त दर्पण आदि में ही मूर्त्त मुख आदि का प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त्त में मूर्त्त का नहीं।

यदि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में विषय प्रतिनियम हो; तो घटज्ञान को घट की तरह कारणभूत इन्द्रिय आदि को भी विषय करना चाहिए। तदाकारता से विषयप्रतिनियम मानने पर एक घट का ज्ञान होने से उस आकारवाले यावत् घटों का परिज्ञान हो जाना चाहिए। यदि तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर नियामक हैं, तो द्वितीय घटज्ञान को प्रथम घटज्ञान का नियामक होना चाहिए; क्योंकि प्रथम घटज्ञान से वह उत्पन्न हुआ है और जैसा प्रथम घटज्ञान का आकार है वैसा ही आकार उसमें होता है। तदध्यवसाय से भी वस्तु का प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्ल शंख में होनेवाले पीताकार ज्ञान से उत्पन्न द्वितीय ज्ञान में अनुकूल अध्यवसाय तो देखा जाता है पर नियामकता नहीं है।

---

305 'चत्वार: प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चम:।।' –माध्यमिककारिका १।२।

306 लघी. स्व. श्लो. ५८।

अत: अपने–अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञान और अर्थ में दीपक और घट के प्रकाश्य–प्रकाशकभाव की तरह ज्ञेय–ज्ञायकभाव मानना ही उचित है। जैसे देवदत्त और काठ अपने–अपने कारणों से उत्पन्न होकर भी छेदन क्रिया के कर्ता और कर्म बन जाते हैं उसी तरह अपने–अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान से भी ज्ञाप्य–ज्ञापक भाव हो जाता है।[३०७] जिस प्रकार खदान से निकली हुई मलिन मणि अनेक शाण आदि कारणों से न्यूनाधिकरूप में निर्मल ओर स्वच्छ होती है उसी तरह कर्ममुक्त मलिन आत्मा का ज्ञान भी अपनी विशुद्धि के अनुसार तारतमरूप से प्रकाशमान होता है और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है। अत: अर्थ को ज्ञान में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता। पदार्थ तो जगत् में विद्यमान हैं ही, जो सामने आ गया उसे मात्र इन्द्रिय और मन के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जानेगा ही।

आधुनिक विज्ञान मस्तिष्क में प्रत्येक विचार की प्रतिनिधिभूत जिन सीधी–टेढ़ी रेखाओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं वे रेखाएँ पदार्थाकारता का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, किन्तु वे परिपक्व अनुभव के संस्कारों की प्रतिनिधि हैं। यही कारण है कि यथाकाल उन संस्कारां उद्बोध होने पर स्मृति आदि उत्पन्न होते हैं। अत: अन्तरंग और साधकतम दृष्टि से इन्द्रिय और मन ही ज्ञान के कारणों में गिनाये जाने के योग्य हैं, अर्थादि नहीं।

आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं–

इसी तरह [३०८]आलोक ज्ञान का विषय तो होता है, कारण नहीं। जो जिस ज्ञान का विषय होता है वह उस ज्ञान का कारण नहीं होता, जैसे कि अन्धकार। आलोक का ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं है। आलोक के अभाव में अन्धकार का ज्ञान होता है। रात्रिचर उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ही ज्ञान होता है, सद्भाव में नहीं। रात्रि में अन्धकार तो दिखता है, पर उससे आवृत अन्य पदार्थ नहीं। अन्धकार को ज्ञान का आवरण भी नहीं मान सकते; क्योंकि वह ज्ञान का विषय होता है। ज्ञान का आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसी के क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान के विकास में तारतम्य होता है। यह एक साधारण नियम है कि जो जिस ज्ञान का विषय होता है वह उस ज्ञान का कारण नहीं होता, जैसे कि अन्धकार। अत: आलोक के साथ ज्ञान का अन्वय और व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं हो सकता।

---

[307] 'स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ: परिच्छेद्य: स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वत:।।' –लघी. स्व. श्लो. ५९।

[308] देखो, लघी. श्लो. ५६।

विषय की दृष्टि से ज्ञानों का विभाजन और नामकरण भी नहीं किया जाता। ज्ञानों का विभाजन और नामकरण तो इन्द्रिय और मनरूप कारणों से उत्पन्न होने की वजह से चाक्षुष, रासन, स्पार्शन, घ्राणज, श्रोत्रज और मनोजन्य—मानस के रूप में मानना ही उचित और युक्तिसंगत है। पदार्थों की दृष्टि से ज्ञान का विभाजन और नामकरण न सम्भव है और न शक्य ही। इसलिए भी अर्थ आदि को ज्ञान में कारण मानना उचित नहीं जँचता।

प्रमाण का फल—

जैन दर्शन में जब प्रमा के साधकतमरूप में ज्ञान को ही प्रमाण माना है, तब यह स्वभावत: फलित होता है कि उस ज्ञान से होने वाला परिणमन ही फल का स्थान पावे। ज्ञान दो कार्य करता है— अज्ञान की निवृत्ति और स्व—पर का व्यवसाय। ज्ञान का आध्यात्मिक फल मोक्ष की प्राप्ति है; जो तार्किक क्षेत्र में विवक्षित नहीं है। वह तो अध्यात्मज्ञान का ही परम्परा फल है। प्रमाण से साक्षात् अज्ञान की निवृत्ति होती है। जैसे प्रकाश अन्धकार को हटाकर पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान अाान को हटाकर पदार्थों का बोध कराता है। अज्ञान की निवृत्ति और पदार्थों का ज्ञान ये दो पृथक् चीजें नहीं हैं और न इनमें काल—भेद ही है, ये तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पदार्थ बोध के बाद होनेवाला हान—हेय का त्याग, उपादान और उपेक्षाबुद्धि प्रमाण के परम्परा फल हैं। मति आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियाँ फल होती हें, पर केवलज्ञान[३०९] का फल केवल उपेक्षाबुद्धि ही है। राग और द्वेष में चित्त का प्रणिधान नहीं होना, उपेक्षा कहलाती है। चूँकि केवलज्ञानी वीतरागी हैं, अत: उनके रागद्वेषमूलक हान और उपादान बुद्धि नहीं हो सकती।

जैनपरम्परा में ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है। इसी ज्ञान की पूर्व अवस्था प्रमाण कहलाती है और उत्तर अवस्था फल। जो ज्ञानधारा अनेक ज्ञानक्षणों में व्याप्त रहती है, उस ज्ञानधारा का पूर्वक्षण साधकतम होने से प्रमाण होता है और उत्तरक्षण साध्य होने से फल। 'अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और हानादिबुद्धि' इस धारा में अवग्रह केवल प्रमाण ही है और हानादिबुद्धि केवल फल ही, परन्तु ईहा से धारणा पर्यन्त ज्ञान पूर्व की अपेक्षा फल होकर भी अपने उत्तर कार्य की अपेक्षा प्रमाण भी हो जाते हैं।[३१०] एक ही आत्मा का ज्ञानव्यापार जब

---

309 'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी:।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशे वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे।।' —आप्तमी. श्लो. १०२।

310 पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फलं स्यादुत्तरोत्तरम्' —लघी. श्लो. ७।

ज्ञेयोन्मुख होता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उसके द्वारा आाननिवृत्ति या अर्थप्रकाश होता है तब वह फल कहलाता है।

[३११]नैयायिक, वैशेषिक मीमांसक और सांख्य आदि इन्द्रियों को प्रमाण मानकर इन्द्रियव्यापार, सन्निकर्ष, आलोचनाज्ञान, विशेषणज्ञान, विशेष्यज्ञान, हान, उपादान आदि बुद्धि तक की धारा में इन्द्रिय को प्रमाण ही मानते हैं और हानोपदान आदि बुद्धि को फल ही। बीच के इन्द्रियव्यापार और सन्निकर्षआदि को पूर्व पूर्व की अपेक्षा फल और उत्तर उत्तर की अपेक्षा प्रमाण स्वीकार करते हैं। प्रश्न इतना ही है कि जब प्रमाण का कार्य अज्ञान की निवृत्ति करना है तब उस कार्य के लिए इन्द्रिय, इन्द्रिय व्यापार और सन्निकर्ष, जो कि अचेतन हैं, कैसे उपयुक्त हो सकते हैं। चेतन प्रमा में साधकतम तो ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नहीं अतः सविकल्प ज्ञान से ही प्रमाणव्यवहार प्रारम्भ होना चाहिए, न कि इन्द्रिय से। अन्धकारनिवृत्ति के लिए अन्धकारविरोधी प्रकाश ही ढूँढा जाता है न कि तदविरोधी घट, पट, आदि पदार्थ। इन्हीं परम्पराओं को उपनिषदों में यद्यपि तत्त्वज्ञान का चरम फल निःश्रेयस भी बताया गया है, परन्तु तर्कयुग में उसकी प्रमुखता नहीं रही।

बौद्ध[३१२] परम्परा की सौत्रान्तिक शाखा में बाह्य अर्थ का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, इसलिए वे ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्य को प्रमाण मानते हैं और विषय के अधिगम को प्रमाण फल। ये सारूप्य और अधिगम दोनों ज्ञान के ही धर्म हैं। एक ही ज्ञान जिस क्षण में व्यवस्थापन हेतु होने से प्रमाण कहलाता है वही उसी क्षण में व्यवस्थाप्य होने से फल नाम पा जाता है। यद्यपि ज्ञान निरंश है, अतः उसमें उक्त दो अंश पृथक् नहीं होते, फिर भी अन्यव्यावृत्ति की अपेक्षा (असारूप्यव्यावृत्ति से सारूप्य और अनधिगमव्यावृत्ति से अधिगम) दो व्यवहार हो जाते हैं। विज्ञानवादी बौद्धों के मत में बाह्य अर्थ का अस्तित्व न होने से ज्ञानगत योग्यता ही प्रमाण मानी जाती है और स्वसंवेदन फल। एक ही ज्ञान की सव्यापार प्रतीति होने से उसी में प्रमाण और फल ये दो पृथक् व्यवहार व्यवस्थाप्य—व्यवस्थापक का भेद मानकर कर लिए जाते हैं। वस्तुतः ज्ञान तो निरंश है, उसमें उक्त भेद है ही नहीं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद—

---

311 देखो, न्यायमा. १।१।३। प्रश. कन्दली, पृ. १९८—९९।
मी. श्लो. प्रत्यक्ष. श्लो. ५९—७३। सांख्यतत्त्वकौ. श्लो. ४।
312 ''विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।।'' —तत्त्वसं. का १३४४।

जैन परम्परा में चूँकि एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूप से परिणति करता है, अतः प्रमाण और फल अभिनन माने गये हैं तथा कार्य और कारणरूप से क्षणभेद और पर्यायभेद होने के कारण वे भिन्न हैं। बौद्धपरम्परा में आत्मा का अस्तित्व न होने से एक ही ज्ञानक्षण में व्यावृत्ति भेद से भेदव्यवहार होने पर भी वस्तुतः प्रमाण और फल में अभेद ही माना जा सकता है। नैयायिक आदि इन्द्रिय और सन्निकर्ष को प्रमाण मानने के कारण फलभूत ज्ञान को प्रमाण से भिन्न ही मानते हैं। इस भेदाभेद विषयक चर्चा में जैन परम्परा ने अनेकान्तदृष्टि का ही उपयोग किया है और द्रव्य तथा पर्याय दोनों को सामने रखकर प्रमाणफलभाव घटाया है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि को ही प्रमाण का फल बताया और अकलंकदेव ने पूर्व–पूर्व ज्ञानों को प्रमाण और उत्तर–उत्तर ज्ञानों को फल कहकर एक ही ज्ञान में अपेक्षाभेद से प्रमाणरूपता और फलरूपता का भी समर्थन किया है।

बौद्धों के मत में प्रमाण–फलव्यवहार, व्यवस्थापक दृष्टि से है, जबकि नैयायिक आदि के मत में यह व्यवहार कार्यकारण–भाव–निमित्तक है और जैन परम्परा में इस व्यवहार का आधार परिणामपरिणमीय भाव है। पूर्वज्ञान स्वयं उत्तर ज्ञान रूप से परिणत होकर फल बन जाता हैं एक आत्मद्रव्य की ही ज्ञान पर्यायों में यह प्रमाणफलभाव की व्यवस्था अपेक्षा भेद से सम्भव होती है।

यदि प्रमाण और फल का सर्वथा अभेद माना जाता है तो उनमें एक व्यवस्थाप्य और दूसरा व्यवस्थापक, एक प्रमाण और दूसरा फल यह भेदव्यवहार नहीं हो सकता। सर्वथा भेद मानने पर आत्मान्तर के प्रमाण के साथ आत्मान्तर के फल में भी प्रमाण–फल व्यवहार नहीं हो सकेगा। अचेतन इन्द्रियादि के साथ चेतन ज्ञान में प्रमाणफल व्यवहार नहीं हो सकेगा। अचेतन इन्द्रियादि के साथ चेतन ज्ञान में प्रमाणफल व्यवहार नहीं हो सकेगा। अचेतन इन्द्रियादि के साथ चेतन ज्ञान में प्रमाणफल व्यवहार तो प्रतीतिविरुद्ध हैं जिसे[३१३] प्रमाण उत्पन्न होता है, उसी का अज्ञान हटता है, वही अहित को छोड़ता है, हित का उपादान करता है और उपेक्षा करता है। इस तरह एक अनुस्यूत आत्मा की दृष्टि से ही प्रमाण और फल में कथञ्चित अभेद कहा जा सकता है। आत्मा प्रमाता है, उसका अर्थपरिच्छित्ति में साधकतम रूप से व्याप्रियमाण स्वरूप प्रमाण है तथा व्यापार प्रतिमि है। इसप्रकार पर्याय की दृष्टि से उनमें भेद है।

---

313 'यः प्रमितीते स एव निवृत्ताज्ञानी जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।' –परीक्षामुख ५।३।

प्रमाणाभास—

ऊपर जिन प्रमाणों की चर्चा की गई है, उनके लक्षण जिसमें न पाये जाँय, पर जो उनकी तरह प्रतिभासित हों वे सब प्रमाणाभास हैं। यद्यपि उक्त विवेचन से पता लग जाता है कि कौन—कौन प्रमाणाभास हैं, फिर भी इस प्रकरण में उनका स्पष्ट और संयुक्तिक विवेचन करना अपेक्षित है।

[३१४]टस्वसंवेदी ज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास हैं; क्योंकि इनके द्वारा प्रवृत्ति के विषय का यथार्थ उपदर्शन नहीं होता। जो अस्वसंवेदी ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानता वह पुरुषान्तर के ज्ञान की तरह हमें अर्थबोध कैसे करा सकता है? निर्विकल्पक दर्शन संव्यवहारानुपयोगी होने के कारण प्रमाण की कक्षा में शामिल नहीं किया जाता। वस्तुत: जब ज्ञान को प्रमाण माना है तब प्रमाण और प्रमाणाभास की चिन्ता भी ज्ञान के क्षेत्र में ही की जानी चाहिए। बौद्धमत में शब्दयोजना के पहलेवाले ज्ञान को या शब्दसंसर्ग की योग्यता न रखनेवाले जिस ज्ञान को निर्विकल्पक दर्शन शब्द से कहा है, उस संव्यवहारानुपयोगी दर्शन को ही प्रमाणाभास कहना यहाँ इष्ट है, क्योंकि संव्यवहार के लिए ही अर्थ क्रियार्थी व्यक्ति प्रमाण की चिन्ता करते हैं। धवलादि सिद्धान्त—ग्रन्थों में जिस निराकारदर्शनरूप आत्मदर्शन का विवेचन है, वह ज्ञान से भिन्न, आत्मा का एक पृथक् गुण है। अत: उसे प्रमाणाभास न कहकर प्रमाण और अप्रमाण के विचार से बहिर्भूत ही रखना उचित है।

अविसंवादी और सम्यगान को प्रमाण कहा है। यद्यपि आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्वार्थग्राही विशेषण दिया है और गृहीताग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास भी घोषित किया है; पर उनके इस विचार से विद्यानन्द आदि आचार्य सहमत नहीं है। अकलंकदेव ने भी कहीं प्रमाण के लक्षण में अनधिगतार्थग्राही पद दिया है, पर उन्होंने इसे प्रमाणता का प्रयोजक नहीं माना। प्रमाणता के प्रयोजक के रूप में तो उन्होंने अवसिंवाद का ही वर्णन किया। अत: गृहीतग्राहित्व इतना बड़ा दोष नहीं कहा जा सकता, जिसके कारण वैसे ज्ञान को प्रमाणाभास—कोटि में डाला जाय।

जब वस्तु के सामान्य धर्म का दर्शन होता है और विशेष धर्म नहीं दिखाई देते, किन्तु दो परस्पर विरोधी विशेषों का स्मरण हो जाता है तब ज्ञान उन दो विशेष कोटियों में दोलित होने लगता है। यह संशय ज्ञान अनिर्णयात्मक होने से प्रमाणाभास है। विपर्यय ज्ञान में

---

314 'अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादय: प्रमाणाभासा:।' —परीक्षामुख ६।२।

विपरीत एक कोटि का निश्चय होता है और अनध्यवसाय ज्ञान में किसी भी एक कोटि का निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए ये विसंवादी होने के कारण प्रमाणाभास हैं।

सन्निकर्षादि प्रमाणाभास–

[३१५]चक्षु और रस का संयुक्तसमवाय सम्बन्ध होने पर भी चक्षु से रसज्ञान नहीं होता और रूप के साथ चक्षु का सन्निकष न होने पर भी रूपज्ञान होता है। अत: सन्निकर्ष को प्रमा के प्रति साधकतम नहीं कहा जा सकता। अत: सन्निकष, कारकसाकल्य आदि प्रमाणाभास हैं। कारकससाकल्य में चेतन और अचेतन सभी प्रकार की सामग्री का समावेश किया जाता हे। ये प्रमितिक्रिया के प्रति ज्ञान से व्यवहित होकर यानी ज्ञान के द्वारा ही किसी तरह अपनी कारणता कायम रख सकते हैं, साक्षात् नहीं; अत: ये सब प्रमाणाभास हैं। सन्निकर्ष आदि चूँकि अज्ञान रूप हैं; अत: वे मुख्यरूप से प्रमाण नहीं हो सकते। रह जाती है उपचार से प्रमाण कहने की बात, साप्ताधकतमत्व के विचार में उसका कोई मूल्य नहीं है। ज्ञान होकर भी जो संव्यवहारपयोगी नहीं हैं या अकिञ्चत्कर हैं वे सब प्रमाणाभासकोटि में शामिल हैं।

प्रत्यक्षाभास–

[३१६]अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभास है, जैसे कि प्रज्ञाकर गुप्त अकस्मात् धुआँ को देखकर होनेवाले वह्निविज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। भले ही यहाँ पहले से व्याप्ति गृहीत न हो ओर तत्कालिक प्रतिभा आदि से वह्निका प्रतिभास हो गया हो, किन्तु वह प्रतिभास धूमदर्शन की तरह विशद तो नहीं है, अत: उस अविशद ज्ञान को प्रत्यक्ष–कोटि में शामिल नहीं किया जा सकता। वह प्रत्यक्षाभास ही है।

परोक्षाभास–

[३१७]विशद ज्ञान को भी परोक्ष कहना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञान को अपने स्वरूप में विशद होते हुए भी परोक्ष मानता है।

यह कहा जा चुका है कि अप्रत्यक्षज्ञान के द्वारा पुरुषान्तर के ज्ञान की तरह अर्थोपलब्धि नहीं की जा सकती। अत: ज्ञानमात्र को चाहे

---

[315] परीक्षामुख ६।५।

[316] परीक्षामुख ६।३।

[317] परीक्षामुख ६।७।

वह सम्यगान हो या मिथ्याज्ञान, स्वसंवेदी मानना ही चाहिए। जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वप्रकाश करता हुआ ही उत्पन्न हो जाय। अत: मीमांसक का उसे परोक्ष कहना परोक्षाभास है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास–

बादलों में गंधर्वनगर का ज्ञान और दु:ख में सुख का ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है।

मुख्य प्रत्यक्षाभास–

इसी तरह अवधिज्ञान में मिथ्यात्व के सम्पर्क से विभंगावधिपना आता है। वह मुख्य प्रत्यक्षाभास कहा जायगा। मन:पर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, अत: उनमें विपर्यास की किसी भी तरह सम्भावना नहीं है।

स्मरणाभास–

अतत् में तत् का, या तत् में अतत् का स्मरण करना [३१८]स्मरणाभास है। जैसे– जिनदत्त में 'वह देवदत्त' ऐसा स्मरण स्मरणाभास है।

प्रत्यभिज्ञानाभास–

[३१९]सदृश पदार्थ में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी पदार्थ में 'यह उस जेसा इस सहै प्रकार का ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे सहजात देवदत्त और जिनदत्त में भ्रमवश होनेवाला विपरीत प्रत्यभिज्ञान, और पर्यायदृष्टि से सदृश पदार्थ में नैयायिकादि को होनेवाला एकत्वज्ञान। ये सब प्रत्यभिज्ञानाभास हैं।

तर्काभास–

जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, उनमें व्याप्तिज्ञान करना तर्काभास[३२०] है। जैसे– जितने मैत्र के पुत्र होंगे वे सब श्याम होंगे आदि। यहाँ मैत्रतनयत्व और श्यामत्व में न तो सहभावनियम है और न क्रमभावनियम; क्योंकि श्यामता का कारण उस प्रकार के नामकर्म का उदय और गर्भावस्था में माता के द्वारा शाक आदि का प्रचुर परिणाम में खाया जाना है।

अनुमानाभास–

---

318 परीक्षामुख ६।८।

319 परीक्षामुख ६।९।

320 परीक्षामुख ६।१०।

पक्षाभास आदि से उत्पन्न होनेवाले अनुमानाभास[321] हैं। अनिष्ट, सिद्ध और बाधित पक्ष पक्षाभास है। मीमांसक का 'शब्द अनित्य' यह कहना अनिष्ट पक्षाभास है। कभी–कभी भ्रमवश या घबड़ाकर अनिष्ट भी पक्ष कर लिया जाता है। 'शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है' यह सिद्ध पक्षाभास है। शब्द के कान से सुनाई देने में किसी को भी विवाद नहीं है, अतः उसे पक्ष बनाना निरर्थक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन से बाधित साध्यवाला पक्ष बाधित पक्षाभास है। जैसे– 'अग्नि ठण्डी है; क्योंकि वह द्रव्य है, जल की तरह।' यहाँ अग्नि का ठण्डा होना प्रत्यक्ष से बाधित है। 'शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घट की तरह।' यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घट की तरह।' यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घट की तरह।' यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'शब्द परिणामी है; क्योंकि वह अर्थ क्रिकारी है और कृतक है घट की तरह' इस अनुमान से बाधित है। 'परलोक में धर्म दुःखदायक है, क्योंकि वह पुरुषाश्रित है, जैसे– कि अधर्म।' यहाँ धर्म को दुःखदायक बताना आगम से बाधित है। 'मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है; क्योंकि वह प्राणी का अंग है, जैसे– कि शंख और शुक्ति'। यहाँ मनुष्य की खोपड़ी की पवित्रता लोकबाधित है। लोक में गौ के शरीर से उत्पन्न होने पर भी दूध पवित्र माना जाता है और गोमांस अपवित्र। इसी तरह अनेक प्रकार के लौकिक पवित्रापवित्र व्यवहार चलते हैं। 'मेरी माता बन्ध्या है; क्योंकि उसे पुरुषसंयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता, जैसे– कि प्रसिद्ध बन्ध्या।' यहाँ मेरी माता का बन्ध्यापन स्ववचनबाधित है। यदि बन्ध्या है, तो मेरी माता कैसे हुई? ये सब पक्षाभास हैं।

हेत्वाभास–

जो हेतु के लक्षण से रहित हैं, पर हेतु के समान मालूम होते हैं वे हेत्वाभास हैं। वस्तुतः इन्हें साधन के दोष होने से साधनाभास कहना चाहिए; क्योंकि निर्दुष्ट साधन में इन दोषों की सम्भावना नहीं होती। साधन और हेतु में वाच्य–वाचक का भेद है। साधन के वचन को हेतु कहते हैं, अतः उपचार से साधन के दोषों को हेतु का दोष मानकर हेत्वाभास संज्ञा दे दी गई है।

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक–एक रूप के अभाव में असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और

---

321 परीक्षामुख ६।११–२०।

प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं।[322] बौद्धों[323] ने हेतु को त्रिरूप माना है, अत: उनके मत से पक्षधर्मत्व के अभाव में असिद्ध, सपक्षसत्त्व के अभाव में विरुद्ध और विपक्षासत्त्व के अभाव में अनैकान्तिक इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। कणाद—सूत्र (३।१।१५) में असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासों का निर्देश होने पर भी भाष्य में अनध्यवसित नाम के चौथे हेत्वाभास का भी कथन है।

जैन दार्शनिकों में आचार्य सिद्धसेन ने (न्यायावतार श्लो. २३) असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभासों को गिनाया है। अकलंकदेव ने अव्यथानुपपन्नत्व को ही जब हेतु का एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वाभावत: इनके मत से अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में एक ही हेत्वाभास हो सकता है। वे स्वयं लिखते हैं[324] कि वस्तुत: एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। 'अन्यथानुपपत्ति' का अभाव चूँकि कई प्रकार से होता है, अत: विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। [325]एक जगह तो उन्होंने विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध को अकिञ्चित्कर का विस्तार मात्र बताया है। इनके मत से हेत्वाभासों की संख्या का कोई आग्रह नहीं है, फिर भी उनने जिन चार हेत्वाभासों का निर्देश किया है, उनके लक्षण इसप्रकार है—

(१) असिद्ध— ''सर्वथात्ययात्'' (प्रमाण सं. श्लो. ४८) सर्वथा पक्ष में न पाया जानेवाला अथवा जिसका साध्य के साथ सर्वथा अविनाभाव न हो। जैसे— 'शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से।' असिद्ध दो प्रकार का है। एक अविद्यमानसत्ताक— अर्थात् स्वरूपासिद्ध और दूसरा अविद्यमाननिश्चय— अर्थात् सन्दिग्धासिद्ध। अविद्यमानसत्ताक— जैसे शब्द परिणामी है; क्योंकि वह चाक्षुष है। इस अनुमान में चाक्षुषत्व हेतु शब्द में स्वरूप से ही असिद्ध है। अविद्यमान— मूर्ख व्यक्ति धूम और भाफ का विवेक नहीं करके जब बटलोई से निकलनेवाली भाफ को धुआँ मानकर, उसमें अग्नि का अनुमान करता है, तो वह सन्दिग्धासिद्ध होता है। अथवा, सांख्य यदि शब्द को परिणामी सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु का प्रयोग करता है तो वह भी सन्दिग्धासिद्ध है, क्योंकि सांख्य के मत में आविर्भाव और तिरोभाव शब्द ही प्रसिद्ध हैं, कृतकत्व नहीं।

---

322 न्यायासार, पृ. ७।

323 न्यायवि. ३।५७।

324 ''अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृत:।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरै:।।'' न्यायवि. २।१९५।

325 ''अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे।'' —न्यायवि. २।३७०।

न्यायसार (पृ. ८) आदि में विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध इन असिद्ध के आठ भेदों का वर्णन है। उनमें व्यर्थविशेषण तक के छह भेद उन रूपों से सत्ता के अविद्यमान होने के कारण स्वरूपासिद्ध में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भागासिद्ध यह है– 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न का अविनाभावी है।' चूँकि इसमें अविनाभाव पाया जाता है, अतः यह सच्चा हेतु है। अनित्यत्व सिद्ध करेगा। जो शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होंगे वे तो अनित्य होंगे ही।

व्यधिकरणासिद्ध भी असिद्ध हेत्वाभास में नहीं गिनाया जाना चाहिए; क्योंकि– 'एक मुहूर्त बाद शकट का उदय होगा, इस समय कृत्तिका का उदय होने से', 'ऊपर मेघवृष्टि हुई हे, नीचे नदीपूर देखा जाता है' इत्यादि हेतु भिन्नाधिकरण हो करके भी अविनाभव के कारण सच्चे हेतु हैं। गम्यगमक भाव का आधार अविनाभा है न कि भिन्न–अधिकरणता या अभिन्नाधिकरणता। 'अविद्यमानसत्तक' का अर्थ– 'पक्ष में सत्ता का न पाया जाना' नहीं है, किन्तु साध्य, दृष्टान्त या दोनों के साथ जिसकी अविनाभावी सत्ता न पायी जाय उसे अविद्यमानसत्ताक कहते हैं।

इसी तहर सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदि का सन्दिग्धासिद्ध में ही अन्तर्भाव करलेना चाहिए। ये असिद्ध कुछ अन्यतरासिद्ध और कुछ उभयासिद्ध होते हैं। वादी जब तक प्रमाण के द्वारा अपने हेतु को प्रतिवादी के लिए सिद्ध नहीं कर देता, तब तक वह अन्तरासिद्ध कहा जा सकता है।

(२) विरुद्ध– ''अन्यथाभावात्'' (प्रमाणसं. श्लो. ४८) साध्याभाव में पाया जाने वाला। जैसे– 'सब क्षणिक हैं सत् होने से' यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्व के विपक्षी कथञ्चित् क्षणिकत्व में पाया जाता है।

न्यायसार (पृ. ८) में विद्यमानसपक्षवाले चार विरुद्ध तथा अविद्यमानसपक्षवाले चार विरुद्ध इस तरह जिन आठ विरुद्धों का वर्णन है, वे सब विपक्ष में अविनाभाव पाये जाने के कारण ही विरुद्ध हैं। हेतु का सपक्ष में होना कोई आवश्यक नहीं है। अतः सपक्षसत्त्व के अभाव को विरुद्धता का नियामक नहीं मान सकते। किन्तु विपक्ष के साथ उसके अविनाभाव का निश्चित होना ही विरुद्धता का आधार है।

दिंनाग आचार्य ने विरुद्धाव्यभिचारी नाम का भी एक हेत्वाभास माना है। परस्परविरोधी दो हेतुओं का एक धर्मी में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी हो जाता है। यहा संशयहेतु होने से हेत्वाभास है। धर्मकीर्ति[३२६] ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है। वे लिखते हैं कि जिस हेतु का त्रैरूप्य प्रमाण से प्रसिद्ध है, उसमें विरोधी हेतु का अवसर ही नहीं है। अतः यह आगमाश्रित हेतु के विषय में ही सम्भव हो सकता है। शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रतिपादन करता है, अतः उसमें एक ही वस्तु परस्परविरोधी रूप में वर्णित हो सकती है।

अकलंकदेव ने इस हेत्वाभास का विरुद्ध में अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्ध का अव्यभिचारी– विपक्ष में भी रहने वाला है, वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आता है।

(३) अनैकान्तिक– ''व्यभिचारी विपक्षेऽपि'' (प्रमाणसं. श्लो. ४९)– विपक्ष में भी पाया जानेवाला। यह दो प्रकार का है। एक निश्चितानैकान्तिक– 'जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, घ्ज्ञट की तरह।' यहाँ प्रमेयत्व हेतु का विपक्षभूत नित्य आकाश में पाया जाना निश्चित है। दूसरा सन्दिग्धानैकान्तिक जैसे– सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, रथ्यापुरुष की तरह।' यहाँ विपक्षभूत सर्वज्ञ के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध न होने से वक्तृत्व हेतु सन्दिग्धानैकान्तिक है।

न्यायसार (पृ. १०) आदि में इसके जिन पक्षत्रयव्यापक, सपक्षविपक्षैक देशवृत्ति आदि आठ भेदों का वर्णन है, वे सब इसी में अन्तर्भूत हैं। अकलंकदेवने इस हेत्वाभास के लिए सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग किया है।

(४) अकिञ्चित्कर[३२७]– सिद्ध साध्य में और प्रत्यक्षादिबाधित साध्य में प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चित्कर है। सिद्ध और प्रत्यक्षादि बाधित साध्य के उदाहरण पक्षाभास के प्रकरण में दिये जा चुके हैं। अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने भी त्रिलक्षण हेतु हैं, वे सब अकिञ्चित्कर हैं।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का निर्देश जैनदार्शनिकों में सर्वप्रथम अकलंकदेव ने किया है, परन्तु उनका अभिप्राय इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास

---

326 ननु च आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः स इह नोक्तः, अनुमानविषयेऽसम्भवात्।'' –न्यायवि. ३।११२, ११३।

327 'सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।'' –प्रमाणसं. श्लो. ४९।

''सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।'' –परीक्षामुख ६।३५।

मानने के विषय में सुदृढ़ नहीं मालूम होता। वे एक जगह लिखते हैं कि सामान्य से एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध के भेद से अनेक प्रकार का होता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं फिर लिखते हैं कि अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्य से हेत्वाभासों की अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने का उनका प्रबल आग्रह नहीं था। यही कारण है कि आचार्य [३२८]माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि 'इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षणकाल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ के समय तो इसका कार्य पक्षदोष से ही किया जा सकता है।' आचार्य विद्यानन्द ने भी सामान्य रूप से एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को उसी का रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के ऊपर भार नहीं दिया है। वादिदेवसूरि आदि आचार्य भी हेत्वाभास के असिद्ध आदि तीन भेद ही मानते हैं।

दृष्टान्ताभास–

व्याप्ति की सम्प्रतिपत्ति का स्थान दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त में साध्य और साधन का निर्णय होना आवश्य है। जो दृष्टान्त के लक्षण से रहित हो, किन्तु दृष्टान्त के स्थान में उपस्थित किया गया हो, वह दृष्टान्ताभास है। दिंनाग के न्यायप्रवेश (पृ. ५–६) में दृष्टान्ताभास के साधनधर्मासिद्ध, साध्यधर्मासिद्ध; अनन्वय, उभयधर्मासिद्ध विपरीतान्वय ये पाँच साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधना व्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये पाँच वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह दस दृष्टान्ताभास बताये हैं। इनमें उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभास के अवान्तर दो भेद और भी दिखाये गये हैं। अत: दिंनाग के मत से बारह दृष्टान्ताभास फलित होते हैं। [३२९]आचार्य धर्मकीर्ति ने दिंनाग के मूल दस भेदों में सन्दिग्धसाध्यान्वय, सन्दिग्धसाधनान्वय, सन्दिग्धउभयान्वय और अप्रदर्शितान्वय ये चार साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, सन्दिग्धोभयव्यतिरेक और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन चार वैधर्म्यदृष्टान्ताभासो को मिलाकर कुल अठारह दृष्टान्ताभास बतलाये हैं।

न्यायावतार (श्लो. २४–२५) में आ. सिद्धसेन 'साध्यादिविकल तथा संशय' शब्द देकर लगभग धर्मकीर्तिसम्मत विस्तार की ओर ही

---

328 ''लक्षण एवासौ दोष: व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टतवात्।'' –परीक्षामुख ६।३९।
329 प्रश. भा. पृ. २४७।

संकेत किया है। आचार्य माणिक्यनन्दि (परीक्षामुख ४।४०—४५) असिद्धसाध्य, असिद्ध—साधन, असिद्धोभय तथा विपरीतान्वय ये चार साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा चार ही वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह कुछ आठ दृष्टान्ताभास मानते हैं। इन्होंने 'असिद्ध' शब्द से अभाव और संशय दोनों को ले लिया है। इतने अनन्वय और अप्रदर्शितान्वय को भी दृष्टान्त—दोषों में शामिल नहीं किया है। वादिदेवसूरि (प्रमाणनय. ६।६०—७९) धर्मकीर्ति की तरह अठारह ही दृष्टान्ताभास मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र (प्रमाणमी. २।१।२२—२७) अनन्वय और अव्यतिरेक को स्वतन्त्र दोष नहीं मानकर दृष्टान्ताभासों की संख्या सोलह निर्धारित करते हैं।

परीक्षामुख के अनुसार आठ दृष्टान्ता इसप्रकार है—

'शब्द अपौरुषेय है, अमूर्तिक होने से' इस अनुमान में इन्द्रिसुख, परमाणु और घट ये दृष्टान्त क्रमशः असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय हैं, क्योंकि इन्द्रियसुख पौरुषेय है, परमाणु मूर्तिक है तथा घड़ा पौरुषेय भी है और मूर्तिक भी है। 'जो अमूर्तिक हैं, वह अपौरुषेय है' ऐसा अन्वय मिलाना चाहिए, परन्तु 'जो अपौरुषेय है वह अमूर्तिक है' ऐसा विपरीतान्वय मिलाना दृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदि अपौरुषेय होकर भी अमूर्त्तिक नहीं है। उक्त अनुमान में परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश का दृष्टान्त क्रमशः असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध—साधनव्यतिरेक और असिद्धोभय—व्यतिरेक है, क्योंकि परमाणु अपौरुषेय है, इन्द्रियसुख अमूर्तिक है और आकाश अपौरुषेय और अमूर्तिक दोनों है। अतः इनमें उन—उन धर्मों का व्यतिरेक असिद्ध है। 'जो अपौरुषेय नहीं हैं, वे अमूर्तिक नहीं है' ऐसा साध्याभाव में साधनाभावरूप व्यतिरेक दिखाया जाना चाहिए परन्तु 'जो अमूर्त्रिक नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है' इसप्रकार का उल्टा व्यतिरेक दिखाना विपरीतव्यतिरेक दृष्टानताभास है, क्योंकि बिजली आदि से अप्रिसंग दोष आता है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अन्य आठ दृष्टान्ताभास—

(१) सन्दिग्धसाध्यान्वय— जैसे यह पुरुष रागी है, क्योंकि वचन बालता है, रथ्यापुरुष की तरह।

(२) सन्दिग्धसाधनान्वय— जैसे यह पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि यह रागी है, रथ्यापुरुष की तरह।

(३) सन्दिग्धोभयधर्मान्वय— जैसे यह पुरुष किंचिज्ज्ञ है, क्योंकि रागी है, रथ्यापुरुष की तरह।

इन अनुमानों में चूँकि पर की चित्तवृत्ति का जानना अत्यन्त कठिन है, अत: राग और किञ्चिज्ज्ञत्व की सत्ता सन्दिग्ध है।

(४–६) इसी तरह इन्हीं अनुमानों में साध्य–साधनभूत राग और किञ्चिज्ज्ञत्व का व्यतिरेक सन्दिग्ध होने से सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक और सन्दिग्धोभयव्यतिरेक नामों के व्यतिरेक दृष्टान्ताभास हो जाते हैं।

(७–८) अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक भी दृष्टान्ताभास होते हैं, यदि व्याप्ति का ग्राहक तर्क उपस्थित न किया जाय। 'यथावत् तथा' आदि शब्दों का प्रयोग न होने की वजह से किसी को दृष्टान्ताभास नहीं कहा जा सकता; क्योंकि व्याप्ति के साधक प्रमाण की उपस्थिति में इन शब्दों के अप्रयोग का कोई महत्त्व नहीं है; और इन शब्दों का प्रयोग होने पर भी यदि व्याप्तिसाधक प्रमाण नहीं है, तो वे निश्चय से दृष्टान्ताभास हो जाएँगे।

नादिदेवसूरि ने अनन्वय और अव्यतिरेक इन दो दृष्टान्ताभासों का भी निर्देश किया है, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट लिखते हैं कि ये स्वतन्त्र दृष्टान्ताभास नहीं हैं; क्योंकि पूर्वोक्त आठ–आठ दृष्टान्ताभास अनन्वय और अव्यतिरेक के ही विस्तार हैं।

उदाहरणाभास–

दृष्टान्ताभास के वचन को उदाहरणाभास कहते हैं। उदाहरणाभास में वस्तुगत दोष और वचनगत दोष दोनों शामिल हो सकते हैं। अत: इन्हें उदाहरणाभास कहने पर ही अप्रदर्शितान्वय, विपरीतान्वय, प्रदर्शितव्यतिरेक, विपरीत व्यतिरेक जैसे वचनदोषों का संग्रह हो सकता है, दृष्टान्ताभास में तो केवल वस्तुगत दोषों का ही संग्रह होना न्याय्य है।

बालप्रयोगाभास[३३०]–

यह पहले बताया जा चुका है कि उदाहरण, उपनय और निगमन बालबुद्धि शिष्यों के समझाने के लिए अनुमान के अवयवरूप में स्वीकार किये गये हैं। जो अधिकारी जितने अवयवों से समझते हैं,

---

330 परीक्षामुख ६।४६–५०

उनके लिए उनसे कम का प्रयोग बालप्रयोगाभास होगा। क्योंकि जिन्हें जितने वाक्य से समझने की आदत पड़ी हुई है, उन्हें उससे कम का बोलना अटपटा लगेगा और उन्हें उतने मात्र से स्पष्ट अर्थबोध भी नहीं हो सकेगा।

आगमाभास[३३१]—

राग, द्वेष और मोह से युक्त अप्रामाणिक पुरुष के वचनों से होनेवाला ज्ञान आगमाभास है। जैसे— कोई पुरुष बच्चों के उपद्रव से तंग आकर उन्हें भगाने की इच्छा से कहे कि 'बच्चो, नदी के किनारे लड्डू बट रहे हैं दौड़ो।' इसीप्रकार के राग—द्वेष—मोह प्रयुक्त वाक्य आगमाभास कहे जाते हैं।

सख्याभास[३३२]—

मुख्यरूप से प्रमाण के दो भेद किये गये हैं— एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इसका उल्लंघन करना अर्थात् एक, या तीन आदि प्रमाण मानन संख्याभास है; क्योंकि एक प्रमाण मानने पर चार्वाक प्रत्यक्ष से ही परलोकादि का निषेध, परबुद्धि आदि का ज्ञान, यहाँ तक कि स्वयं प्रत्यक्ष की प्रमाणता का समर्थन भी नहीं कर सकता। इन कार्यों के लिए उसे अनुमान मानना ही पड़ेगा। इसी तरह बौद्ध, सांख्य नैयायिक प्रभाकर और जैमिनीय अपने द्वारा स्वीकृत दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रमाणों से व्याप्ति का ज्ञान नहीं कर सकते। उन्हें व्याप्तिग्राही तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही चाहिए। इस तरह तर्क को अतिरिक्त प्रमाण मानने पर उनकी निश्चित प्रमाण—संख्या बिगड़ जाती है।

नैयायिक के उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में, प्रभाकर की अर्थापत्ति का अनुमान में और जैमिनीय के अभाव प्रमाण का यथासम्भव प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अत: यावत् विशदज्ञानों का, जिनमें एकदेशविशद इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष भी शामिल हैं, प्रत्यक्षप्रमाण में तथा समस्त अविंशदज्ञानों का, जिनमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम हैं, परोक्षप्रमाण में अन्तर्भाव करके प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद स्वीकार करना चाहिए। इनके अवान्तर भेद भी प्रतिभासभेद और आवश्यकता के आधार से ही किये जाने चाहिए।

विषयाभास[३३३]—

---

331 परीक्षामुख ६।५१—५४।

332 परीक्षामुख ६।५५—६०।

333 'विषयाभास: सामान्यं विशेषो द्रयं बा स्वतन्त्रम्'। —परीक्षामुख ६।६१—६५।

एक ही सामान्यविशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है, यह पहले बताया जा चुका है। यदि केवल सामान्य, केवल विशेष या सामान्य और विशेष दोनों को स्वतन्त्र–स्वतन्त्ररूप में प्रमाण का विषय माना जाता है, तो ये सब विषयाभास हैं, क्योंकि पदार्थ की स्थिति सामान्यविशेषात्मक और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकरूप में ही उपलब्ध होती है। पूर्वपर्याय का त्याग, उत्तरपर्याय की उत्पत्ति और द्रव्यरूप से स्थिति इस त्रयात्मकता के बिना पदार्थ कोई भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता। 'लोकव्यवस्था' आदि प्रकरणों में हम इसका विस्तार से वर्णन कर आये हैं। यदि सर्वथा नित्य सामान्य आदिरूप पदार्थ अर्थक्रियाकारी हों, तो समर्थ के लिए कारणान्तरों की अपेक्षा न होने से समस्त कार्यों की उत्पत्ति एकसाथ हो जानी चाहिए और यदि असमर्थ हैं, तो कार्योत्पत्ति बिल्कुल ही नहीं होनी चाहिए। 'सहकारी कारणों की असामर्थ्य को हटाकर सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं और इस तरह वह उत्पाद और व्यय का आधार बन जाता है। सर्वथा क्षणिक पदार्थ में देशकृत क्रम न होने के कारण कार्यकारणभाव और क्रमिक कार्योत्पत्ति होती है' इसका सीधा अर्थ है कि सहकारी उस कारण की असामर्थ्य को हटाकर सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं और इस तरह वह उत्पाद और व्यय का आधार बन जाता है। सर्वथा क्षणिक पदार्थ में देशकृत क्रम न होने के कारण कार्यकारणभव और क्रमिक कार्योत्पत्ति का निर्वाह नहीं हो सकता। पूर्व उत्तर के साथ कोई वास्तविक स्थिर सम्बन्ध न होने से कार्यकारणभावमूलक समस्त जगत के व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा। बद्ध को ही मोक्ष तो तब हो सकता है जब एक ही अनुस्यूत चित्त प्रथम बँधे और वहीं छूटे। हिंसक को ही पाप का फल भोगने का अवसर तब आ सकता है, जब हिंसाक्रिया से लेकर फल भोगने तक उसका वास्तविक अस्तित्व और परस्पर सम्बन्ध हो।

इन विषयाभासों में ब्रह्मवाद और शब्दाद्वैतवाद नित्य पदार्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाली उपनिषद् धारा से निकले हैं। सांख्य का एक प्रधान अर्थात् प्रकृतिवाद भी केवल सामान्यवाद में आता है। प्रतिक्षण पदार्थों का विनाश मानना और परस्पर विशकलित क्षणिक परमाणुओं का पुञ्ज मानना केवल विशेषवाद में सम्मिलित है। तथा सामान्य को स्वतन्त्र पदार्थ और द्रव्य, गुण, कर्म आदि विशेषों को पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानना परस्पर–निरपेक्ष उभयवाद में शामिल है।

ब्रह्मवादविचार

वेदान्ती का पूर्वपक्ष–

वेदान्ती जगत् में केवल एक [334]ब्रह्म को ही सत् मानते हैं। वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। वह सत् रूप है। 'है' यह अस्तित्व ही उस महासत्ता का सबसे प्रबल साधक प्रमाण है। चेतन जितने भी भेद हैं, वे सब इस ब्रह्म के प्रतिभासमात्र हैं। उनकी सत्ता प्रातिभासिक या व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जैसे एक अगाध समुद्र वायु के वेग से अनेक प्रकार की बीची, तरंग, फेन,बुद्बुद आदि रूपों में प्रतिभासित होता है, उसी तरह एक सत् ब्रह्म अविद्या या माया की वजह से अनेक जड़–चेतन, जीवात्मा–परमात्मा और घट–पट आदि रूप से प्रतिभासित होता है। यह तो दृष्टि–सृष्टि है। अविद्या के कारण अपनी पृथक् सत्ता अनुभव करनेवाला प्राणी अविद्या में ही बैठकर अपने संस्कार और वासनाओं के अनुसार जगत को अनेक प्रकार के भेद और प्रपञ्च के रूप में देखता है। एक ही पदार्थ अनेक प्राणियों को अपनी–अपनी वासना–दूषित दृष्टि के अनुसार विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। अविद्या के हट जाने पर सत्, चित् और आनन्दरूप ब्रह्म में लय हो जाने पर समस्त प्रपंचों से रहित निर्विकल्प ब्रह्म–स्थिति प्राप्त होती है। जिस[335] प्रकार विशुद्ध आकाश को तिमिररोगी अनेक प्रकार की चित्र–विचित्र रेखाओं से खचित और चित्रित देखता है, उसी तरह अविद्या या माया के कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकार के देश, काल और आकार के भेदों से भिन्न तरह चित्र–विचित्र प्रतिभासित होता है। जो भी जगत् में था, है और होगा वह सब ब्रह्म ही है।

यही ब्रह्म समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में उसी तरह कारण होता है, जिस[336] प्रकार मकड़ी अपने जाल के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए और वट वृक्ष अपने प्ररोहों के लिए कारण होता हे। जितना भी भेद है, वह सब अतात्त्विक और झूठा है।

यद्यपि [337]आत्मश्रवण, मनन और ध्यानादि भी भेदरूप होने के कारण अविद्यात्मक हैं, फिर भी उनसे विद्या की प्राप्ति सम्भव है। जैसे धूलि से गंदले पानी में कतकफल या फिटकरी का चूर्ण, जो कि स्वयं भी धूलिरूप ही है, डालने पर एक धूलि दूसरी धूलि को शान्त कर देती है और स्वयं भी शान्त होकर जल को स्वच्छ अवस्था में पहुँचा

---

334 'सर्वं खाल्विदं ब्रह्म' –छान्दो. ३।१४।१।

335 'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते।।
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति।।' –बृहदा. भा. वा. ३।५।४३–४४।

336 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च..' –मुण्डकोप. १।१।७।

337 'यथा पयो पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति; यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा बा कतकरजी रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाबिलं पाथः करोति, एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति।' –ब्रह्मसू. शां. भा. भा. पृ. ३२।

देती है, उसी तरह आत्मश्रवण, मनन आदिरूप अविद्या भी राग–द्वेष–मोह आदि रूप मूल–अविद्या को नष्ट कर स्वगतभेद के शान्त होने पर निर्विकल्प स्वरूपतावस्था प्राप्त हो जाती है। अतात्त्विक अनादिकालीन अविद्या के उच्छेद के लिए ही मुमुक्षुओं का प्रयत्न होता है। यह अविद्या तत्त्वज्ञान का प्रागभाव है। अत: अनादि होने पर भी उसकी निवृत्ति उसी तरह हो जाती है जिस प्रकार कि घटदि कार्यों की उत्पत्ति होने पर उनके प्रागभावों की।

इस ब्रह्म का ग्राहक सन्मात्रग्राही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। वह मूक बच्चों के ज्ञान की तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्क से शून्य निर्विकल्प होता है।

'अविद्या ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विचार भी अप्रस्तुत हैं, क्योंकि ये विचार वस्तुस्पर्शी होते हैं और अविद्या है अवस्तु। किसी भी विचार को सहन नहीं करना ही [३३८]अविद्या का अविद्यात्व है।

जैन का उत्तरपक्ष–

किन्तु, प्रत्यक्षसिद्ध ठोस और तात्त्विक जड़ और चेतन पदार्थों का मात्र अविद्या के हवाई प्रहार से निषेध नहीं किया जा सकता। विज्ञान की प्रयोगशालाओं ने अनन्त जड़ परमाणुओं का पृथक् तात्त्विक अस्तित्व सिद्ध किया ही है। तुम्हारा कल्पित ब्रह्म ही उन तयि और सत्यसाधक प्रयोगशालाओं में सिद्ध नहीं हो सका है। यह ठीक है कि हम अपनी शब्द संकेत की वासना के अनुसार किसी परमाणुसमुदाय को घट, घड़ा, कलश आदि अनेक शब्दसंकेत से व्यक्त करें और इस व्यक्तिकरण की अपनी सीमित मर्यादा भी हो, पर इतने मात्र से उन परमाणुओं की सत्ता से और परमाणुओं से बने हुए विशिष्ट आकारवाले ठोस पदार्थों की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र, वजनवाले और अपने गुणधर्मों के अखण्ड आधारभूत उन परमाणुओं के व्यक्तित्व का अभेदगामिनी दृष्टि के द्वारा विलय नहीं किया जा सकता। उन सब में अभिन्न सत्ता का दर्शन ही काल्पनिक है। जैसे कि अपनी पृथक्–पृथक सत्ता रखनेवाले छात्रों के समुदाय में सामाजिक भावना से कल्पित किया गया एक 'छात्रमण्डल' मात्र व्यवहारसत्य है, वह समझ और समझौते के अनुसार संगठित और विघटित भी किया जाता है, उसका विस्तार और संकोच भी होता है और अन्तत: उसका भावना के सिवाय वास्तविक कोई ठोस अस्तित्व नहीं है, उसी तरह एक 'सत् सत्' के आधार से कल्पित किया गया अभेद अपनी सीमाओं में संघटित और विघटित होता रहता है। इस एक सत् का ही

---

338 'अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते।।' –समबन्धवा. का. १८१।

अस्तित्व व्यावहारिक और प्रातिभासिक है, न कि अनन्त चेतन द्रव्यों और अनन्त अचेतन परमाणुओं का। असंख्य प्रयत्न करने पर भी जगत के रंगमंच से एक भी परमाणु का अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता।

दृष्टि सृष्टि तो उस शतुर्मुर्ग जैसी बात है जो अपनी आँखों को बन्द करके गर्दन नीची कर समझता है कि जगत में कुछ नहीं है। अपनी आँखें खोलने या बन्द करने से जगत के अस्तित्व या नास्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। आँखें बन्द करान और खोलना अप्रतिभास, प्रतिभास या विचित्र प्रतिभास से सम्बन्ध रखता है, न कि विज्ञानसिद्ध कार्य कारणपरम्परा से प्रतिबद्ध पदार्थों के अस्तित्व से। किसी स्वयं सिद्ध पदार्थ में विभिन्न रागी, द्वेषी और मोही पुरुषों के द्वारा को जानेवाली इष्ट–अनिष्ट, अच्छी–बुरी, हित–अहित आदि कल्पनाएँ भले ही दृष्टि–सृष्टि की सीमा में आवें और उनका अस्तित्व उस व्यक्ति के प्रतिभास तक ही सीमित हो और व्यावहारिक हो, पर उस पदार्थ का और उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि वास्तविक गुण–धर्मों का अस्तित्व अपना स्वयं है, किसी की दृष्टि ने उनकी सृष्टि नहीं की है और न किसी की वासना या राग से उनकी उत्पत्ति हुई है। भेद वस्तुओं में स्वाभाविक है। वह न केवल मनुष्यों को ही, किनतु संसार के प्रत्येक प्राणी को अपने–अपने प्रत्यक्षज्ञानों में स्वतः प्रतिभासित होता है। अनन्त प्रकार के विरुद्ध धर्माध्यासों से सिद्ध देश, काल और अकारकृत भेद पदार्थों के निजी स्वरूप हैं। बल्कि चरम अभेद ही कल्पना का विषय हे। उसका पता तब तक नहीं लगता जबतक कोइ व्यक्ति उसकी सीमा और पिरभाषा को न समझा दे। अभेदमूलक संगठन बनते और बिगड़ते हैं, जबकि भेद अपनी स्थिरभूमि पर जैसा है, वैसा ही रहता है, न वह बनता है और न वह बिगड़ता है।

आज के विज्ञान ने अपनी प्रयोगशालाओं से यह सिद्ध कर दिया है कि जगत के प्रत्येक अणु–परमाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और सामग्री के अनुसार उनमें अनेकविध परिवर्तन होते रहते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी किसी परमाणु का अस्तित्व नहीं मिटाया जा सकता और न कोई द्रव्य नया उत्पन्न किया जा सकता है। यह सारी जगत की लीला उन्हीं परमाणुओं के न्यूनाधिक संयोग–वियोगजन्य विचित्र परिणमनों के कारण हो रही है।

यदि एक ही ब्रह्म जगत में मूलभूत अस्तित्व हो और अनन्त जीवात्मा कल्पित भेद के कारण ही प्रतिभासित होते हों; तो परस्परविरुद्ध सदाचार, दुराचार आदि क्रियाओं से होनेवाला पुण्य–पाप का बन्ध और उनके फल सुख–दुःख आदि नहीं बन सकेंगे। जिस प्रकार एक शरीर में सिर से पैर तक सुख और दुःख की अनुभूति

अखण्ड होती है, भले ही फोड़ा पैर में ही हुआ हो, या पेड़ा मुख में ही खाया गया हो, उसी तरह समस्त प्राणियों में यदि मूलभूत एक ब्रह्म का ही सद्भाव है तो अखण्डभाव से सबको एक जैसी सुख–दुःख की अनुभूति होनी चाहिए थी। एक अनिर्वचनीय अविद्या या माया का सहारा लेकर इन जलते हुए प्रश्नों को नहीं सुझाया जा सकता।

ब्रह्म को जगत का उपादान कहना इसलिए असंगत है कि एक ही उपादान से विभिन्न सहकारियों के मिलने पर भी जड़ और चेतन, मूर्त और अमूर्त जैसे अत्यन्त विरोधी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। एक–उपादानजन्य कार्यों में एकरूपता का अन्वय अवश्य देखा जाता है। 'ब्रह्म क्रीड़ा के लिए जगत को उत्पन्न करता है' यह कहना एक प्रकार की खिलवाड़ है। जब ब्रह्म से भिन्न कोई दया करने योग्य प्राणी ही नहीं है; तब वह किस पर दया करके भी जगत को उत्पन्न करने की बात सोचता है? और जब ब्रह्म से भिन्न अविद्या वास्तविक है ही नहीं; तब आत्मश्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि के द्वारा किस की निवृत्ति की जाती हे?

अविद्याा को तत्त्वज्ञान का प्रागभाव नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि वह सर्वथा अभावरूप है, तो भेदज्ञानरूपी कार्य उत्पन्न नहीं कर सकेगी? एक विष स्वयं सत् होकर, पूर्व विष को, जो कि स्वयं सत् होकर ही मूर्छादि कार्य कर रहा था, शान्त कर सकता है और उसे शान्त कर स्वयं भी शान्त हो सकता है। इसमें दो सत् पदार्थों में ही बाध्यबाधकभाव सिद्ध होता है। ज्ञान में विद्यात्व या अविद्यात्व की व्यवस्था भेद या अभेद को ग्रहण करने के कारण नहीं है। यह व्यवस्था तो संवाद और विसंवाद से होती है। और संवाद अभेद की तरह भेद में भी निर्विवाद रूप से देखा जाता है।

अविद्या को भिन्नाभिन्नादि विचारों से दूर रखना भी उचित नहीं है; क्योंकि इतरेतराभाव आदि अवस्तु होने पर भी भिननाभिन्नादि विचारों के विषय होते हैं, तथा गुड़ और मिश्री के परस्पर मिठास का तारतम्य वस्तु होकर भी विचार का विषय नहीं हो पाता। अतः प्रत्यक्षसिद्ध भेद का लोप कर काल्पनिक अभेद के आधार से परमार्थ ब्रह्म की कल्पना करना व्यवहारविरुद्ध तो है ही, प्रमाण–विरुद्ध भी है।

हाँ, प्रत्येक द्रव्य अपने में अद्वैत है। वह अपनी गुण और पर्यायों में अनेक प्रकार से भासमान होता है; किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वे गुण और पर्यायरूप भेद द्रव्य में वास्तविक हैं, केवल प्रातिभासिक और काल्पनिक नहीं है। द्रव्य स्वयं अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य स्वभाव के कारण उन–उन पर्यायों के रूप से

परिणत होता है। अत: एक द्रव्य में अद्वैत होकर भी तो भेद की स्थिति उतनी ही सत्य है जितनी कि अभेद की। पर्यायें भी द्रव्य की तरह वस्तुसत् हैं; क्योंकि वे उसकी पर्यायें हैं। यह ठीक है कि साधना करते समय योगी को ध्यान–काल में ऐसी निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसमें जगत् के अनन्त भेद या स्वपर्यायगत भेद भी प्रतिभासित न होकर मात्र अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार हो, पर इतने मात्र से जगत् की सत्ता का लोप नहीं किया जा सकता।

'जगत क्षणभंगुर है, संसार स्वप्न है, मिथ्या है, गंधर्वनगर की तरह प्रतिभासमात्र है' इत्यादि भावनाएँ हैं। इनसे चित्त को भावित उसकी प्रवृत्ति को जगत के विषयों से हटाकर आत्मलीन किया जाता है। भावनाओं से तत्त्व की व्यवस्था नहीं होती। उसके लिए तो सुनिश्चित कार्यकारणभाव की पद्धिति और तन्मूलक प्रयोग ही अपेक्षित होते हें। जैनाचार्य भी अनित्य भावना में संसार को मिथ्याऔर स्वप्नवत् असत्य कहते हैं। पर उसका प्रयोजन केवल वैराग्य और उपेक्षा वृत्ति को जागृत करना है। अत: भावनाओं के बल से तत्त्वज्ञान के योग्य चित्त की भूमिका तैयार होने पर भी तत्त्वव्यवस्था में उसके उपयोग करने का मिथ्या क्रम छोड़ ही देना चाहिए।

'एक ही ब्रह्म के सब अंश हैं, परस्पर का भेद झूठा है, अत: सबको मिलकर के प्रेमपूर्वक रहना चाहिए' इसप्रकार के उदार उद्देश्य से ब्रह्मवाद के समर्थन का ढंग केवल औदार्य के प्रकार का कल्पित साधन हो सकता है।

आज के भारतीय दार्शनिक यह कहते नहीं अघाते कि 'दर्शन की चरम कल्पना का विकास अद्वैतवाद में ही हो सकता है।' तो क्या दर्शन केवल कल्पना की दौड़ है? यदि दर्शन मात्र कल्पना की सीमा में ही खेलना चाहता है, तो समझ लेना चाहिए कि विज्ञान के इस सुसम्बद्ध कार्यकारणभाव के युग में उसका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहने पायगा। ठोस वस्तु का आधार छोड़कर केवल दिमागी कसरत में पड़े रहने के कारण ही आज भारतीयदर्शन अनेक विरोधाभासों का अजायबघर बना हुआ है। दर्शन का केवल यही काम था कि वह स्वयंसिद्ध पदार्थों का समुचित वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या करता, किन्तु उसने प्रयोजन और उपयोग की दृष्टि से पदार्थों का काल्पनिक निर्माण ही शुरु कर दिया है।

विभिन्न प्रत्ययों के आधार से पदार्थों की पृथक्–पृथक सत्ता मानने का क्रम ही गलत है। एक ही पदार्थ में अवस्थाभेद से विभिन्न प्रत्यय हो सकते हैं। 'एक जाति का होना' और 'एक होना' बिल्कुल

जुदी बात है। 'सर्वत्र 'सत् सत्' ऐसा प्रत्यय होने के कारण सन्मात्र एक तत्त्व है।' यह व्यवस्था देना केवल निरी कल्पना ही है, किन्तु प्रत्यक्षादि से बाधित भी है। दो पदार्थ विभिन्नसत्ता के होते हुए भी सादृश्य के कारण समानप्रत्यय के विषय हो सकते हैं। पदार्थों का वर्गीकरण सादृश्य के कारण 'एक जातिक' के रूप में यदि होता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वे सब पदार्थ 'एक ही' हैं। अनन्त जड़ परमाणुओं को सामान्यलक्षण से एक पुद्‌गलद्रव्य या अजीवद्रव्य जो कहा जाता है वह जाति की अपेक्षा है, व्यक्तियाँ तो अपना पृथक्–पृथक सत्ता रखने वाली जुदी–जुदी ही हैं। इसी तरह अनन्त जड़ और अनन्त चेतन पदार्थों को एक द्रव्यत्व की दृष्टि से एक कहने पर भी उनका अपना पृथक् व्यक्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसी तरह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि को एक सत् की दृष्टि से सन्मात्र कहने पर भी उनके द्रव्य और द्रव्यांश रूप के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए। ये सब कल्पनाएँ सादृश्य–मूलक हैं, न कि एकत्व–मूलक। एकत्व–मूलक अभेद तो प्रत्येक द्रव्य का अपने गुण और पर्यायों के साथ ही हो सकता है वह अपनी कालक्रम से होनेवाली अनन्त पर्यायों की अविच्छिन्न धारा है, जो सजातीय और विजातीय द्रव्यान्तरों से असंक्रान्त रहकर अनादि अनन्त प्रवाहित है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य का अद्वैत तात्त्विक और पारमार्थिक है, किन्तु अनन्त अखण्ड द्रव्यों का 'सत्' इस सामान्यदृष्टि से किया जानेवाला सादृश्यमूलक संगठन काल्पनिक और व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं।

अमुक भू–खण्ड का नाम अमुक देश रखने पर भी वह देश कोई द्रव्य नहीं बन जाता और न उसका मनुष्य के भावों के अतिरिक्त कोई बाह्य में पारमार्थिक स्थान ही है। 'सेना, वन' इत्यादि संग्रह–मूलक व्यवहार शब्दप्रयोग की सहजता के लिए हैं; न कि इनके पारमार्थिक अस्तित्व साधन के लिए। अत: अद्वैत को कल्पना का चरमविकास कहकर खुश होना स्वयं उसकी व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता को घोषित करना है। हम वैज्ञानिक प्रयोग करने पर भी दो परमाणुओं को अनन्त काल के लिए अविभागी एकद्रव्य नहीं बना सकते, यानी एक की सत्ता का लोप विज्ञान की भट्टी भी नहीं कर सकती। तात्पर्य यह है कि दिमागी कल्पनाओं को पदार्थ व्यवस्था का आधार नहीं बनाया जा सकता।

यह ठीक है कि हम प्रतिभास के बिना पदार्थ का अस्तित्व दूसरे को न समझा सकें और न स्वयं समझ सकें, परन्तु इतने मात्र से उस पदार्थ को 'प्रतिभासस्वरूप' ही तो नहीं कहा जा सकता? अन्धेरे में यदि बिना प्रकाश के हम घटादि पदार्थों को नहीं देख सकते और न

दूसरों को दिखा सकते हैं; तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि घटादि पदार्थ 'प्रकाशरूप' ही हैं। पदार्थों की अपने कारणों से अपनी–अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं और प्रकाश की अपने कारणों से। फिर भी जैसे दोनों में प्रकाश्य–प्रकाशकभाव है उसी तरह प्रतिभास और पदार्थों में प्रतिभास्य–प्रतिभासकभाव है। दोनों की एक सत्ता कदापि नहीं हो सकती। अतः परम काल्पनिक संग्रहनय की दृष्टि से समसत जगत के पदार्थों को एक 'सत्' भले ही कह दिया जाय, पर यह कहना उसी तरह एक काल्पनिक शब्दसंकेतमात्र है, जिस तरह दुनियाँ अनन्त आमों को एक आम शब्द से कहना। जगत का हर पदार्थ अपने व्यक्तित्व के लिए संघर्ष करता दिखलाई दे रहा है और प्रकृति का नियम अल्पकाल के लिए उसके अस्तित्व को दूसरे से सम्बद्ध करके भी उसे अन्त में स्वतन्त्र ही रहने का विधान करता है। जड़परमाणुओं में इस सम्बन्ध का सिलसिला परस्पर संयोग के कारण बनता और बिगड़ता रहता, परन्तु चेतनतत्त्वों में इसकी भी सम्भावना नहीं है। सबकी अपनी–अपनी अनुभूतियाँ, वासनाएँ और प्रकृतियाँ जुदी–जुदी हैं। उनमें समानता हो सकती है, एकता नहीं। इस तरह अनन्त भेदों के भण्डारभूत इस विश्व में एक अद्वैत की बात सुन्दर कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

जैन दर्शन में इस प्रकार की कल्पनाओं को संग्रहनय में स्थान देकर भी एक शर्त लगा दी है कि कोई भी नय अपने प्रतिपक्षी नय से निरपेक्ष होकर सत्य नहीं हो सकता। यानी भेद से निरपेक्ष अभेद परमार्थसत् की पदवी पर नहीं पहुँच सकता। उसे यह कहना ही होगा कि 'इन स्वयं सिद्ध भेदों में इस दृष्टि से अभेद कहा जा सकता है।' जो नय प्रतिपक्षी नय के विषय का निराकरण करके एकान्त की ओर जाता है वह दुर्नय है– नयाभास है। अतः सन्मात्र अद्वैत संग्रहनय का विषय नहीं होता, किन्तु संग्रहनयाभास का विषय है।

शब्दाद्वैतवादसमीक्षा–

पूर्वपक्ष–

[339]भर्तृहरि आदि वैयाकरण जगत में मात्र एक 'शब्द' को परमार्थ सत् कहकर समस्त वाच्य–वाचकतत्त्व को उसी शब्दब्रह्म का विवर्त मानते हैं। यद्यपि[340] उपनिषद में शब्दब्रह्म और परब्रह्म का वर्णन आता है और उसमें यह बताया गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है। इनका कहना है कि संसार के

---

339 'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।' –वाक्यप. १।१।

340 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।' –ब्रह्मबिन्दूप. २२।

समस्त ज्ञान शब्दानुबुद्धि ही अनुभव में आते हैं। यदि प्रत्ययों में शब्दसंस्पर्श न हो तो उनकी प्रकाशरूपता ही समाप्त हो जायगी। ज्ञान में वाग्रूपता शाश्वती है और वही उसका प्राण है। संसार का कोई भी व्यवहार शब्द के बिना नहीं होता। अविद्या के कारण संसार में नाना प्रकार का भेद–प्रपंच दिखाई देता है। वस्तुतः सभी उसी शब्दब्रह्म की ही पर्यायें हैं। जैसे एक ही जल वीची, तरंग, बुद्‌बुद और फेन आदि के आकार को धारण करता है, उसी तरह एक ही शब्दब्रह्म वाच्य–वाचकरूप से काल्पनिक भेदों में विभाजित–सा दिखता है। भेद डालनेवाली अविद्या के नाश होने पर समस्त प्रपंचों से रहित निर्विकल्प शब्दब्रह्म की प्रतीति हो जाती है।

उत्तरपक्ष–

किन्तु इस शब्दब्रह्मवाद की प्रक्रिया उसी तरह दूषित है, जिस प्रकार कि पूर्वोक्त ब्रह्माद्वैतवाद की। यह ठीक है कि शब्द, ज्ञान के प्रकाश करने का एक समर्थ माध्यम है और दूसरे तक अपने भावों और विचारों को बिना शब्द के नहीं भेजा जा सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि जगत में एक शब्दतत्त्व ही है। कोई बूढ़ा लाठी के बिना नहीं चल सकता तो बूढ़ा, लाठी, गति और जमीन सब लाठी की पयायें तों नहीं कर सकती और असंख्य पदार्थ ऐसे पड़े हुए हैं जिन तक मनुष्य का संकेत और उसके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले शब्द नहीं पहुँच पाये हैं। घटादि पदार्थों को कोई जाने, या न जाने, उनके वाचक शब्द का प्रयोग करे, या न करे; पर उनका अपना अस्तित्व शब्द और ज्ञान के अभाव में भी है ही। शब्द रहित पदार्थ आँख से दिखाई देता है और अर्थरहित शब्द कान से सुनाई देता है।

यदि शब्द और अर्थ में तादत्म्य हो, तो अग्नि, पत्थर, छुरा आदि शब्दों को सुनने से श्रोत्र का दाह, अभिघात और छेदन आदि होना चाहिए। शब्द और अर्थ भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकारवाले होकर एक दूसरे से निरपेक्ष विभिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। अतः उनमें तादात्म्य मानना युक्ति और अनुभव दोनों से विरुद्ध है। जगत का व्यवहार केवल शब्दात्मक ही तो नहीं है? अन्य संकेत, स्थापना आदि के द्वारा भी सैकड़ों व्यवहार चलते हैं। अतः शाब्दिक व्यवहार शब्द के बिना न भी हों; तो अन्धे को शब्द के सुनने पर रूप दिखाई देना चाहिए और बहरे को रूप के दिखाई देने पर शब्द सुनाई देना चाहिए।

शब्द से अर्थ की उत्पत्ति कहना या शब्द का अर्थ रूप से परिणमन मानना विज्ञानसिद्ध कार्यकारणभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। शब्द तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न होता है और घटादि पदार्थ

अपने–अपने कारणों से। स्वयं सिद्ध दोनों में संकेत के अनुसार वाच्य–वाचकभाव बन जाता है।

जो उपनिषद वाक्य शब्दब्रह्म की सिद्धि के लिए दिया जाता है, उसका सीधा अर्थ तो यह हे कि दो[३४१] विद्याएँ जगत में उपादेय हैं– एक शब्दविद्या और दूसरी ब्रह्मविद्या। शब्दविद्या में निष्णात व्यक्ति को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सहज में हो सकती है। इसमें शब्दज्ञान और आत्मज्ञान का उत्पत्ति–क्रम बताया गया है, न कि जगत में 'मात्र एक शब्दतत्त्व है', इस प्रतीतिविरुद्ध अव्यावहारिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। सीधी–सी बात है कि साधक को पहले शब्दव्यवहार में कुशलता प्राप्त करनी चाहिए, तभी वह शब्दों की उलझन से ऊपर उठकर यथार्थ तत्त्वतक पहुँच सकता है।

अविद्या और माया के नाम से सुनिश्चित कार्यकारणभाव मूलक जगत के व्यवहारों को और घटपादि भेदों को काल्पनिक और असत्य इसलिए नहीं ठहराया जा सकता कि स्वयं अविद्या जब भेदप्रतिभासरूप या भेदप्रतिभासरूपी कार्य को उत्पन्न करनेवाली होने से वस्तुसत् सिद्ध हो जाती है, तब वह स्वयं पृथक् सत् होकर उस अद्वैत की विघातक बनती है। निष्कर्ष यह कि अविद्या की तरह अन्य घटपादि भेदों को वस्तुसत् होने में क्या बाधा है।

सर्वथा नित्य शब्दब्रह्म से न तो कार्यों की क्रमिक उत्पत्ति हो सकती है और न उसका क्रमिक परिणमन ही; क्योंकि नित्य पदार्थ सदा एकरूप, अविकारी और समर्थ होने के कारण क्रमिक कार्य या परिणमन का आधार नहीं हो सकता। सर्वथा नित्य में परिणमन कैसा?

शब्दब्रह्म जब अर्थरूप से परिणमन करता है, तब यदि शब्दरूपता को छोड़ देता है, तो सर्वथा नित्य कहाँ रहा? यदि नहीं छोड़ता है, तो शब्द और अर्थ दोनों का एक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होना चाहिए। एक शब्दाकार से अनुस्यूत होने के कारण घट, सुराही, सकोरा आदि को मिट्टी की जाति का और मिट्टी से बना हुआ ही तो कहा जाता है, न कि इन सबकी एक सत्ता स्थापित की जा सकती है। जगत का प्रत्येक पदार्थ समान और असमान दोनों धर्मों का आधार होता है। समान धर्मों की दृष्टि से उनमें 'एक जातिक' व्यवहार होने पर भी अपने व्यक्तिगत असाधारण स्वभाव के कारण उनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता ही है। प्राणों को अन्नमय कहने का अर्थ यह नहीं है कि अन्न और प्राण एक वस्तु हैं

---

341 'द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।' –ब्रह्मबिन्दू. २२।

विशुद्ध आकाश में तिमिर–रोगी को जो अनेक प्रकार की रेखाओं का मिथ्या भान होता है, उसमें मिथ्या–प्रतिभास का कारण तिमिररोग वास्तविक है, तभी वह वस्तुसत् आकाश में वस्तुसत् रोगी को मिथ्या प्रतीति कराता है। इसी तरह यदि भेदप्रतिभास की कारणभूत अविद्या वस्तुसत् मानी जाती है; तो शब्दाद्वैतवाद अपने आप समाप्त है। अतः शुष्क कल्पना के क्षेत्र से निकलकर दर्शनशास्त्र में हमें स्वसिद्ध पदार्थों की विज्ञानाविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिए, न कि कल्पना के आधार से नये–नये पदार्थों की सृष्टि। 'सभी ज्ञान शब्दान्वित हों ही' यह भी ऐकान्तिक नियम नहीं है; क्योंकि भाषा और संकेत से अनभिज्ञ व्यक्ति को पदार्थों का प्रतिभास होने पर भी तद्वाचक शब्दों की योजना नहीं हो पाती। अतः शब्दाद्वैतवाद भी प्रत्यक्षादि से बाधित है।

सांख्यके 'प्रधान' सामान्यवादी की मीमांसा–

पूर्वपक्ष–

सांख्य मूल में दो तत्त्व मानते हैं। एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुषतत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादिपरिणाम से शून्य केवल चेतन है। यह पुरुषतत्त्व अनन्त है, सबकी अपनी–अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति, जिसे प्रधान भी कहते हैं, परिणामी–नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह [३४२]एक है, त्रिगुणात्मक हे, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारों को उत्पन्न करती है। कारणरूप प्रधान 'अव्यक्त' कहा जाता है कार्यरूप 'व्यक्त'। [३४३]इस प्रधान से, जो कि व्यापक, निष्क्रिय और एक है; सबसे पहले विषय को निश्चय करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है। इसे महान् कहते हैं। महान् से 'मैं सुन्दर हूँ, मैं दर्शनीय हूँ' इत्यादि अहंकार पैदा होता है। अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वचन, हाथ, पैर, मलस्थान और मूत्रस्थान ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन इसप्रकार सोलह गण पैदा होते हैं। इनमें शब्दतन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रसतन्मात्रा से जल, रूपतन्मात्रा से अग्नि और गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी इसप्रकार पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले महान् आदि तेईस विकार प्रकृति के ही परिणाम हैं और उत्पत्ति के पहले प्रकृतिरूप कारण में इनका सद्भाव है। इसीलिए सांख्य सत्कार्यवादी माने जाते हैं। इस

---

342 ''त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।।'' –सांख्यका. ११।

343 ''प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पंच भूतानि।।''

सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित पाँच हेतु दिये जाते हैं[३४४]—

(१) कोई भी असत्कार्य पैदा नहीं होता। यदि कारण में कार्य असत् हो, तो वह खरविषाण की तरह उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

(२) यदि कार्य असत् होता, तो लोग प्रतिनियत उपादान कारणों का ग्रहण क्यों करते? कोदों के अंकुर के लिए कोदों के अंकुर के लिए कोदों के बीज का बोया जाना और चने के बीज का न बोया जाना, इस बात का प्रमाण है कि कारण में कार्य सत् है।

(३) यदि कारण में कार्य असत् है, तो सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न होना चाहिए थे। लेकिन सबसे सब कार्य उत्पन्न नहीं होते। अत: ज्ञात है कि जिनसे जो उत्पन्न होते हैं उनमें उन कार्यों का सद्भाव है।

(४) प्रतिनियत कारणों की प्रतिनियत कार्य के उत्पन्न करने में ही शक्ति देखी जाती है। समर्थ भी हेतु शक्यक्रिय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं, अशक्य को नहीं। जो अशक्य है वह शक्यक्रिय हो ही नहीं सकता।

(५) जगत में कार्यकारणभाव ही सत्कार्यवाद का सबसे बड़ा प्रमाण है। बीज को कारण कहना इस बात का साक्षी है कि उसमें ही कार्य का सद्भाव है, अन्यथा उसे कारण ही नहीं कह सकते थे।

समस्त जगत का कारण एक प्रधान है। एक प्रधान अर्थात् प्रकृति से यह समस्त जगत उत्पन्न होता है।

[३४५]प्रधान से उत्पन्न होनेवाले कार्य परिमित देखे जाते हैं। उनकी संख्या है। सबमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का अन्वय देखा जाता है। हर कार्य किसी—न—किसी को प्रसाद, लाघव, हर्ष, प्रीति (सत्त्वगुण के कार्य), ताप, शोष, उद्वेग (रजोगुण के कार्य), दैन्य, वीभत्स, गौरव (तमोगुण के कार्य) आदि भाव उत्पन्न करता है। यदि कार्यों में स्वयं सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण न होते; तो वह उक्त भावों में कारण नहीं बन सकता था। प्रधान में ऐसी शक्ति है, जिससे

---

344 ''प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकार: तस्माद् गणश्च षोडशक:।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्य: पंच भूतानि।।'' —सांख्यका. ३२।

345 ''भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्ति: प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य।।'' —सांख्यका. १५।

वह महान् आदि 'व्यक्त' उत्पन्न करता है। जिस तरह घटादि कार्यों को देखकर उकने मिट्टी आदि कारणों का अनुमान होता है, उसी तरह 'महान्' आदि कार्यों से उनके उत्पादक प्रधान का अनुमान होता है। प्रलयकाल में समस्त कार्यों का लय इसी एक प्रकृति में हो जाता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओं में, तन्मात्रादि सोलह गण अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। उस समय व्यक्त अव्यक्त का विवेक नहीं रहता।

[३४६]इनमें मूल प्रकृति कारण ही होती है और ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच भूत ये सोलह कार्य ही होते हैं और महान, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ ये सात पूर्व की अपेक्षा कार्य और उत्तर की अपेक्षा कारण होते हैं। इस तरह एक सामान्य प्रधान तत्त्व से इस समस्त जगत का विपरिणाम होता है और प्रलयकाल में उसी में उनका लय हो जाता है। पुरुष जल में कमलपत्र की तरह निर्लिप्त है, साक्षी है, चेतन है और निर्गुण है। प्रकृति संसर्ग के कारण [३४७]बुद्धिरूपी माध्यम के द्वारा इसमें भोग की कल्पना की जाती है। बुद्धि दोनों ओर से पारदर्शी दर्पण के समान है। इस मध्यभूत बुद्धि दर्पण में एक ओर से इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओर से पुरुष की छाया। इस छायापत्ति के कारण पुरुष में भोगने का भान होता है, यानी परिणमन तो बुद्धि में ही होता है और भोग का भान पुरुष में होता है। वही बुद्धि पुरुष और पदार्थ दोनों की छाया को ग्रहण करती है। इस तरह बुद्धिदर्पण में दोनों के प्रतिबिम्बत होने का नाम ही भोग है। वैसे पुरुष तो कूटस्थनित्य और अविकारी है, उसमें कोई परिणमन नहीं होता।

बँधती भी प्रकृति ही है और छूटती भी प्रकृति ही है। प्रकृति एक वेश्या के समान है। जब वह जान लेती है कि इस पुरुष को 'मैं प्रकृति का नहीं हूँ, प्रकृति मेरी नहीं है' इसप्रकार का तत्त्वज्ञान हो गया है और यह मुझसे विरक्त है, तब वह स्वयं हताश होकर पुरुष का संसर्ग छोड़ देती है। तात्पर्य यह कि सारा खेल इस प्रकृति का है।

उत्तरपक्ष–

किन्तु सांख्य की इस तत्त्वप्रक्रिया में सबसे बड़े दोष ये हैं। जब [३४८]एक ही प्रधान का अस्तित्व संसार में है, तब उस एक तत्त्व से

---

[346] ''मूलप्रकृति विकृतिः महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।'' –सांख्यका ३।

[347] ''बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्धया संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।'' –योगसू. तत्त्ववै. २।२०।

[348] यद्यपि मौलिक सांख्यों का एक प्राचीन पक्ष यह था कि हर एक पुरुष के साथ संसर्ग रखनेवाला 'प्रधान' जुदा–जुदा हे अर्थात् प्रधान अनेक हे। जैसा कि षट्द. समु. गुणरत्नटीका (पृ. ९९) के इस अवतरण से ज्ञात होता है– ''मौलिकसाख्या हि आत्मानमात्मानं प्रति पृथक्

महान्, अहंकार चेतन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि अचेतन इस तरह परस्पर विरोधी दो कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? उसी एक कारण से अमूर्तिक आकाश और मूर्तिक पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानना भी किसी तरह संगत नहीं है। एक कारण परस्पर अत्यन्त विरोधी दो कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता। विषयों का निश्चय करनेवाली बुद्धि ओर अहंकार चेतन के धर्म है। इनका उपादान कारण जड़ प्रकृति नहीं हो सकती। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के कार्य जो प्रसाद, ताप, शोष आदि बताये हैं, वे भी चेतन के ही विकार हैं। उसमें प्रकृति को उपादान कहना किसी भी तरह संगत नहीं है। एब अखण्ड तत्त्व एक ही समय में परस्पर विरोधी चेतन–अचेतन, मूर्त–अमूर्त, सत्त्वप्रधान, रज:प्रधान, तम:प्रधान आदि अनेक विरोधी कार्यों के रूप से कैसे वास्तविक परिणमन कर सकता है? किसी आत्मा में एक पुस्तक राग उत्पन्न करती है और वही पुस्तक दूसरी आत्तमा में द्वेष उत्पन्न करती है, तो उसका अर्थ नहीं है कि पुस्तक में राग और द्वेष हैं। चेतन भावों में चेतन ही उपादान हो सकता है, जड़ नहीं। स्वयं राग और द्वेष से शून्य जड़ पदार्थ आत्माओं के राग और द्वेष के निमित्त बन सकते हैं।

यदि बन्ध और मोक्ष प्रकृति को ही होते हें, तो पुरुष की कल्पना निरर्थक है। बुद्धि में विषय की छाया पड़ने पर भी यदि पुरुष में भोक्तृत्वरूप परिणमन नहीं होता, तो उसे भोक्ता कैसे माना जाय? पुरुष यदि सर्वथा निष्क्रिय है; तो वह भोगक्रिया का कर्ता भी नहीं हो सकता और इसीलिए भोक्तृत्व के साथ अकर्ता पुरुष की कोई संगति ही नहीं बैठती।

मूल प्रकृति यदि निर्विकार है और उत्पाद और व्यय केवल धर्मों में ही होते हैं, तो प्रकृति को परिणामी कैसे कहा जा सकता है? कारण में कार्योत्पादन की शक्ति तो मानी जा सकती है, पर कार्यकाल की तरह उसका प्रकट सद्भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'मिट्टी में घड़ा अपने आकार में मौजूद है और वह केवल कुम्हार के व्यापार प्रकट होता है' इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'मिट्टी में सामान्य रूप से घटादि कार्यों के उत्पादन करने की शक्ति है, कुम्हार के व्यापार आदि का निमित्त पाकर वह शक्तिवाली मिट्टी अपनी पूर्वपिण्डपर्याय को छोड़कर घटपर्याय को धारण करती है', यानी मिट्टी स्वयं घड़ा बन जाती है। कार्य द्रव्य की पर्याय है और वह पर्याय किसी भी द्रव्य में शक्तिरूप से ही व्यवहृत हो सकती है।

प्रवानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्या: सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रतिपन्ना:।'' किन्तु सांख्यकारिका आदि उपलब्ध सांख्यग्रन्थों में इस पक्ष का कोई निर्देश तक नहीं मिलता।

वस्तुतः प्रकृति के संसर्ग से उत्पन्न होने पर भी बुद्धि, अहंकार आदि धर्मों का आधार पुरुष ही हो सकता है, भले ही ये धम्र प्रकृति अखण्ड तत्त्व होकर कैसे अनन्त पुरुषों के साथ विभिन्न प्रकार का संसर्ग एक साथ कर सकती है? अभिन्न स्वभाव होने के कारण सबके साथ एक प्रकार का ही संसर्ग होना चाहिए। फिर मुक्तात्माओं के साथ असंसर्ग और संसारी आत्माओं के साथ संसर्ग यह भेद भी व्यापक और अभिन्न प्रकृति में कैसे बन सकता है?

प्रकृति को अन्धी और पुरुष को पंगु मानकर दोनों के संसर्ग से सृष्टि की कलपना का विचार सुनने में सुन्दर तो लगता हे, पर जिस प्रकार अन्ध और पंगु दोनों में संसर्ग की इच्छा और उस जाति का परिणमन होने पर ही सृष्टि सम्भव होती हे, उसी तरह जब तबक पुरुष और प्रकृति दोनों में स्वतन्त्र परिणमन की योग्यता नहीं मानी जायगी तब तक एक के परिणामी होने पर भी न तो संसर्ग की सम्भावना है और न सृष्टि की ही। दोनों एक दूसरे के परिणमनों में निमित्त कारण हो सकते हैं, उपादान नहीं।

एक ही चैतन्य हर्ष, विषाद, ज्ञान, विज्ञान आदि अनेक पर्यायों को धारण करनेवाला संविद्–रूप से अनुभव में आता है। उसी में महान्, अहंकार आदि संज्ञाएँ की जा सकती हैं, पर इन विभिनन भावों को चेतन से भिनन जड़–प्रकृति का धर्म नहीं माना जा सकता। जल में कमल की तरह पुरुष यदि सर्वथा निर्लिप्त हैं, तो प्रकृतिगत परिणामों का औपचारिक भोक्तृत्व घटा देने पर भी वस्तुतः न तो वह भोक्ता ही सिद्ध होता है और न चेतयिता ही। अतः पुरुष को वास्तविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का आधार मानकर परिणामी नित्य ही स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दूषण आते हैं। जिस प्रकृति ने कार्य किया, वह तो उसका फल नहीं भोगती और जो पुरुष भोक्ता होता है, वह कर्ता नहीं है। यह असंगति पुरुष को अधिकारी मानने में बनी ही रहती है।

यदि 'व्यक्त' रूप महदादि विकार और 'अव्यक्त' रूप प्रकृति में अभेद है, तो महदादि की उत्पत्ति और विनाश से प्रकृति अलिप्त कैसे रह सकती है? अतः परस्पर विरोधी अनन्त कार्यों की उत्पत्ति के निर्वाह के लिए अनन्त ही प्रकृतितत्त्व जुदे–जुदे मानना चाहिए, जिसके विलक्षण परिणमनों से इस सृष्टि का वैचित्र्य सुसंगत हो सकता है। वे सब तत्त्व एक प्रकृतिजाति के हो सकते हैं यानी जाति की अपेक्षा वे एक कहे जा सकते हैं; पर सर्वथा एक नहीं, उनका पृथक् अस्तित्व रहना ही चाहिए। शब्द से आकाश, रूप से अग्नि इत्यादि गुणों से गुणी की उत्पत्ति की बात असंगत है। गुण गुणी को पैदा नहीं करता,

बल्कि गुणी में ही नाना गुण अवस्थाभेद से उत्पन्न होते और विनष्ट होते हैं। घट, सकोरा, सुराही आदि कार्यों में मिट्टी का अन्वय देखकर यही तो सिद्ध किया जा सकता है कि इनके उत्पादक परमाणु एक मिट्टी जाति के हैं।

सत्यकार्यवाद की सिद्धि के लिए जो 'असदकरणात्' आदि पाँच हेतु दिये हैं, वे सब कथञ्चित् सद्–असद् कार्यवाद में ही सम्भव हो सकते हैं। अर्थात् प्रत्येक कार्य अपने आधारभूत द्रव्य में शक्ति की दृष्टि से ही सत् कहा जा सकता है, पर्याय की दृष्टि से नहीं। यदि पर्याय की दृष्टि से भी सत् हो; तो कारणों का व्यापार निरर्थक हो जाता है। उपादान–उपादेयभाव, शक्य हेतु का शक्यक्रिय कार्य को ही पैदा करना, और कारणकार्यविभाग आदि कथंचित् सत्कार्यवाद मं ही सम्भव हैं।

त्रिगुण का अन्वय देखकर कार्यों को एक जाति का ही तो माना जा सकता है न कि एक कारण से उत्पन्न। समस्त पुरुषों में परस्पर चेतनत्व और भोक्तृत्व आदि धर्मों का अन्वय देखा जाता है; पर वे सब किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं हुए हैं। प्रधान और पुरुष में नित्यत्व, सत्त्व आदि धर्मों का अन्वय होने पर भी दोनों की एक कारण से उत्पत्ति नहीं मानी जाती।

यदि प्रकृति नित्यस्वभाव होकर उत्त्वसृष्टि या भूतसृष्टि में प्रवृत्त होती है; तो अचेतन प्रकृति को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि इतनी ही तत्त्वसृष्टि होनी चाहिए और यह ही इसका उपकारक है। ऐसी हालत में नियत प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि हो, तो प्रवृत्ति का अन्त नहीं आ सकता। 'पुरुष के भोग के लिए मैं सृष्टि करूँ' यह ज्ञान भी अचेतन प्रकृति को कैसे हो सकता है?

वेश्या के दृष्टान्त से बन्ध–मोक्ष की व्यवस्था जमाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वेश्या का संसर्ग उसी पुरुष से होता है, जो स्वयं उसकी कामना करता है, उसी पर उसका जादू चलता है। यानी अनुराग होने पर आसक्ति और विराग होने पर विरक्ति का चक्र तभी चलेगा, जब पुरुष स्वयं अनुराग और विराग अवस्थाओं को धारण करे। कोई वेश्या स्वयं अनुरक्त होकर किसी पत्थर से नहीं चिपटती। अत: जब तक पुरुष का मिथ्याज्ञान, अनुराग और विराग आदि परिणमनों का वास्तविक आधार नहीं माना जाता, तब तक बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया बन ही नहीं सकती। जब उसके स्वरूपभूत चैतन्य का ही प्रकृति संसर्ग से विकारी परिणमन हो तभी वह मिथ्याज्ञानी होकर विपर्ययमूलक बन्ध–दशा को पा सकता है और कैवल्य की भावना से

संप्रज्ञात और असंप्रज्ञातरूप समाधि में पहुँचकर जीवन्मुक्त और परममुक्त दशा को पहुँच सकता है। अतः पुरुष को परिणामी नित्य माने बिना न तो प्रतीतिसिद्ध लोकव्यवहार का ही निर्वाह हो सकता है और न पारमार्थिक लोक–परलोक या बन्ध–मोक्षव्यवस्था का ही सुसंगत रूप बन सकता है।

यह ठीक है कि पुरुष के प्रकृसंसर्ग से होनेवाले अनेक परिणमन स्थायी या निजस्वभाव नहीं कहे जा सकते, पर इसका यह अर्थ भी नहीं है कि केवल प्रकृति के ही धर्म है; क्योंकि इन्द्रियादि के संयोग से जो बुद्धि या अहंकार उत्पन्न होता है, आखिर है तो वह चेतनधर्म ही। चेतन ही अपने परिणामी स्वभाव के कारण सामग्री के अनुसार उन–उन पर्यायों को धारण करता है। इसलिए इन संयोगजन्य धर्मों में उपादानभूत पुरुष इनकी वैकारिक जवाबदारी से कैसे बच सकता है? यह ठीक हे कि जब प्रकृतिसंसर्ग छूट जाता है और पुरुष मुक्त हो जाता है तब इन धर्मों की उत्पत्ति नहीं होती, जब तक संसर्ग रहता है तभी तक उत्पत्ति होती है, इस तरह प्रकृतिसंसर्ग ही इनका हेतु ठहरता है, परन्तु यदि पुरुष में विकार रूप से परिणमन की योग्यता और प्रवृत्ति न हो, तो प्रकृतिसंसर्ग बलात् उसमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्यथा मुक्त अवस्था में भी विकार उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि व्यापक होने से मुक्त आत्मा का प्रकृति को चरितार्थ तो इसलिए कहा है कि जो पुरुष पहले उसके कायम है हाी। प्रकृति को चरितार्थ तो इसलिए कहा है कि जो पुरुष पहले उसके संसर्ग से संसार में प्रवृत्त होता था, वह अब संसरण नहीं करता। अतः चरितार्थ और प्रवृत्तार्थ व्यवहार भी पुरुष की ओर से से ही है, प्रकृति की ओर से नहीं।

जब पुरुष स्वयं राग, विराग, विपर्यय, विवके और ज्ञान–विज्ञानरूप परिणमनों का वास्तविक उपादान होता है, तब उसे हम लंगड़ा नहीं कह सकते। एक दृष्टि से प्रकृति न केवल अन्धी है, किन्तु पुरुष के परिणमनों के लिए वह लँगड़ी भी है। 'जो करे वह भोगे' यह एक निरपवाद सिद्धान्त है। अतः पुरुष में जब वास्तविक भोक्तृत्व माने बिना चारा नहीं है, तब वास्तविक कर्तृत्व भी उसी में मानना ही उचित है। जब कर्तृत्व और भोक्तृत्व अवस्थाएँ पुरुषगत ही हो जाती हैं, तब उसका कूटस्थ नित्यत्व अपने आप समाप्त हो जाता है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप परिणाम प्रत्येक सत् का अपरिहार्य लक्षण है, चाहे चेतन हो या अचेतन, मूर्त्त हो या अमूर्त्त, प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभाव के अनुसार पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय को धारण करता चला जा रहा है। ये परिणमन सदृश भी होते हैं और विसदृश भी। परिणमन की धारा को तो अपनी गति से

प्रतिक्षण बहना है। बाह्याभ्यन्तर सामग्री के अनुसार उसमें विविधता बराबर आती रहती है। सांख्य के इस मत को केवल सामान्यवाद में इसलिए शामिल किया है कि उसने प्रकृति को एक, नित्य, व्यापक और अखण्ड तत्त्व मानकर उसे ही मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विरोधी परिणमनों का सामान्य आधार माना है।

विशेषपदार्थवाद–

बौद्ध का पूर्वपक्ष–

बौद्ध साधारणतया विशेष पदार्थ को ही वास्तविक तत्त्व मानते हैं। स्वलक्षण, चाहे चेतन हो या अचेतन, क्षणिक और परमाणुरूप हैं। जो, जहाँ और जिस काल में उत्पन्न होता है वह वहीं और उसी समय नष्ट हो जाता है। कोई भी पदार्थ देशान्तर और कालान्तरों में व्याप्त नहीं हो सकता, वह दो देशों देशों को स्पर्श नहीं कर सकता। हर पदार्थ का प्रतिक्षण नष्ट होना स्वभाव है। उसे नाश के लिए किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं है। अगले क्षण की उत्पत्ति के जितने कारण हैं उनसे भिन्न किसी कारण की अपेक्षा पूर्वक्षण के विनाश को नहीं होती, वह उतने ही कारणों से हो जाता है, अत: उसे निर्हेतुक कहते हैं। निर्हेतु का अर्थ 'कारणों के अभाव में हो जाना' नहीं है, किन्तु 'उत्पादक के कारणों से भिन्न किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखना' यह है। हर पूर्वक्षण स्वयं विनष्ट होता हुआ उत्तरक्षण को उत्पन्न करता जाता है और इस तरह एक वर्तमानक्षण ही अस्तित्व में रहकर धारा की क्रमबद्धता का प्रतीक होता है। पूर्वोत्तर क्षणों की इस सन्तति परम्परा में कार्यकारणभाव और बन्ध–मोक्ष और आदि की व्यवस्था बन जाती है।

स्थिर और स्थूल ये दोनों ही मन की कल्पना हैं। इनका प्रतिभास सदृश उत्पत्त में एकत्व का मिथ्या भान होने के कारण तथा पुञ्ज में सम्बद्धबुद्धि होने के कारण होता है। विचार करके देखा जाय, तो जिसे हम स्थूल पदार्थ कहते हैं, वह मात्र परमाणुओं का पुञ्ज ही तो है। अत्यासन्न और असंसृष्ट परमाणुओं में स्थूलता का भ्रम होता है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से यदि सर्वात्मना संसर्ग माना जाता है; तो दो परमाणु मिलकर एक हो जाएँगे और इसी क्रम से परमाणुओं का पिण्ड अणुमात्र ही रह जायगा। यदि एक देश से संसर्ग माना जाता है; तो छहों दिशाओं के छह परमाणुओं के साथ संसर्ग रखनेवाले मध्यवर्ती परमाणु के छह देश कल्पना करने पड़ेंगे। अत: केवल परमाणु का सञ्चय ही इन्द्रियप्रतीति का विषय होता है।

अर्थक्रिया ही परामार्थसत् का वास्तविक लक्षण है। कोई भी अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या युगपत्। चूँकि [३४९]नित्य और एक स्वभाववाले पदार्थ में न तो क्रम से अर्थक्रिया सम्भव है और न युगपत्। अत: क्रम और यौगपद्य के अभाव में उससे व्याप्त अर्थक्रिया निवृत्त हो जाती है और अर्थक्रिया के अभाव में उससे सत्त्व निवृत्त होकर नित्य पदार्थ को असत् सिद्ध कर देता है। सहकारियों की अपेक्षा नित्य पदार्थ में क्रम इसलिए नहीं बन सकता; कि नित्य जब स्वयं समर्थ है; तब उसे सहकारियों की अपेक्षा ही नहीं होनी चाहिए। यदि सहकारी कारण नित्य पदार्थ में कोई अतिशय या विशेषता उत्पन्न करते हैं, तो वह सर्वथा नित्य नहीं रह सकता। यदि कोई विशेषता नहीं लाते; तो उनका मिलना और न मिलना बराबर ही रहा। नित्य एकस्वभाव पदार्थ जब प्रथमक्षणभावी कार्य करता है; तब अन्य कार्यों के उत्पन्न करने की सामर्थ्य उसमें है, या नहीं? यदि है; तो सभी कार्य एक साथ उत्पन्न होना चाहिए। यदि नहीं है और सहकारियों के मिलने पर वह सामर्थ्य आ जाती है; तो वह नित्य और एकरूप नहीं रह सकता। अत: प्रतिक्षण परिवर्तनशील परमाणुरूप ही पदार्थ अपनी–अपनी सामग्री के अनुसार विभिन्न कार्यों के उत्पादक होते हैं।

चित्तक्षण भी इसी तरह क्षणप्रवाहरूप है, अपरिवर्तनशील और नित्य नहीं हैं। इसी क्षणप्रवाह में प्राप्त वासना के अनुसार पूर्वक्षण उत्तर को उत्पन्न करता हुआ अपना अस्तित्व नि:शेष करता जाता है। एकत्व और शाश्वतिकता भ्रम है। उत्तर का पूर्व के साथ इतना ही सम्बन्ध है कि वह उससे उत्पन्न हुआ है और उसका ही वह सर्वस्व है। जगत केवल प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। 'इससे यह उत्पन्न होता है' यह अनवरत कारणकार्यपरम्परा नाम और रूप सभी में चालू है। निर्वाण अवस्था में भी यही क्रम चालू रहता है। अन्तर इतना ही है कि जो चित्तसन्तति सास्रव थी, वह निर्वाण में निरास्रव हो जाती है।

विनाश का भी एक अपना क्रम है। मुद्‌गर का अभिघात होने पर जो घटक्षण आगे द्वितीय समर्थ घट को उत्पन्न करता था वह असमर्थ, असमर्थतर और असमर्थतम क्षणों को उत्पन्न करता हुआ कपाल की उत्पत्ति में कारण हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्पाद सहेतुक है, न कि विनाश। चूँकि विनाश को किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है, अत: वह स्वभावत: प्रतिक्षण होता ही रहता है।

उत्तरपक्ष–

---

349 'क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृत:।
न भवन्ति स्थिरा भावा नि:सत्त्वास्ते ततो मता:।।' –तत्त्वसं. श्लो. ३००।

किन्तु[350] क्षणिक परमाणुरूप पदार्थ मानने पर स्कन्ध अवस्था भ्रान्त ठहरती है। यदि पुंज होने पर भी परमाणु अपनी परमाणुरूपता नहीं छोड़ते और स्कन्ध अवस्था धारण नहीं करते तथा अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओं का पुंज भी अतीन्द्रिय ही बना रहता है; तो ह घट, पट आदि रूप से इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकेगा। परमाणुओं में परस्पर विशिष्ट रासायनिक सम्बन्ध होनेपर ही उनमें स्थूलता आती है और तभी वे इन्द्रियग्राह्य होते हैं। परमाणुओं का परस्पर जो सम्बन्ध होता है वह स्निग्धता ओर रूक्षता के कारण गुणात्मक परिवर्तन के रूप में होता है। वह कथञ्चित्तादात्म्यरूप है, उसमें एकदेशादि विकल्प नहीं उठ सकते। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलरूपता को धारण कर लेते हैं। पुद्गलों का यही स्वभाव है। यदि परमाणु परस्पर सर्वथा असंसृष्ट रहते हैं; तो जैसे बिखरे हुए परमाणुओं से जलधारण नहीं किया जा सकता था वैसे पुञ्जीभूत परमाणुओं से भी जलधारण आदि क्रियाएँ नहीं हो सकेगी। पदार्थ पर्याय की दृष्टि से प्रतिक्षण विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न सन्तति की दृष्टि से कथञ्चित् ध्रुव भी हैं।

सन्तति, पंक्ति और सेना की तरह बुद्धिकल्पित ही नहीं है, किन्तु वास्तविक कार्यकारणपरम्परा की ध्रुव कोल है। इसीलिए निर्वाण अवस्था में चित्तसन्तति का सर्वथा उच्छेद नहीं माना जा सकता। दीपनिर्वाण का दृष्टान्त भी इसलिए उचित नहीं है कि दीपक का भी

---

350 दिग्नागादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद इसी रूप में बुद्ध को अभिप्रेत न था, इस विषय की चर्चा प्रो. दलसुख जी ने तर्कवा. टि. पृ. २८१ में इसप्रकार की है– 'इस विषय में प्रथम यह बात ध्यान देने की है कि भगवान् बुद्ध ने उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनों के भिन्न क्षण माने थे, ऐसा अंगुत्तरनिकाय और अभिधर्म ग्रन्थों के देखने से प्रतीत होता है (''उप्पादठितिभंगवसेन खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम। तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मान आयु'' –अभिधम्मत्थु. ४।८) अंगुत्तरनिकाय में संस्कृत के तीन लक्षण बताये गये हैं– संस्कृत वस्तु का उत्पाद होता है, व्यय होता है और स्थिति का अन्यथात्व होता हे। इससे फलित होता है कि प्रथम उत्पत्ति, फिर जरा और फिर विनाश, इस क्रम से वस्तु में अनित्यता– क्षणिकता सिद्ध है। चित्तक्षण क्षणिक है, इसका अर्थ है कि वह तीन क्षण तक है। प्राचीन बौद्ध शस्त्र में मात्र चित्त–नाम ही को योगाचार की तरह वस्तुसत् नहीं माना है और उसकी आयु योगाचार की तरह एकक्षण नहीं, स्वसम्मत चित्त की तरह त्रिक्षण नहीं, किन्तु १७ क्षण मानी गई है। ये १७ क्षण भी समय के अर्थ में नहीं, किन्तु १७ चित्तक्षण के अर्थ में लिए गए हैं अर्थात् वस्तुत: एक चित्तक्षण बराबर ३ क्षण होने ५१ क्षण की आयु रूप की मानी गई है। यदि अभिधममत्थसंगहकार ने जो बताया हे वैसा ही भगवान् बुद्ध को अभिप्रेत हो तो कहना होगा कि बुद्ध सम्मत क्षणिकता और योगाचार सम्मत क्षणिकता में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सर्वास्तिवादियों के मत से 'सत्' की त्रैकालिक अस्तित्व से व्याप्ति है। जो सत् है अर्थात् वस्तु है वह तीनों काल में अस्ति है।'सर्व' वस्तु को तीनों कालों में अस्ति मानने के कारण ही उस वाद का नाम सर्वास्तिवाद पड़ा हे (देखो, सिस्टम ऑफ बुद्धिस्टिक थाट्, पृ. १०३) सर्वास्तिवादियों ने रूपपरमाणु को नित्य मानकर उसी में पृथिवी, अप्, तेज, वायुरूप होने की शक्ति मानी है। (वही पृ. १३४, १३७) सर्वास्तिवादियों ने नैयायिकों के समान परमाणुसमुदायजन्य अवयवी को अतिरिक्त नहीं, किन्तु परमाुसमुदाय को ही अवयवी माना है। दोनों ने परमाणु को नित्य मानते हुए भी समुदाय और अवयवी को अनित्य माना हैं सर्वास्तिवादियों ने एक ही परमाणु को अन्य परमाण ु के संसर्ग से नाना अवस्थाएँ मानी हैं और उन्हीं नाना अवस्थाओं को अनित्य माना है, परमाणु की नहीं (वही, पृ. १२१, १३७)' –जैनतर्कवा. टि., पृ. २८२।

सर्वथा उच्छेद नहीं होता। जो परमाणु दीपक अवस्था में भासुराकार और दीप्त थे वे बुझने पर श्यामरूप और अदीप्त बन जाते हैं। यहाँ केवल पर्यायपरिवर्तन ही हुआ। किसी मौलिक तत्त्व सर्वथा उच्छेद मानना अवैज्ञानिक है।

वस्तुत: बुद्ध ने विषयों से वैराग्य और ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जगत् के क्षणिकत्व आर अनित्यत्व की भावना पर इसलिए भार दिया था कि मोही और परिग्रही प्राणी पदार्थों को स्थिर और स्थूल मानकर उनमे राग करता है, तृष्णा से उनके परिग्रह की चेष्टा करता है, स्त्री आदि को एक स्थिर और स्थूल पदार्थ मानकर उनके स्तन आदि अवयवों में रागदृष्टि गड़ाता है। यदि प्राणी उन्हें केवल हड्डियों का ढाँचा और मांस का पिण्ड, अन्तत: परमाणुपुंज के रूप में देखे, तो उसका रागभाव अवश्य कम होगा। 'स्त्री' यह संज्ञा भी स्थूलता के आधार से कल्पित होती है। अत: वीतरागता की साधना के लिए जगत और शरीर की अनित्यता का विचार और उसकी बार–बार भावना अत्यन्त अपेक्षित है। जैन साधुओं को भी चित्त में वैराग्य की दृढ़ता के लिए अनित्यत्व, अशरणत्व आदि भावनाओं का उपदेश दिया गया है; परन्तु भावना जुदी है और वस्तुतत्त्व का निरूपण जुदा। वैज्ञानिक भावना के बल पर वस्तुस्वरूप की मीमांसा नहीं करता, अपितु सुनिश्चित कार्यकारणभावों के प्रयोग से।

स्त्री का सर्पिणी, नरक का द्वार, पाप की खानि, नागिन और विषवेल आदि रूप से जो भावनात्मक वर्णन पाया जाता है वह केवल वैराग्य जागृत करने के लिए है, इससे स्त्री सर्पिणी या नागिन नहीं बन जाती। किसी पदार्थ को नित्य मानने से उसमें सहज राग पैदा होता है। आत्मा को शाश्वत मानने से मनुष्य उसके चिर सुख के लिए न्याय और अन्याय से जैसे–बने–तैसे परिग्रह का संग्रह करने लगता है। अत: बुद्ध ने इस तृष्णामूलक परिग्रह से विरक्ति लाने के लिए शाश्वत आत्मा का ही निषेध करके नैरात्म्य का उपदेश दिया। उन्हें बड़ा डर था कि जिस प्रकार नित्य आत्मा के मोह में पगे अन्य तीर्थिक तृष्णा में आकंठ डूबे हुए हैं उस तरह के बुद्ध के भिक्षु न हों और इसीलिए उन्होंने बड़ी कठोरता से आत्मा की शाश्वतिकता ही नहीं; आत्मा का ही निषेध कर दिया। जगत् को क्षणिक, शून्य, निरात्मक, अशुचि और दु:खरूप कहना भी मात्र भावनाएँ हैं। किन्तु आगे जाकर इन्हीं भानाओं ने दर्शन का रूप ले लिया और एक–एक शब्द को लेकर एक–एक क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद आदि वाद खड़े हो गये। एक बार इन्हें दार्शनिक रूप मिल जाने पर तो उनका बड़े उग्ररूप में समर्थन हुआ।

बुद्ध ने योगिज्ञान की उत्पत्ति चार आर्यसत्यों की भावना के[३५१] प्रकर्ष पर्यन्त गमन से ही तो मानी है। उसमें दृष्टान्त भी दिया है[३५२] कामुक का। जैसे कोई कामुक अपनी प्रिय कामिनी की तीव्रतम भावना के द्वारा उसका सामने उपस्थित की तरह साक्षात्कार कर लेता है, उसी तरह भावना से सत्य साक्षात्कार भी हो जाता है। अत: जहाँ तक वैराग्य का सम्बन्ध है वहाँ वक जगत् को क्षणिक और परमाणु पुंजरूप मानकर चलने में कोई हानि नहीं है; क्योंकि असत्योपाधि से भी सत्य तक पहुँचा जाता है, पर दार्शनिक क्षेत्र तो वस्तुस्वरूप की यथार्थ मीमांसा करना चाहता है। अत: वहाँ भावनाओं का कार्य नहीं है। प्रतीतिसिद्ध स्थिर और स्थूल पदार्थों को भावनावश असत्यता का फतवा नहीं दिया जा सकता।

जिस क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रिया की व्याप्ति है वे सर्वथा क्षणिक पदार्थ में भी नहीं बन सकते। यदि पूर्व का उत्तर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो उनमें कार्यकारणभाव ही नहीं बन सकता। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव या उपादानोपादेयभाव के लिए पूर्व और उत्तर क्षण में कोई वास्तविक सम्बन्ध या अन्वय मानना ही होगा, अन्यथा सन्तानान्तरवर्ती उत्तरक्षण के साथ भी उपादानोपादेशभाव बन जाना चाहिए। एक वस्तु अब क्रमश: दो क्षणों को या दो देशों को प्राप्त होती है तो उसमें कालकृत या देशकृत क्रम माना जा सकता है, किन्तु जो जहाँ और जब उत्पन्न हो तथा वहीं और तभी नष्ट हो जाय; तो उसमें क्रम कैसा? क्रम के अभाव में योगपद्य की चर्चा ही व्यर्थ है। जगत् के पदार्थों के विनाश को निर्हेतुक मानकर उसे स्वभावसिद्ध कहनर उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार उत्तर का उत्पाद अपने कारणों से होता है उसी तरह पूर्व का विनाश भी उन्हीं कारणों से होता हैं उनमें कारणभेद नहीं है, इसलिए वस्तुत: स्वरूपभेद भी नहीं हैं पूर्व का विनाश और उत्तर का उत्पाद दोनों एक ही वस्तु है। कार्य का उत्पाद ही कारण विनाश है। जो स्वभावभूत उत्पाद और विनाश हैं वे तो स्वरसत: होते ही रहते हैं। रह जाती है स्थूल विनाश की बात, सो वह स्पष्ट ही कारणों की अपेक्षा रखता है। जब वस्तु में उत्पाद और विनश दोनों ही समान कोटि के धर्म हैं तब उनमें से एक को सहेतुक तथा दूसरे को अहेतुक कहना किसी भी तरह उचित नहीं है।

संसार के समस्त ही जड़ और चेतन पदार्थों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रकार के सम्बन्ध बराबर अनुभव में आते हैं। इनमें क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यासत्तियाँ व्यवहार के निर्वाह के लिए भी

---

[351] 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्।' —न्यायवि. १।११।

[352] 'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्यु पप्लुता:।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव।।' —प्रमाणवा. २।२८२।

हों पर उपादानोपादेयभाव को स्थापित करने के लिए द्रव्य प्रत्यासत्ति परमार्थ ही मानना होगी और यह एकद्रव्यतादात्म्य को छोड़कर अन्य नहीं हो सकती। इस एकद्रव्यतादात्म्य के बिना बन्ध–मोक्ष, लेन–देन, गुरु–शिष्यादि समस्त व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' स्वयं, जिसको प्रतीत्य जो समुत्पाद को प्राप्त करता है उनमें परस्पर सम्बन्ध की सिद्धि कर देता है। यहाँ केवल क्रिया मात्र ही नहीं है; किन्तु क्रिया का आधार कर्ता भी है। जो प्रतीत्य–अपेक्षा करता है, वही उत्पन्न होता है। अत: इस एक द्रव्यप्रत्यासत्ति को हर हालत में स्वीकार करना ही होगा। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव के आधार से पूर्व और उत्तर क्षणों में एक सन्तति तभी बन सकती है जब काय्र और कारण में अव्यभिचारिकता का नियामक कोई अनुस्यूत परमार्थ तत्त्व स्वीकार किया जाय।

विज्ञानवाद की समीक्षा–

इसी तरह विज्ञानवाद में बाह्यार्थ के अस्तित्व का सर्वथा लोप करके केवल उन्हें वासनाकल्पित ही कहना उचित नहीं है। यह ठीक है कि पदार्थों में अनेक प्रकार की संज्ञाएँ और शब्दप्रयोग हमारी कल्पना से कल्पित हों, पर जो ठोस और सत्य पदार्थ हैं उनकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। नीलपदार्थ की सत्ता नीलविज्ञान से सिद्ध भले ही हो, पर नीलविज्ञान नीलपदार्थ की सत्ता को उत्पन्न नहीं करता। वह स्वयं सिद्ध है और नीलविज्ञान के न होने पर भी उसका स्वसिद्ध अस्तित्व है ही। आँख पदार्थ को देखती है, न कि पदार्थ को उत्पन्न करती है। प्रमेय और प्रमाण ये संज्ञाएँ सापेक्ष हों, पर दोनों पदार्थ अपनी–अपनी सामग्री से स्वत: सिद्ध उत्पत्तिवाले हैं। वासना और कल्पना से पदार्थ को इष्ट–अनिष्ट रूप में चित्रित किया जाता है, परन्तु पदार्थ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अत: विज्ञानवाद आज के प्रयोगसिद्ध विज्ञान से न केवल बाधित ही है, किन्तु व्यवहारानुपयोगी भी है।

शून्यवाद की आलोचना–

शून्यवाद के दो रूप हमारे सामने हैं– एक तो स्वप्नप्रत्यय की तरह समस्त प्रत्ययों को निरालम्बन कहना अर्थात् प्रत्यय की सत्ता तो स्वीकार करना, पर उन्हें निर्विषय मानना और दूसरा बाह्यार्थ की तरह ज्ञान का भी लोप करके सर्वशून्य मानना। प्रथम कल्पना एक प्रकार से निर्विषय ज्ञान मानने की है, जो प्रतीतिविरुद्ध है; क्योंकि प्रकृत अनुमान को यदि निर्विषय माना जाता है, तो इससे 'निरालम्बन ज्ञानवाद' ही सिद्ध नहीं हो सकता। यदि सविषय मानते हैं; तो इसी अनुमान से हेतु व्यभिचारी हो जाता हैं अत: जिन प्रत्ययों का बाह्यार्थ उपलब्ध होता है

उन्हें सविषय और जिनका उपलब्ध नहीं होता, उन्हें निर्विषय मानना उचित है। ज्ञानों में सत्य और असत्य या अविसंवादी और विसंवादी व्यवस्था बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही तो होती है। अग्नि के ज्ञान से पानी गरम नहीं किया जा सकता। जगत् का समस्त बाह्य व्यवहार बाह्य–पदार्थों की वास्तविक सत्ता से ही सम्भव होता है। संकेत के अनुसार शब्दप्रयोगों की स्वतन्त्रता होने पर भी पदार्थों के निजसिद्ध स्वरूप या अस्तित्व किसी के संकेत से उत्पन्न नहीं हो सकते।

बाह्यार्थ की तरह ज्ञान का भी अभाव माननेवाले सर्वशून्यपक्ष को तो सिद्ध करना ही कठिन है। जिस प्रमाण से सर्वशून्यता साधी जाती है। उस प्रमाण को भी यदि शून्य अर्थात् असत् माना जाता है; तो फिर शून्यता किससे सिद्ध की जायगी? और यदि वह प्रमाण अशून्य अर्थात् सत् है; तो 'सर्वं शून्यम्' कहाँ रहा? कम–से–कम उन प्रमाण को तो अशून्य मानना ही पड़ा। प्रमाण और प्रमेय व्यवहार परस्परसापेक्ष हो सकते हैं, परन्तु उनका स्वरूप परस्परसापेक्ष नहीं है, वह तो स्वतः सिद्ध है। अतः क्षणिक और शून्य भावनाओं से वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इस तरह विशेषपदार्थवाद भी विषयभास है; क्योंकि जैसा उसका वर्णन है वैसा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाता।

उभयस्वतन्त्रवाद मीमांसा–

पूर्वपक्ष–

वैशेषिक सामान्य अर्थात् जाति और द्रव्य, गुण, कर्मरूप विशेष अर्थात् व्यक्तियों को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं। सामान्य और विशेष का समवाय सम्बन्ध होता है। वैशेषिक का मूल मन्त्र है– प्रत्यय के आधार से पदार्थ व्यवस्था करना। चूँकि 'द्रव्यं द्रव्यं' यह प्रत्यय होता है, अतः द्रव्य एक पदार्थ है। 'गुणः गुणः' 'कर्म कर्म' इस प्रकार के स्वतन्त्र प्रत्यय होते हैं, अतः गुण और कर्म स्वतन्त्र पदार्थ हैं। इसी तरह अनुगताकार प्रत्यय के कारण सामान्य पदार्थ; नित्य पदार्थों में परस्पर भेद स्थापित करने के लिए विशेषपदार्थ और 'इहेदं' प्रत्यय से समवाय पदार्थ माने गये हैं। जितने प्रकार के ज्ञान और शब्दव्यवहार होते हैं। उनका वर्गीकरण करके असांकर्य भाव से उतने पदार्थ मानने का प्रयत्न वैशेषिकों ने किया है। इसीलिए इन्हें 'संप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है।

उत्तरपक्ष—

किन्तु प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्द का व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर हैं कि इन पर पूरा—पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। वे तो वस्तु स्वरूप की ओर मात्र इशारा ही कर सकते हैं। बल्कि अखण्ड और अनिर्वचनीय वस्तु को समझने—समझाने के लिए उसको खण्ड—खण्ड कर डालते हैं और इतना विश्लेषण कर डालते हैं कि उसी वस्तु के अंश स्वतन्त्र पदार्थ मालूम पड़ने लगते हैं। गुण—गुणांश और देश—देशांश की कल्पना भी आखिर बुद्धि और शब्द व्यवहार की ही करातमात है। एक अखण्ड द्रव्य से पृथक् भूत या पृथक्सिद्ध गुण और क्रिया नहीं रह सकतीं और न बताई जा सकती हैं फिर भी बुद्धि उन्हें पृथक् पदार्थ बताने को तैयार है। पदार्थ तो अपना ठोस और अखण्ड अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमन के अनुसार अनेक प्रत्ययों का विषय हो सकता है। गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, ये तो द्रव्य की अवस्थाओं के विभिन्न व्यवहार हैं

इस तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्रसत्ताक व्यक्तियों में मोतियों में सूत की तरह पिरोया गया हो। पदार्थों के कुछ परिणमन सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो स्वतन्त्रसत्ताक विभिन्न व्यक्तियों में भूयः साम्य देखकर अनुगत व्यहवहार होता है। अनेक आत्माएँ संसार अवस्था में अपने विभिन्न शरीरों में वर्तमान हैं। जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकार की सदृश है उनमें 'मुनष्यः मुनष्यः' ऐसा व्यवहार संकेत के अनुसार होता है और जिनकी शरीर रचना संकेतानुसार घोड़ों जैसी है उनमें 'अश्वः अश्वः' यह व्यवहार होता है। जिन आत्माओं में अवयवसादृश्य के आधार से मनुष्यव्यवहार होता है उनमें 'मनुष्यत्व' नाम का कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नहीं है, जो अपनी स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो ओर समवाय सम्बन्ध से उनमें रहता हो। इतनी भेदकल्पना पदार्थ स्थिति के प्रतिकूल है। 'सत् सत्', 'द्रव्यम् द्रव्यम्', 'गुणः गुणः', 'मनुष्यः मनुष्यः' इत्यादि सभी व्यवहार सादृश्य मूलक हैं। सादृश्य भी प्रत्येकनिष्ठ धर्म है, कोई अनेकनिष्ठ स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह तो अनेक अवयवों की समानतारूप है और तत्तद् अवयव उन—उन व्यक्तियों में ही रहते हैं। उनमें समानता देखकर द्रष्टा अनेक प्रकार के छोटे—बड़े दायरेवाले अनुगत व्यवहार करने लगता है।

सामान्य नित्य, एक और निरंश होकर यदि सर्वगत है, तो उसे विभिन्न देशवाली स्वव्यक्तियां में खण्डशः रहना होगा; क्योंकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देशों में पूर्णरूप से नहीं रह सकती। नित्य और

निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र–व्यक्तियों के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिए। अन्यथा क्वचित् व्यक्त और क्वचित् अव्यक्त रूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व और सांशत्व का प्रसंग प्राप्त होता है।

जिस तरह सत्तासामान्य पदार्थ अन्य किसी 'सत्तात्व' नामक सामान्य के बिना ही स्वतः सत् है उसी तरह द्रव्यादि भी स्वतः सत् ही क्यों न माने जायँ? सत्ता के सम्बन्ध से पहले पदार्थ सत् हैं, या असत्? यदि सत् हैं; तो सत्ता का सम्बन्ध मानना निरर्थक है। यदि असत् हैं; तो उनमें खरविषाण की तरह सत्तासम्बन्ध हो नहीं सकता। इसी तरह अन्य सामान्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय स्वतः सत् हैं– इनमें किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जाती, उसी तरह द्रव्यादि भी स्वतः सिद्ध सत् हैं, इनमें भी सत्ता के सम्बन्ध की कल्पना निरर्थक है।

वैशेषिक तुल्य आकृतिवाले और तुल्य गुणवाले परमाणुओं में, मुक्त आत्माओं में और मुक्त आत्माओं द्वारा त्यक्त मनों में भेद–प्रत्यय कराने के लिए इन प्रत्येक में एक विशेष नामक पदार्थ मानते हैं। ये विशेष अनन्त हैं और नित्यद्रव्यवृत्ति है। अन्य अवयवी आदि पदार्थों में जाति, आकृति और अवयवसंयोग आदि के कारण भेद किया जा सकता है, पर समान आकृतिवाले, समानगुणवाले नित्य द्रव्यों में भेद करने के लिए कोई अन्य निमित्त चाहिए और वह निमित्त है विशेष पदार्थ। परन्तु प्रत्यय के आधार से पदार्थ–व्यवस्था मानने का सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकार के प्रत्यय होते हैं, उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जायँ तो पदार्थों की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार एक विशेष दूसरे विशेष से स्वतः व्यावृत्त है, उसमें अन्य किसी व्यावर्तक की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह परमाणु आदि समस्त पदार्थ अपने असाधारण निज स्वरूप से ही स्वतः व्यावृत्त्स रह सकते हैं, इसके लिए भी किसी स्वतन्त्र विशेष पदार्थ की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तियाँ स्वयं ही विशेष हैं। प्रमाण का कार्य है स्वतः सिद्ध पदार्थों की असंकर व्याख्या करना न कि नये–नये पदार्थों की कल्पना करना।

फलाभास[३५३]

353 परीक्षामुख ६६६–७२।

प्रमाण से फल को सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न कहना फलाभास है। यदि प्रमाण और फल में सर्वथा भेद माना जाता है; तो भिन्न—भिन्न आत्माओं के प्रमाण और फलों में जैसे प्रमाण—फलभाव नहीं बनता, उसी तरह एक आत्मा के प्रमाण और फल में भी प्रमाण—फलव्यवहार नहीं होना चाहिए। समवायसम्बन्ध भी सर्वथा भेद की स्थिति में नियामक नहीं हो सकता। यदि सर्वथा अभेद माना जाता है तो 'यह प्रमाण है और यह फल' इसप्रकार का भेदव्यवहार और कारणकार्यभाव भी नहीं हो सकेगा। जिस आत्मा की प्रमाणरूप से परिणति हुई है उसी की अज्ञान निवृत्ति होती है, अत: एक आत्मा की दृष्टि से प्रमाण और फल में अभेद है और साधकतमकरणरूप तथा प्रमितिक्रियारूप पर्यायों की दृष्टि से उनमें भेद है। अत: प्रमाण और फल में कथंचित् भेदाभेद मानना ही उचित है।

९. नय—विचार

नय का लक्षण—

अधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नय का भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तु के पूर्णरूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। ज्ञाता का वह अभिप्रायविशेष नय[३५४] है जो प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एकदेश को स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभाव से ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इन ज्ञान में प्रमाण घड़े को अखण्ड भाव से उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मों का विभाग न करके पूर्णरूप में जानता है, जबकि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घट:' 'रसवान् घट:' आदि रूप में उसे अपने—अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है। एक बात ध्यान में रखने की है कि प्रमाण और नय ज्ञान की ही वृत्तियाँ हैं, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाता की सकल के ग्रहण की दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाण से गृहीत वस्तु को खण्डश: ग्रहण करने का अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नय की उत्पत्ति के लिए भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थों के सभी ज्ञान वस्तु के पूर्णरूप को नहीं जान पाते, फिर भी जितने को वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्र के ग्रहण की दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही

---

354 'नयो ज्ञातुरभिप्राय:।' —लघी. श्लो. ५५।
'ज्ञातृणामभिसन्धय: खलु नया:।' —सिद्धिवि., टी. पृ. ५१७।

विकल्पाान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घट का ज्ञान अखण्डभाव से करता है तो प्रमाण की ही सीमा में पहुँचता है और घट के रूप, रस आदि का विभाजन कर यदि घोड़े के रूप को मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाण के जानने का क्रम उसके अंशविशेश की ओर ही झुकता है। प्रमाण चक्षु के द्वारा रूप को देखकर भी उस द्वार से पूरे घड़े का विश्लेषण कर उसके रूप आदि अंशों के जानने की ओर प्रवृत्त होता है? इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी कहा है। प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु को शब्द की तरंगों से अभिव्यक्त करने के लिए जो ज्ञान की रुझान होती है वह नय है।

नय प्रमाण का एकदेश है—

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्न का समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है? जैसे कि घड़े में भरे हुए समुद्र के जल को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही।[३५५] नय प्रमाण से उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होने के कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़े का जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नय के द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु; किन्तु वह 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागर का वह अंश नय है जिसे ज्ञाता ने अपने अभिप्राय के पात्र में भर लिया है। उसका उत्पत्ति स्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा सकें। छोटे—बड़े पात्र अपनी मर्यादा के अनुसार ही तो जल ग्रहण करते हैं। प्रमाण की रंगशाला में नय अनेक रूपों और वेशों में अपना नाटक रचता है।

सुनय, दुर्नय—

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तु के एक—एक अन्त अर्थात् धर्मों को विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाण की ही सन्तान हैं, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही ये सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तु के अमुक अंशों को मुख्यभाव से ग्रहण करके भी अन्य अंशों का निराकरण नहीं करता; उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बाप की जायदाद में सभी सन्तानों का समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य

---

355 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।।' —त. श्लों १।६। नयविवरण श्लो. ६।

भाइयों के हक को ईमानदारी से स्वीकार करता है, उनके हड़पने की चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तु में सभी नयों का समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य के अंशों को गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्व को स्वीकार करे। जो दूसरे का निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारी कपूत की तरह दुर्नय कहलाता है।

प्रमाण में पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य अंशों को गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नहीं करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्य का निराकरण करता है। प्रमाण[३५६] 'तत् और अतत्' सभी को जानता है, नय में 'अतत्' या तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्य का निराकरण करता है। [३५७]प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूप से जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारण कर अन्य तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नय का[३५८] प्राण है।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१–२५) में कहा है कि–

''तम्हा सव्वे णि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा।।'' –सन्मति. १।२२।

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्ष का आग्रह करते हैं– पर का निषेध करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्व के सद्भाववाले होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकार के गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्र में पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों, तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकतीं, उसी तरह अपने नियत वादों का आग्रह रखनेवाले परस्पर–निरपेक्ष नय सम्यक्तवपने को नहीं पा सकते, भले ही वे अपने–अपने पक्ष के लिए कितने ही महत्त्व

---

356 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय–दुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।' –अष्टश., अष्टसह. पृ. २९०।

357 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।' –अन्ययोगव्य. श्लो. २८।

358 'निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।' –आप्तमी. श्लो. १०८।

के क्यों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूत में पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार' बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पने को प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं। अन्त में वे कहते हैं—

''जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्ण।।'' —सन्मति. १।५३।

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषय का प्रतिपादन करते हैं। वह उनकी स्वसमयप्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थंकर की आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्व को बड़ी मार्मिक रीति से समझाते हैं—

''दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण, दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो।।'' —समयसार गाथा १४३।

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयों के वक्तव्य को जानता तो है, पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करता। वह एक नय को द्वितीयसापेक्षरूप से ही ग्रहण करता है।

व्स्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावत: एक—एक धर्म को ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे; भले ही उनके वाचक पृथक्—पृथक शब्द न मिलें, पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मों को जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। यानी अभिप्रायों की संख्या की अपेक्षा हम नयों की समीा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूप से कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हें; क्योंकि कोइ भी वचनमार्ग अभिप्राय के बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो सम्भव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नहीं हो सकता, जो बिना अभिप्राय के प्रयुक्त होतो हो। अत: सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने[३५९] नय हैं।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी—न—किसी धर्म का वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य

---

359 ''जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।'' —सन्मति ३।४७।

(१।३४) में 'ये नय क्या एक वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी तन्त्रों के मतवाद हैं। या जैनाचार्यों के ही परस्पर मतभेद हैं?' इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्यों के ही पारस्परिक मतभेद हें?' किन्तु ज्ञेय अर्थ को जाननेवाले नानाअध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से या अनेक दृष्टिकोणों से ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं और न शेखचिल्ली के विचार ही हैं, किन्तु अर्थ को नाना प्रकार से जाननेवाले अभिप्राय विशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी–न–किसी को विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना ज्ञाता का कार्य है। जैसे एक ही लोक सत् की अपेक्षा एक है, जीव और अजीव के भेद से दो, ऊर्ध्व, मध्य और अध: के भेद से तीन, चार प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होने चार; पाँच अस्तिकायों की अपेक्षा पाँच और छह द्रव्यों की अपेक्षा छह प्रकार का कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेद से होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेद से होनेवाले वस्तु के विभिन्न अध्यवसाय हैं।

दो नय: द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायों की अनन्तता होने पर भी उन्हें दो विभागों में बाँटा जा सकता है– एक अभेद को ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेद को ग्रहण करने वाले। वस्तु में स्वरूपत: अभेद है, वह अखण्ड है और अपने में एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मों के द्वारा अनेकरूप में ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्य को मुख्यरूप से ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्याय को ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओं में अभेद ओर भेद की कल्पना के दो–दो प्रकार हैं। अभेद की एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्य में अपनी द्रव्यशक्ति के कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रम से होनेवाली क्रमिक पर्यायों में ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहने के कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायों को व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मों को भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद–कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्यों में संग्रह की दृष्टि से की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए सादृश्य की अपेक्षा से की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्यों में सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जाति की अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है।

यह अनेक द्रव्यों में तिरछी चलती है। एक द्रव्य की पर्यायों में होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्यों में प्रतीति होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेक विशेष कही जाती है। इसप्रकार दोनों प्रकार के अभेदों को विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनों भेदों को विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार—

परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेद को ग्रहण करेनवाली दृष्टि ही द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्यायभेद को जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायार्थिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्यों का भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नाम का पदार्थ नहीं है, जो अनेक मनुष्यद्रव्रों में मोतियों में सूत की तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेनिष्ठ धर्म नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्यों का सादृश्यमूलक अभेद से संग्रह केवल व्यावहाकिर है, पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्‌गलपरमाणुद्रव्यों को पुद्‌गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिए है। दो पृथक् परमाणुओं की सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्य को छोड़कर जितनी भी अभेद—कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्य के नाम से की जाती हैं, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थिति से इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दों के द्वारा उन पृथक् वस्तुओं का संग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्य में कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उनमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखण्ड अनिर्वचनीय वस्तु को समझने—समझाने और कहने के लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्यों को हम विश्लेषण अलग स्वतन्त्रभाव से गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्य के गुण और धर्मों को नहीं बता सकते। अतः परमार्थद्रव्यार्थिकनय एकद्रव्यगत अभेद को विषय करता है और व्यवहार पर्यायार्थिक एकद्रव्य की क्रमिक पर्याययों के कल्पित भेद को। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेद को जानता है और परमार्थ पर्यायर्थिक दो द्रव्यों के वास्तविक परस्पर भेद को जानता है। वस्तुतः व्यवहार पर्यायार्थिक की सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक—

तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिक के स्थान में आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिक के स्थान में आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द

इसी सूक्ष्मभेद को सूचित करता है। द्रव्यास्तिक का तात्पर्य है कि जो एकद्रव्य परमार्थ अस्तित्व को विषय करे और तन्मूलक ही अभेद का प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्य की वास्तविक क्रमिक पर्यायों के अस्तित्व को मानकर उन्हीं के आधार से भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टि से अनेकद्रव्यगत परमार्थ भेद को पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेद को किसी द्रव्य की पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्यायशब्द का प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेद को द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेद को पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायार्थिक, अनेक द्रव्यों के सादृश्यमूलक अभेद को व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेद को परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेद को हम 'पर्याय' शब्द से व्यवहार के लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेय में ज्ञाता के अभिप्रायानुसार भेद या अभेद को मुख्य और इतर को गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन–सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोता की कुशलता पर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्य में ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतन्त्र द्रव्यों में। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्यों में सादृश्य मूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्य के दो गणों, धर्मों या पर्यायों में परस्पर होता है। द्रव्य का अपने गुण, धर्म और पर्यायों से व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

तीन प्रकार के पदार्थ और निक्षेप–

तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थ का संग्रह इन्हीं दो नयों में हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्य का है और परमार्थ अर्थसंज्ञा भी इसी गुण–पर्यायवाले द्रव्य को दी जाती है; परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थ से ही नहीं चलता। अतः व्यवहार के लिए पदार्थों का निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकार से किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे– किसी लड़के का 'गजराज' यह नाम शब्दात्मक अर्थ का आधार होता हे। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थ का उसी के आकार वाली वस्तु में या अतदाकार वस्तु में स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे– हाथी की मूर्ति में हाथी की स्थापना या शतरंज के मुहरे को हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थ का आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्याय

की योग्यता की दृष्टि से पदार्थ में वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे– युवराज को राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमान में राजा कहना। वर्तमान पर्याय की दृष्टि से होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे– राज्य करनेवाले को राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ– द्रव्य और भाव हैं। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेप में गर्भित है। यदि बच्चा शेर के लिए रोता है तो उसे शेर का तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्द से ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थ को त्रैकालिक पर्यायों में होनेवाले व्यवहार के आधार बनते हैं। 'गजराज को बुला लाओ' यह कहने पर इस नाम व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज–हाथी। राज्याभिषेक के समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज–सभा में वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञान से चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का बोध कराना, संशय को दूर करना और तत्त्वार्थ का अवधारण करना निक्षेप–प्रक्रिया प्रयोजन है।[३६०] प्राचीन शैली में प्रत्येक शब्द के प्रयोग के समय निक्षेप करके समझाने की प्रक्रिया देखी जाती है जैसे– 'घड़ा लाओ' इस वाक्य में समझाएँगे कि 'घड़ा' शब्द से नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नहीं, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेर के लिए रोनेवाले बालक को चुप करने के लिए नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नहीं चाहिए; किन्तु स्थापनाशेर चाहिए। 'गजराज को बुलाओ' यहाँ सीापनागजराज, द्रव्यराज या भावगजराज नहीं बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अत: अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का ज्ञान करना निक्षेप का मुख्य प्रयोजन है।

तीन और सात नय–

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थ को अर्थ, शब्द और ज्ञान के आकारों में बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावत: तीन श्रेणियों में बँट जाते हैं– ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थ के तथाभूत होने की चिनता नहीं होती, वे केवल संकल्प से चलते हैं। जैसे– आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थ के आधार से चलनेवाले व्यवहार में एक और नित्य, एक और व्यापी रूप में चरम अभेद की कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर

---

360 ''उक्तं हि– अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च।।' –धवला टी. सत्प्र.।

क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टि से अन्तिम भेद की कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है। पहली कोटि में सर्वथा अभेद– एकत्व स्वीकार करनेवाले औषनिषद अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय के ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटि में पदार्थ को नानारूप से व्यवहार में लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकार के व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थ में विभिनन शब्दों के प्रयोग को मानते हें; परन्तु शब्दनय शब्दभेद से अर्थभेद को अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकार के व्यवहारों के समन्वय के लिए जैनपरम्परा ने 'नय–पद्धति' स्वीकार की है। नय का अर्थ है– अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय–

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का संकल्पमात्रग्राही नेगमनय में समावेश होता है। अर्थाश्रित अीद व्यवहार का, जो ''आत्मैवेदं सर्वम्'' ''एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्'' आदि उपनिषद्–वाक्यों से प्रकट होता है, संग्रहनय में अन्तर्भाव किया गया हे। इससे नीचे तथा एक परमाणु की वर्तमानकालीन एक अर्थपर्याय से पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदों को, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनय में शामिल किया गया है। अर्थ की आखिरी देश–कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल–कोटि में क्षणिकता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनय में स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थ को सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियों का नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातु के साथ लगनेवाले भिन्न–भिन्न उपसर्ग आदि से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के वाच्य अर्थ भिन्न–भिन्न हैं। इस काल–काराकादिवाचक शब्दभेद से अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टि शब्दनय में समावेश होता है। एक ही साधन से निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः इन पर्यायवाची शब्दों से भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढ में स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रिया में परिणत हो, उसी समय, उसमें, तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टि से सभी शब्द क्रिया से निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रिया से, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रिया से, क्रियावाचक 'चहलति' शब्द चलनेरूप क्रिया से और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देव ने इसको दिया' आदि क्रियाओं से निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारों का समन्वय इन नयों में किया गया है।

मूल नय सात—

नयों के मूल भेद सात हैं— नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति. १।४—५) अभेदग्राही नैगम का संग्रह में तथा भेदग्राही नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भात करके नयों के छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्य में नयों के मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनय के तीन भेद करके नयों के सात भेद गिनाये हैं। नैगमनय के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४—३५) में पाये जाते हैं। षट्खण्डागम में नयों के नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुड में मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनय के तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनय के संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्राय: सर्वसम्मत है।

नैगमनय—

संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनाने के लिए लकड़ी काटने जंगल जा रहा है। पूछने पर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ।' यहाँ दरवाजा बनाने के संकल्प में ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है। संकल्प सत् में भी होता है और असत् में भी। इसी नैगमनय की मार्यादा में अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती हैं' इत्यादि व्यवहार इसी नय की दृष्टि से किये जाते हैं वे सब इसी नय की दृष्टि से होते हैं।

[३६१]अकलंकदेव ने धर्म और धर्मी दोनों को गौण—मुख्यभाव से ग्रहण करना नैगमनय का कार्य बताया है। जैसे— 'जीव:' कहने से ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीवद्रव्य' ही मुख्यरूप से विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीव:' कहने में ज्ञान—गुण मुख्य हो जाता है और जीव—द्रव्य गौण। यह न केवल धर्म को ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मी को ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्र में आते हैं। दो [३६२]धर्मों में, दो धर्मियों में तथा धर्म और धर्मी में एक को प्रधान तथा अन्य को गौण करके ग्रहण करना नैगमनय का ही कार्य है, जब कि संग्रहनय केवल अभेद को ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेद को ही। यह

---

361 लघी. स्ववृ. श्लोक ३९।

362 त. श्लोकवा. श्लो. २६९।

किसी एक पर नियत नहीं रहता। अतः इसे ([363]नैकं गमः) नैगम कहते हैं। कार्य–कारण और आधार–अधेय आदि की दृष्टि से होनेवाले सभी प्रकार के उपचारों को भी यही विषय करता है।

नैगमाभास–

अवयव–अवयवी, गुण–गुणी, क्रिया–क्रियावान, सामान्य और सामान्यवान् आदि में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि गुण गुणी से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव–अवयवी, क्रिया–क्रियावान् तथा सामान्य–विशेष में भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव–अवयवी, क्रिया–क्रियावान तथा सामान्य–विशेष में भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धर छोड़कर दूसरा सम्बन्ध नहीं है। यदि गुण आदि गुणी आदि से सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होने के कारण गुण–गुणीभाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथंचित्तादात्म्य का अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं– उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है? अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगामाभास है।[364]

सांख्य का ज्ञान और सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानना नैगामाभास है। सांख्य का कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सुख–ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्य की' दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारण रूप 'अव्यक्त' स्वरूप से अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ–अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धि से भिन्न है। अतः चेतन पुरुष का धर्म बुद्धि नहीं है। इस तरह सांख्य का ज्ञान और आत्मा में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादि को सर्वथा अनित्य और पुरुष को सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कुटस्थ नित्य पुरुष में प्रकृति के संसर्ग से भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुष को परिणामी–नित्य ही मानना चाहिए, तभी उसमे बन्ध–मोक्षादि

---

363 धवला टी. सत्प्ररू.।

364 लघी. स्व. श्लो. ३९।

व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह और संग्रहाभास–

अनेक पर्यायों को एकद्रव्यरूप से या अनेक द्रव्यों को सादृश्य–मूलक एकत्वरूप से अभेदग्राही संग्रह[365] नय होता है। इसकी दृष्टि में विधि ही मुख्य हैं। द्रव्यों को छोड़कर पर्यायें हैं ही नहीं। यह दो प्रकार का होता है– एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रह में सत्‌रूप से समस्त पदार्थों का संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रह में एकद्रव्यरूप से समस्त पर्यायों का तथा द्रव्य रूप से समस्त द्रव्यों का, गुणरूप से समस्त गुणों का, गोत्वरूप से समस्त गौओं का मनुष्यत्वरूप से समस्त मनुष्यों का इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते–करते ऋजुसूत्रनय की विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्याय तक पहुँचता है यानी संग्रह करने के लिए दो रह ही नहीं जाते, तब अपरसंग्रह की मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसंग्रह के बाद और ऋजुसूत्रनय से पहले अपरसंग्रह और व्यवहार नय का समान क्षेत्र है, पर दृष्टि में भेद है। जब अपरसंग्रह में सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिए वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहार नय में भेद की ही प्रधानता है, वह पर्याय–पर्याय में भी भेद डालता है। परसंग्रहनय की दृष्टि में सद्‌रूप से सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारों में व्याप्त हैं उसी तरह सन्मात्र तत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसी के भेद हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारों में व्याप्त हैं उसी तरह सन्मात्र से बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादि में प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थों को जाने, वह सद्‌रूप से अभेदांश को विषय करता ही है। इतना ध्यान रखने की बात है कि एक–द्रव्यमूलक पर्यायों के संग्रह के सिवाय अन्य सभी प्रकार के संग्रह सादृश्यमूलक एकत्व का आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहार की सुविधा के लिए हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्यों में चाहे वे सजातीय हों, या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता।

संग्रहनय की इस अभेददृष्टि से सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्ध की भेददृष्टि है, जिसमें अभेद को कलपनात्मक कहकर उसका वस्तु में

365 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तभेदत:।' –लघी. श्लो. ३२।

कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेद के कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टि के विषयभूत पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेद के आधार पर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेद के आधार से माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवों में कथञ्चितादात्म्य रूप से व्याप्ति रखे, तभी वह अवयवीव्यपदेश पा सकती है। स्थूलता में भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नय की दृष्टि से कह सकते हैं 'विश्व सन्मात्ररूप[३६६] है, एक है, अद्वैत है; क्योंकि सद्‌रूप से चेतन ओर अचेतन में कोई भेद नहीं है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेद का ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (कठोप. ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनय में अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवाद में कारक और क्रियाओं के प्रत्यक्षसिद्ध भेद का निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या—अविद्याद्वैत आदि सभी का लोप इस मत में प्राप्त होता है। अत: सांग्रहिक व्यवहार के लिए भले ही परसंग्रहनय जगत के समस्त पदार्थों को 'सत्' कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्य के मौलिक अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता। विज्ञान की प्रयोगशाला प्रत्येक अणु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता। विज्ञान की प्रयोगशाल प्रत्येक अणु का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अत: संग्रहनय की उपयोगिता अभेदव्यवहार के लिए ही है, वस्तुस्थिति का लोप करने के लिए नहीं।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास है। यह इसलिए कि इसमें भेद का और द्रव्यों के उस मौलिक अस्तित्व का निराकरण कर दिया जाता है, जो प्रमाण से प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञान ने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

व्यवहार और अव्यवहाराभास—

संग्रहनय के द्वारा संगृहीत अर्थ में विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थिति मूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[३६७] है। यह व्यवहारनय

---

366 'सर्वमेकं सदविपशेषात्' —तत्त्वार्थ भा. १।३५।

367 'संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार:।' —सर्वार्थसि. १।३३

लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोकव्यवहार विरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [३६८]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनों से चलता है। जीवव्यवहार जीव–अर्थ जीव–विषयक ज्ञान और जीव–शब्द तीनों से सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय–ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण–पर्याय वाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेकद–वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहार में अविसंवादी होने से प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेद का निराकरण न करने के कारण तथा पूर्वापराविरोधी होने से सत्व्यवहार के विषय हैं। सौत्रान्तिक का जड़ या चेतन सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचार का क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिक का निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहार में विसंवादक होने से व्यवहाराभास है।

जो भेद वस्तु के अपने निजी मौलिक एकत्व की अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेद का सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतन्त्र द्रव्यों में वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्य के कारण अभेद आरोपित होता है, जब कि एकद्रव्य के गुण और पयर्याय में वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तु का विश्लेषण कर समझने के लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थिति को लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नहीं। विश्व के अनन्त द्रव्यों का अपना व्यक्तित्व मौलिक भेद पर ही टिका हुआ है। एक द्रव्य के गुणादि का भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्य के अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अनन्त अद्वैतों में तो क्या, दो अद्वैतों में भी अभेद की कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेषिक की प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभास में आती है।

ऋजुसूत्र और तदाभास–

व्यवहारनय तक भेद और अभेद की कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्यों को सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्य में भी कालक्रम से पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षण का अतीत और अनागत से कोई सम्बन्ध नहीं है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय[३६९] वर्तमान क्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्याय को ही विषय करता हे। अतीत चूँकि

---

368 'कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्।।' –त. श्लो., पृ. २७१।

369 'पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।' –अनुयोग. द्वा. ४। अकलंकग्रन्थत्रय टि. पृ. १४६।

विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टि से नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी कोई चीज नहीं है। सरल सूत की तरह यह[370] केवल वर्तमान पर्याय को स्पर्श करता है। यह नय पच्यमान वस्तु को भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाण को भी अंशतः कृत, भुज्यमान को भी भुक्त और बद्ध्यमान को भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टि में शामिल है।

इस नय की दृष्टि से 'कुम्भकार' व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायों को कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता और छत्रक आदि पर्यायों को कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता और जब कुम्भ पर्याय का समय आता है, तब वह स्वयं अपने उपादान से निष्पनन हो जाती है। अब किसे करने के कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय?

जिस समय जो आकर के बैठा है, वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नय की दृष्टि में 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नहीं हो सकते, क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राम में रहता है और न घर में ही।

'कौआ काला है' यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला कौआ हो; तो समस्त भौंरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जाएँगे। यदि कौआ काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा। फिर कौआ के रक्त, मांस, पित्त, हड्डी, चमड़ी आदि मिलकर पचरंगी वस्तु होते हैं, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं?

इस नय की दृष्टि में पलाल का दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगी का सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समय की क्रियाएँ वर्तमान क्षण में नहीं हो सकतीं। जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदा कैसा? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत–सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है।

इस नय की सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टि में पान, भोजन आदि अनेक–समय–साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षण में तो क्रिया होती नहीं और वर्तमान का अतीत और अनागत से कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्यरूपी माध्यम से पूर्व और

---

370 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।' –तत्त्वार्थवा. १।३३।

उत्तर पर्यायों में सम्बन्ध जुटता है उस माध्यम का अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है।

इस नय को लोकव्यवहार के विरोध की कोई चिन्ता नहीं है।[३७१] लोक व्यवहार तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयों से चलेगा ही। इतना सब क्षणपर्याय की दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी यह नय द्रव्य का लोप नहीं करता। वह पर्याय की मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्य की परमार्थसत्ता उसे क्षण की तरह ही स्वीकृत है। उसकी दृष्टि में द्रव्य का अस्तित्व गौण रूप में विद्यमान रहता ही है।

बौद्ध का सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि उसमें द्रव्य का विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्था में चित्तसन्तति दीपक की तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मत में द्रव्य का सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है।

क्षणिक पक्ष का समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमें द्रव्य का पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भल ही वह गौण हो; परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रिया के लिए उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास–

काल, कारक, लिंग तथा संख्या के भेद से शब्द भेद होने पर उनके भिन्न–भिनन अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्दनय[३७२] है। शब्दनय के अभिप्राय में अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनों के साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्तः देवदत्ता' इस लिंगभेद में प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न–भिन्न है। इसकी दृष्टि में भिन्नकालीन, भिन्नकारक निष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्द भेद से अर्थभेद होना ही चाहिए। शब्दनय उन वैयाकरणों के तरीके को अन्याय समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नहीं करते। उनके मत में कालकारकादि भेद होने पर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक,

---

371 ''ननु संव्यवहारलोपप्रसंग इति चेत्; न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः।'' –सवार्थसि. १।३३।

372 ''कालकारकलिंगदिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत।' –लघी. श्लो. ४४। अकलंकग्रन्थत्रयटि, पृ. १४६।

भिन्नसंख्याक ओर भिन्नकालीन शब्दों का वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दों की वाच्यभूत पर्यायें भिन्न–भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिए, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचार का यहाँ अर्थ है शब्दभेद होने पर अर्थभेद नहीं मानना, यानी एक ही अर्थ का विभिन्न शब्दों से अनुचित सम्बन्ध। अनुचित इसलिए कि हर शब्द की वाचकशक्ति जुदा–जुदा होती है; यदि पदार्थ में तदनुकूल वाक्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थों के परिणमन में साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्ति को कारक नहीं कहते; किन्तु शक्ति विशिष्ट द्रव्य को कारक कहते हें। लिंग चिह्न को कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादि की उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादि के ये लक्षण अनेकान्त अर्थ में ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्री के मिलने पर षट्कार की रूप से परिणति कर सकती है। कालादि के भेद से एक ही द्रव्य की नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तु में ऐसे परिणमन की सम्भावना नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्य में उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिक में स्थैर्य–ध्रौव्य नहीं। इस तरह कारकव्यवस्था न होने से विभिन्न कारकों में निष्पन्न षट्कार की, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदि की व्यवस्था एकान्तपक्ष में सम्भव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणों को शब्दशास्त्र की सिद्धि का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है और बताता है कि सिद्धि अनेकान्त से ही हो सकती है। जब तक वस्तु को अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्याय में विभिन्न लिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा अव्यभिचार दोश होगा। अतः उस एक पर्याय में भी शब्दभेद से अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद न मानना शब्द नयाभास है। उनके मत में उपसर्गभेद, अन्यपुरुष की जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमान क्रिया का एक कारक से सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरण की प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जाएँगी। इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्रव्याकारण का प्रारम्भ ''सिद्धिरनेकान्तात्'' सूत्र से और आचार्य हेमचन्द्र ने हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन प्रारम्भ ''सिद्धिः स्याद्वादात्'' सूत्र कि किया है। अतः अन्य वैयाकरणों का प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ और तदाभास–

एककालवाचक, एकलिंग तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय[३७३] उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों का भी अर्थभेद मानता है। इस नय के अभिप्राय से एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरसुन्दर इन तीन शब्दों में प्रवृत्ति निमित्त की भिन्नता होने से भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रिया की अपेक्षा से, इन्द्र शब्द इन्दन–ऐश्वर्यक्रिया की अपेक्षा से और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रिया की अपेक्षा से, प्रवृत्त हुआ है। अत: तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओं के वाचक हैं। शब्दनय में एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तों की विाीननता होने से पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद मानता हे। यह नय उन कोवाकारों को दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथिवी के अनेक नाम– पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये हैं, पर उस पदार्थ में उन पर्यायशब्दों की वाच्यशक्ति जुदा–जुदा स्वीकार नहीं की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्द के ग्यारह अर्थ नहीं हो सकत; उस शब्द में ग्यारह प्रकार की वाचकशक्ति मानना ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्ति से पृथिवी का वाचक है उसी शक्ति से गाय का भी वाचक हो; तो एकशक्तिक शब्द से वाच्य होने के कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जाएँगे। अत: शब्द में वाच्यभेद के हिसाब से अनेक वाचकशक्तियों की तरह पदार्थ में भी वाचक भेद की अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिए। प्रत्येक शब्द के व्युत्पत्ति निमित्त ओर प्रवृत्तिनिमित्त जुदे–जुदे होते हैं, उनके अनुसार वाच्यभूत अर्थ में पर्याय भेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिए। यदि एकरूप ही पदार्थ हो; तो उसमें विभिन्न क्रियाओं से निष्पन्न अनेक शब्दों का प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दों की अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थ भेद नहीं मानना समभिरूढनायभास है। जो मत पदार्थ को एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत और तदाभास–

---

373 'अभिरूढस्तु पर्यायै:' –लघी. श्लो. ४४। अकलंकग्रन्थत्रयटि., पृ. १४७।

एवम्भूतनय[३७४], पदार्थ जिस समय जिस क्रिया में परिणत हो उस समय उसी क्रिया से निष्पन्न शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, इन्दन–क्रिया के समय नहीं। जिस समय घटनक्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिए, अन्य समय में नहीं। समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्ति की अपेक्षा अन्य शब्दों का प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षण में ही कारक कहा जाय, अन्य क्षण में नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समय नहीं और पूजा करते समय उसे अन्य शब्द से भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढनय के द्वारा वर्तमान पर्याय में शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दों के प्रयोग की स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टि में नहीं है। यह तो क्रिया का धनी है। वर्तमान में शक्ति की अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकाल में अन्य शब्द का प्रयोग करना या उस शब्द का प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नय को व्यवहार की कोई चिन्ता नहीं है। हाँ, कभी–कभी इससे भी व्यवहार की अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। न्यायाधीश जब न्याय की कुरसी पर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य काल में भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अत: व्यवहार को जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक हो जाय। अत: व्यवहार को जो सर्वनसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है।

नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं–

इन नयों में[३७५] उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होने से सत् और असत् दोनों को विषय करता है, जबकि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नेगमनय भेद और अभेद दोनों को गौण–मुख्यभाव से विषय करता है, जबकि संग्रहनय की दृष्टि केवल अभेदपर है, अत: नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनय से सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक है। संग्रह के द्वारा संगृहीत अर्थ में व्यवहार भेद करता है, अत: वह अल्पविषयक हो ही जाता है। व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेष को विषय करता है, अत: वह अल्पविषयक हो ही जाता है। व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेष को विषय करता है, अत: वर्तमानकालीन पर्याय को ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेद की चिन्ता नहीं करनेवाले ऋजुसूत्रनय से वर्तमानकालीन एक पर्याय में भी

---

374 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत:।' –सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलंकग्रन्थत्रयटि., पृ. १४७।

375 'एवमेते नया: पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया:।' –तत्त्वार्थवा. १।३६।

शब्दभेद से अर्थभेद की चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दों में भेद होने पर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनय से पर्यायवाची शब्दों द्वारा पदार्थ में शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोग में क्रिया की चिन्ता नहीं करनेवाले समभिरूढ से क्रियाकाल में ही उस शब्द का प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतम और अल्पविषयक है।

अर्थनय, शब्दनय–

इन सात नयों में ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होने से अर्थनय[३७६] है। यद्यपि नैगमनय संकल्पग्राही होने से अर्थ की सीमा से बाहिर हो जाता था, पर नैगम का विषय भेद और अभेद दोनों को ही बानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र–शब्दशास्त्र की सीमा और भूमिका का वर्ण करते हैं, अतः ये शब्दनय हैं।

द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक विभाग–

नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायर्थिक हैं। प्रथम के तीन नयों की द्रव्य पर दृष्अि रहती है, जब कि शेष चार नयों का वर्तमानकालीन पर्याय पर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनय में भेद प्रधान है और भेद को भी कहीं–कहीं पर्याय कहा है; परन्तु व्यवहारनय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्य में कालिक पर्यायों का अन्तिम भेद नहीं करता, उसका क्षेत्र अनेकद्रव्य में भेद करने का मुख्यरूप से है। वह एकद्रव्य की पर्यायों में भेद करके भी अन्तिम एकलक्षणवर्ती पर्याय तक नहीं पहुँच पाता, अतः इसे शुद्ध पर्यायार्थिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्याय को और कभी द्रव्य को विषय करने के कारण उभयावलम्बी होने में द्रव्यार्थिक में ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होकर भी द्रव्य को विषय करता है, अतः वह भी द्रव्यार्थिक की ही सीमा में है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एक समयवर्ती पर्याय को समाने रखकर विचार चलाते हैं, अतः पर्यायार्थिक हैं। आ. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजुसूत्र को भी द्रव्यार्थिक मानते हैं।[३७७]

निश्चय और व्यवहार–

---

376 'चत्वारोऽर्थाश्रया: शेषास्त्रयं शब्दतः। –सिद्धिवि. लघी. श्लो. ७२।

377 विशेषा. गा. ७५, ७७, २२६२।

अध्यात्मशास्त्र में नयों के निश्चय व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ भी वहीं[३७८] बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवाद में पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूप में और शून्यवाद या विज्ञानवाद में परमार्थ और सांवृत दो रूप में या उपनिषदों में सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों में तत्त्व के वर्णन की पद्धति देखी जाती है उसी तरह जैन अध्यात्म में भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारों को अपनाया है। अन्तर इतना है कि जैन अध्यात्म का निश्चयनय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकड़ता है; वह अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता; जबकि वेदान्त या विज्ञानद्वैत का परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। बुद्ध की धर्मदेशना को परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूप[३७९] से घटाने का भी प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है। जिन पर्यायों में 'पर' निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह शुद्ध स्वकीय नहीं कहता। परजन्य पर्यायों को 'पर' मानता है। जैसे– जीव के रागादि भावों में यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही रागरूप से परिणति करता है, परन्तु चूँकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं, अत: इन्हें वह अपने आत्मा के निजरूप नहीं मानता। अन्य आत्माओं और जगत के समस्त अजीवों को तो वह अपना मान ही नहीं सकता, किन्तु जिन आत्मविकास के स्थानों में पर का थोड़ा भी निमित्तत्व होता है उन्हें वह 'पर' के खाते में ही खतया देता है। इसीलिए समयसार में जब आत्मा के वर्ण, रस, स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपों का निषेध किया है तो उसी झोंक में गुणस्थान आदि परनिमित्तक स्वधर्मों का भी निषेध कर दिया गया है।[३८०] दूसरे शब्दों में निश्चयनय अपने मूल लक्ष्य या आदर्श का खालिस वर्णन करना चाहता है, जिससे साधक को भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिए आत्मा का नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्मा का स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादि को भी उसी एक 'पर' कोटि में डाल दिया है। जिसमें पुद्‌गल आदि प्रकट परपदार्थ पड़े हुए हैं। व्यवहारनय परसाक्षेप पर्यायों को ग्रहण करनेवाला होता है। परद्रव्य तो स्वतन्त्र हैं, अत: उन्हें तो अपना कहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य है कि वह साधक को यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और

---

378 समयसार गा. ११।

379 'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थत:।।'
माध्यमिककारिका, आर्यसत्यपरीक्षा, श्लो. ८।

380 'णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।।५५ –समयसार।

चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीच के पड़ाव तुम्हारे साध्य नहीं हैं। तुम्हे तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्य दो टूक वर्णन किये बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधक को उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारों से उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन–धान्यादि पर अचेतन पदार्थों से नाता तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधक की भावना मात्र है, पर इसे आ. कुन्दकुन्द ने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहार को हेय मानते हैं, जिसमें अंशत: भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि ये सत्य स्थिति का अपलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं।[३८१] कि 'जीव के परिणामों को निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्याय को प्राप्त होते हैं और उन कर्मों के निमित्त से जीव में रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने–अपने परिणामों में उपादान होते हैं, पर वे परिणमन परस्पर हेतुक–अन्योन्यनिमित्तक हैं' उन्होंने ''अण्णोण्णणिमित्तेण'' पद से इसी भाव का समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्री से होता है।

इस तथ्य का वे अपलाप नहीं करके उसका विवेचन करते हैं और जगत के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक कर्तृत्व का खरा विश्लेषण करके कहते हैं[३८२] कि बताओ 'कुम्हार ने घड़ा बनाया' इसमें कुम्हार ने आखिर क्या किया? यह सही है कि कुम्हार को घड़ा बानाने की इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग– अर्थात् हाथ पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टी में ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हार की इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घट के अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थर में भी घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिए था। आखिर वह मिट्टी की उपादान योग्यता पर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकर बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हार के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के निमित्तमात्र से हम उपादान की निजयोग्यता की विभूति की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस निमित्त का अहंकार तो देखिए कि जिसमें रंचमात्र भी इसका अंश नहीं जाता, अर्थात् न तो कुम्हार का ज्ञान मिट्टी में धँसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर वह 'कुम्भकार' कहलाता है। कुम्भ के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टी से ही उत्पन्न होते हैं, उसका एक भी गुण कुम्हार ने उपजाया नहीं है। कुम्हार का एक भी गुण

---

381 'जीववरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ।।८०।।
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।८१।।' –समयसार।

382 'जीवी ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदिकत्ता।।१००।।' –समयसार।

मिट्टी में पहुँचा नहीं है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होने का दुरभिमान करता है।

राग, द्वेष आदि की स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकार की है; क्योंकि इसमें आत्मा स्वयं राग और द्वेष आदि पर्यायों रूप से परिणत होता है, फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते हैं कि बताओं तो सही— क्या शुद्ध आत्मा इनमें उपादान बनता है? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादि में उपादान बनने लगे; तो मुक्ति का क्या स्वरूप रह जाता है? अत: इनमें उपादान रागादिपर्याय से विशिष्ट आतमा ही बनता है, दूसरे शब्दों में रागादि से ही रागादि होते हैं। निश्चयनय जीव और कर्म के अनादि बन्धन से इनकार नहीं करता। पर उस बन्धन का विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं तो इनका संयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नहीं। केवल संयोग तो अनेक द्रव्यों से इस आत्मा का सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओं से इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूप में कोइ विकर नहीं होता। सिद्धिशिला पर विद्यमान सिद्धात्माओं के साथ वहाँ के पुद्गल परमाणुओं का संयोग है ही, पर इतने मात्र से उनमें बन्धन नहीं कहा जा सकता और न उस संयोग से सिद्धों में रागादि ही उत्पन्न होते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्त के रहने पर भी रागादि में उपादान नहीं होता और न पर निमित्त उसमें बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते हैं। हमें सोचना ऊपर की तरफ से है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते हैं, वह स्वरूप क्या रागादि में उपादान होता है? नीचे की ओर से नहीं सोचना है; क्योंकि अनादिकाल से तो अशुद्ध आत्मा रागादि में उपादान बन ही रहा है और उसमें रागादि की परम्परा बराबर चालू है।

अत: निश्चयनय को यह कहने के स्थान में कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ; यह कहना चाहिए कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्मा की इस शुद्ध आदर्श दशा का अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकाल से रागादिपंक में ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधार पर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूप की प्राप्ति की ओर लक्ष्य करने से। इस शक्ति का निश्चय भी द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मा में शुद्ध होने की शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत् का ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्य की ओर कल्पना

से नहीं, वस्तु के आधार से ध्यान दिलाता हे। उसी तत्त्व को आचार्य कुन्दकुन्द[३८३] बड़ी सुन्दरता से कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्ध की कथा सभी को श्रुत, परिचित ओर अनुभूत है, पर विभक्त–शुद्ध आत्मा के एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्मा का स्वरूप संसारी जीवों को केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुनने में ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इसने उसका अनुभव ही किया है। आ. कुन्दकुन्द (समयसार गा. ५) अपने आत्मविश्वास से भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धि का विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोड़ी कचाई का अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो छल नहीं मानना।'

द्रव्य का शुद्ध लक्षण–

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्य का स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्य की प्रत्येक पर्याय में व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी–न–किसी पर्याय को प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्याय में तो नहीं पाई जा सकती और इसलिए द्रव्य की कोई भी पर्याय द्रव्य से अभिन्न होकर भी द्रव्य का शुद्धरूप नहीं कही जा सकती। अब आप आत्मा के स्वरूप क्रमश: विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्गल के गुण हैं, वे पुद्गल की ही पर्यायें हैं और उनमें पुद्गल ही उपादान होता है, अत: वे आत्मा के स्वरूप नहीं हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारों में यद्यपि अपने परिणामीस्वभाव के कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगड़कर राग बनती है, उसी का सम्यक्त्व बिगड़कर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्मा के त्रिकालानुयायी शुद्धरूप नहीं हो सकते; क्योंकि वे निगोद आदि अवस्था में तथा सिद्ध अवस्था में नहीं पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी, उन–उन पर्यायों के नाम हैं जो कि त्रिकालानुयायी नहीं हैं, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओं में तथा सिद्ध अवस्था में नहीं रहती। इनमें परपदार्थ निमित्त पड़ता है। किसी–न–किसी पर कर्म का उपशम, क्षया या क्षयोपशम उसमें निमित्त होता ही है। केवली अवस्था में जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मों का उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है। योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशों में है ही। अत: परनिमित्तक होने से ये भी शुद्ध द्रव्य का स्वरूप नहीं कहे जा सकते। चौदहवें गुणस्थान को पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्य का ऐसा स्वरूप है जो प्रथमक्षणभावी सिद्ध अवस्था से लेकर आगे

---

[383] सुदपरिचिदाणुीूदा सव्वरसवि कामभोगंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स।। –समयसार गा. ४।

अनन्तकाल तक के समस्त भविष्य में अनुयायी है, उसमें कोई भी परनिमित्तक विकार नहीं आ सकता, किन्तु वह संसारी दशा में नहीं पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है और वह है– शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमें ज्ञायक रूप भी पदार्थों के जाननेरूप उपाधि की अपेक्षा रखता है।

त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है–

अतः केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत् में तो प्रकटरूप से व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीत की प्रत्येक पर्याय में, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमें निर्विवादरूप से पाया जाता है। 'चित्' रूप का अभाव कभी भी आत्मद्रव्य में न रहा है, न है और न होगा। वही अंश द्रवणशील होने से द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्य से व्यावर्तक होने के कारण लक्ष्यव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नहीं की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्व की संसारी निगोद आदि अवस्थाओं में नहीं पाई जाती, अतः वह शुद्धद्रव्य का लक्षण नहीं हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्याय को लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्याय में पहली बार विकसति हुआ है और चूँकि उस अवस्था से लेकर आगे की अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओं में कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमन की सम्भावना नहीं है, अतः वह 'चित्' अंश ही द्रव्य का यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमें नहीं लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित् का विभाग कर देते हैं। इसलिए कहा[३८४] है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्था में ही होता है। इसीलिए आत्मा के विकारी रागादिभावों की तरह कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होनेवाले भावों को भी अनादि–अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यव्यापी न होने से आत्मा का स्वरूप या लक्षण नहीं माना गया और उन्हें भी वर्णादि की तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक रागादि विकारी भावों को 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होने से 'पुद्गल की पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि– ये सब बीच की मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञान के कारण उन–उन पर्यायों को धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नहीं हैं। आत्मा के इस

---

384 ''ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दुजो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।।६।।'' –समयसार।

त्रिकालव्यापी स्वरूप को आचार्य ने इसीलिए अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणों से व्यक्त किया है।[३८५] यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकाल से अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखण्ड 'चित्' को हम न निगोदरूप में, न नारकादि पर्यायों में, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावों में और न अयोगकेवली अवस्था में ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्था में। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकाल से अपने परिणामी स्वभाव के कारण विकारी परिणमन में पड़ी हुई है। यदि विकार का कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वहीं निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनय से उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्था में या गुणस्थानों की शुद्धाशुद्ध अवस्थाओं में दर्शन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमें उस महाव्यापक मूलद्रव्य पर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्मा के यानी शुद्ध आत्मा के नहीं हैं, ये तो विनाशी हैं, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही हैं।'

समयसार का शुद्धनय इसी मूलतत्त्व पर दृष्टि रखता है। वह वस्तु के परिणमन का निषेध नहीं करता और न उस चित् के रागादि पर्यायों में रुलने का प्रतिषेधक ही है; किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट–कालिमा आदि से विकृत बने हुए इस सोने में भी उस १०० टंच के सोने की शक्तिरूप से विद्यमान आभार पर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हें इस किट्ट–कालिमा आदि में जो पूर्ण सुवर्णत्व की बुद्धि हो रही है, वह अपने–आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूप पर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न नहीं किया जा सकता। वे अबद्ध और अस्पृष्ट या असंयुक्त विशेषण से यही दिखाना चाहते हैं कि आत्मा की बद्ध, स्पष्ट और संयुक्त अवस्थाएँ बीच की हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नहीं हैं।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप से विभाजन या उसका विशेषरूप से कथन करना भी एक प्रकार का व्यवहार है, वह केवल समझने–समझाने के लिए है।[३८६] आप ज्ञान को या दर्शन को या चारित्र को भी शुद्ध आत्मा का असाधारण लक्षण नहीं कह

---

385 ''जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठे अणण्णयं णियदं।
अयिसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।१४।।'' –समयसार।

386 'ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।।
ण वि णाणं च चरित्तं ण दंसणं जाणगो शुद्धो।।७।।' –समयसार।

सकते; क्योंकि ये सब उस 'चित्' के अंश हैं और उस अखण्ड तत्त्व को खण्ड–खण्ड करनेवाले विशेष हैं। वह 'चित्' तो इन विशेषों से परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है। आचार्य आत्मविश्वास से कहते हैं कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासन को जान लिया।'

निश्चय का वर्णन असाधारण लक्षण का कथन है–

दर्शनशास्त्र में आत्मभूत लक्षण उस असाधारण धर्म को कहते हैं जो समस्त लक्ष्यों में व्याप्त हो तथा अलक्ष्य में बिलकुल न पाया जाय। जो लक्षण लक्ष्य में नहीं पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य के एक देश में रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है। आत्मद्रव्य का आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनों दोषों का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते हैं तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकड़ में नहीं आता। वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गल के धर्म हैं, अत: वर्णादि तो जीव में असम्भव हैं। रागादि विभावपर्यायें तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायें, जिनमें आत्मा स्वयं उपादान होता है, समस्त आत्माओं में व्यापक नहीं होने से अव्याप्त हें। अत: केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है, जो पुद्गलादि लक्ष्यों में नहीं पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओं में अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है। इसलिए 'चित्' ही आत्म द्रव्य का स्वरूपभूत लक्षण हो सकती है।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओं को प्राप्त होती है, पर निश्चय से वे पर्यायें आत्मा का व्यापक लक्षण नहीं बन सकतीं। इसी व्याप्यव्यापकभाव को लक्ष्य में रखकर अनेक अशुद्ध अवस्थाओं में भी शुद्ध आत्मद्रव्य की पहिचान कराने के लिए आचार्य ने शुद्ध नय का अवलम्बन किया है। इसीलिए 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूप से विभाग भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित् को ही आत्मद्रव्य के स्थान में रखते हैं। आचार्य ने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वणादि और रागादि लक्षणाभास हैं, उनका परभाव कहकर निषेध कर दिया है। इसी दृष्टि निश्चयनय को परमार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में रागादि है ही नहीं, किन्तु जिस त्रिकालव्यापी द्रव्यरूप चित् को हम लक्षण बना रहे हैं उसमें इन्हें शामिल नहीं किया जा सकता।

वर्णादि और रागादि को व्यवहारनय का विषय कहकर एक ही झोंक में निषेध कर देने से यह भ्रम सहज में ही हो सकता है कि

'जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गल के धर्म हैं उसी तरह रागादि भी पुद्गल के ही धर्म होंगे और पुद्गल निमित्तक होने से इन्हें पुद्गल की पर्याय कहा भी है।' इस भ्रम के निवारण के लिए निश्चयनय के दो भेद भी शास्त्रों में देखे जाते हैं[३८७]– एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्ध निश्चयनय। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में 'शुद्ध चित्' ही जीव का स्वरूप है। अशुद्ध निश्चयनय आत्मा के अशुद्ध रागादिभावों को भी जीव के ही कहता है, पुद्गल नहीं। व्यवहारनय सद्भूत और असद्भूत दोनों में उपचरित और अनुपचरित अनेक प्रकार से प्रवृत्ति करता है। समयसार के टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में वर्णादि और रागादि को व्यवहार और अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से ही विचारने का संकेत किया है।[३८८]

पंचाध्यायी का नय विभाग–

पंचाध्यायीकार अभेदग्राही को द्रव्यार्थिक और निश्चयनय कहते हैं तथा किसी भी प्रकार के भेद को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं। इनके मत से [३८९]निश्चयनय के शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है। ये वस्तु के सद्भूत भेद को व्यवहारनय का ही विषय मानते हैं अखण्ड वस्तु में किसी भी प्रकार का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की दृष्टि से होनवाला भेदपर्यायर्थिक या व्यवहानय का विषय होता है। इनकी दृष्टि में समयसारगत परनिमित्तक– व्यवहारही नहीं; किन्तु स्वगत भेद भी व्यवहारनय की सीमा में ही होता है। [३९०]व्यवहारनय के दो भेद हैं– एक सद्भूत व्यवहारनय और दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। वस्तु में अपने गुणों की दृष्टि से भेद करना सद्भूत व्यवहार है। अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार हे। जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गलकर्मद्रव्य के संयोग से होनेवाले क्रोधादि मूर्तभावों को जीव के कहना। यहाँ क्रोधादि में जो पुद्गलद्रव्य के मूर्तत्व का आरोप किया गया है– यह असद्भूत है और गुण–गुणी का जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनों ही उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो–दो प्रकार के होते हैं। 'ज्ञान जीव का है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय हैं तथा

---

387 देखी– द्रव्यसंग्रह गा. ४।

388 'अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षया आभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धिनिश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव इति व्याख्यानं निश्चय व्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्।' –समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. ७३।

389 पंचाध्यायी १।६५९–६१।

390 पंचाध्यायी १।५२५ से।

'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है ओर वही जीव का गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञान में अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण–गुणी का भेद व्यवहार है।

अनगारधर्मामृत (अध्याय १ श्लो. १०४) आदि में जो 'केवलज्ञान जीव का है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार तथा 'मतिज्ञान जीव का है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहार का उदाहरण दिया; उसमें यह दृष्टि है कि शुद्ध गुण का कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध गुण का कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक' होनेवाले क्रोधादि भावों को जीव का कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदय में आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभव में आनेवाले क्रोधादिभावों को जीव के कहता है। पहले में वैभाविकी शक्ति का आत्मा से अभेद माना है। अनगारधर्मामृत में 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार का तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का उदाहरण माना गया है।

पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्य के गुण का दूसरे द्रव्य में आरोप करना नयाभास मानते हैं। जैसे– वर्णादि को जीव के कहना, शरीर को जीव का कहना, मूर्त कर्मद्रव्यों का कर्त्ता और भोक्ता जीव को मानना, धन, धान्य, स्त्री आदि का भोक्ता और कर्त्ता जीव को मानना, ज्ञान और ज्ञेय में बोध्यबोधक सम्बन्ध होने से ज्ञान को ज्ञेयगत मानना आदि, ये सब नयाभास हैं।

समयसार में तो एक शुद्धद्रव्य को निश्चयनय का विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभी को व्यवहार के गड्ढे में डालकर उन्हें हेय और अभूतार्थ कहा हैं एक बात ध्यान में रखने की है कि नैगमादिनयों का विवेचन वस्तुस्वरूप की मीमांसा करने की दृष्टि से है जब कि समयसारगत नयों का वर्णन अध्यात्मभावना को परिपुष्ट कर हेय और उपादेय के विचार से मोक्षमार्ग में लगाने लक्ष्य से है।

१०. स्याद्वाद और सप्तभंगी–

स्याद्वाद–

स्याद्वाद की उद्भूति–

जैन दर्शन ने सामान्यरूप से यावत् सत् को परिणामी–नित्य माना है। प्रत्येक सत अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनों के अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूरे रूप को स्पर्श कर सकता हो। 'सत्' शब्द भी वस्तु के एक 'अस्तित्व' धर्म को कहता है,

शेष नास्तित्व आदि धर्मों को नहीं वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी उसका समझने—समझाने का प्रयत्न प्रत्येक मानव ने किया ही है और आगे भी उसे काना ही होगा। तब उस विराट् को जानने और दूसरों को समझाने में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है। हमारे जानने का तरीका ऐसा हो, जिससे हम उन अनन्तधर्मा अखण्ड वस्तु के अधिक—से अधिक समीप पहुँच सकें, उसका विपर्यास तो हरगित न करें। दूसरों को समझाने की— शब्द प्रयोग की प्रणाली भी ऐसी ही हो, जो उस तत्त्व का सही—सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्वरूप की ओर संकेत कर सके, भ्रम तो उत्पन्न करे ही नहीं। इन दोनों आवश्यकताओं ने अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद को जन्म दिया है।

अनेकान्तदृष्टि या नयदृष्टि विराट् वस्तु को जानने का वह प्रकार है, जिसमें विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह हर हालत में पूरी वस्तु का मुख्य—गौणभाव से स्पर्श हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी नहीं छूट पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है वह उस समय मुख्यया अर्पित बन जाता है और शेष धर्म गौण या अनर्पित रह जाते हैं। इस तरह जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्ततत्त्व का स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझाने का ढंग भी निराला ही हो जाता है। वह सोचता है कि हमें उस शैली से वचनप्रयोग करना चाहिए, जिससे वस्तुतत्त्व का यथार्थ प्रतिपादन हो। इस शैली या भाषा के निर्दोष प्रकार की आवश्यकता ने 'स्याद्वाद' का अविष्कार किया है।

'स्याद्वाद' भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जो वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। इसमें लगा हुआ 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के सापेक्ष होने की सूचना देता है। 'स्यात् अस्ति' वाक्य में 'अस्ति' पद वस्तु के अस्तित्व धर्म का मुख्यरूप से प्रतिपादन करता है तो 'स्यात्' शब्द उसमें रहनेवाले नास्तित्व आदि शेष अनन्तधर्मों का सद्भाव बताता है।' मनुष्य अहंकार का पुतला है। अहंकार की सहस्र नहीं, असंख्य जिह्वाएँ है। यह विषधर थोड़ी भी असावधानी होने पर डस लेता है। अत: जिस प्रकार दृष्टि में अहंकार का विष न आने देने के लिए 'अनेकान्तदृष्टि' संजीवनी का रहना आवश्यक है उसी तरह भाषा में अवधारण या अहंकार का विष निर्मूल करने के लिए 'स्याद्वाद' अमृत अपेक्षणीय होता है। अनेकान्तवाद स्याद्वाद का इस अर्थ में पर्यायवाची है कि ऐसा वाद—कथन अनेकान्तवाद कहलाता है। जिसमें वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य—गौणभाव से होता है। यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं फिर भी 'स्याद्वाद' ही निर्दुष्ट भाषाशैली का प्रतीत बन गया है। इस अनेकान्तवाद के बिना

लोकव्यवहार नहीं चल सकता। पग–पग पर इसके बिना विसंवाद की सम्भावना है। अतः इस त्रिभुवन के एक गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने ठीक ही लिखा है–

> ''जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वइए।
> तस्स भुवणेकगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स।।'' –सन्मति. ३।६८।

स्याद्वाद की व्युत्पत्ति–

'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो पदों से बना है। वाद का अर्थ है कथन या प्रतिपादन। 'स्यात्' विधिलिंग में बना हुआ तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। वह अपने में एक महान् उद्देश्य और वाचक शक्तियों को छिपाये हुए है। स्यात् के विधिलिङ् में विधि, विचार आदि अनेक अर्थ होते हैं। उसमें 'अनेकान्त' अर्थ यहाँ विवक्षित है। हिन्दी में यह 'शायद' अर्थ प्रचलित–सा हो गया है, परन्तु हमें उसकी उस निर्दोष परम्परा का अनुगमन करना चाहिए जिसके कारण यह शब्द 'सत्यलांछन' अर्थात् सत्य का चिह्न या प्रतीक बना है। 'स्यात्' शब्द 'कथंचित्' के अर्थ में विशेषरूप से उपयुक्त बैठता है। 'कथंचित्' अर्थात् 'अमुक निश्चित अपेक्षा से' वस्तु अमुक धर्मवाली है। न तो यह 'शायद', 'सम्भावना' और न 'कदाचित्' का प्रतिपादक है, किन्तु 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' का वाचक है। शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणाात्मक होता है, इसलिए अन्य के प्रतिषेध करने में वह निरंकुश रहता है। इस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घटः' वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह 'रूपवान्' ही है' यह अवधारण करके घड़े में रहनेवाले रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे, यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर 'अपने ही स्वार्थ' को सब कुछ मानकर शेष का निषेध करता है, तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचनपद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य–गौणभाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त–सामान्य का वाचक होता है फिर भी 'अस्ति' आदि विशेष धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए 'अस्ति' आदि तत्तत धर्मवाचक शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का। वह उस समय अस्ति से भिन्न अन्य

शेष धर्मों का प्रतिनिधित्व करता है। जब 'स्यात्' अनेकान्त का द्योतन करता है तब 'अस्ति' आदि पदों के प्रयोग से जिन अस्तित्व आदि धर्मों का प्रतिपादन किया जा रहा है। वह 'अनेकान्त रूप है' यह द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है। यदि यह पद न हो, तो 'सर्वथा अस्तित्व' रूप एकान्त की शंका हो जाती है। यद्यपि स्यात् और कथंचित् का अनेकात्मक अर्थ इन शब्दों के प्रयोग न करने पर भी कुशल वक्ता समझ लेता है, परन्तु वक्ता को यदि अनेकानत वस्तु का दर्शन नहीं है, तो वह एकान्त में भटक सकता है। अतः उसे वस्तुतत्त्व पर आने के लिए आलोकस्तम्भ के समान इस 'स्यात्' ज्योति की नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद विशिष्ट भाषापद्धति—

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूप से बताता है कि 'वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान हैं' उसमें अविवक्षित गुणधर्मों के अस्तित्व की रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' में 'स्यात्' शब्द रूपवान् के साथ नहीं जुटता; क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह 'रूपवान्' को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है कि 'घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं रूप भी उसमें से एक है।' यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रस की विवक्षा होने पर वह गौणराशि में शामिल हो जायगा और रस प्रधान बन जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौण—मुख्यभाव से अनेकानत अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

मैंने पहले बताया है, कि 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है। जो उच्चरित धर्म को इधर—उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो लोग स्यात् का रूपवान् के साथ अन्वय करके और उसका 'शायद, सम्भावना और कदाचित्' अर्थ करके घड़े में रूप की स्थिति को भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म, जिसे शब्द से उच्चारित होने के कारण प्रमुखता मिली है, पूरी

वस्तु को ही न हड़प जाय और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिए यह प्रतिवाक्य में चेतावनी देता रहता है कि 'हे भाई अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयों कें हक को हड़पने की कुचेष्टा नहीं करना।' इस भय का कारण है कि प्राचीन काल से 'नित्य ही है', 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृति के अंशवाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक तरह से वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद–प्रतिवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसाज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है, जिससे अहंकार का सृजन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षा से जहाँ अस्तित्व धर्म की स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बताना है वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्ति को भी नष्ट करता है, जिससे वह पूरी वस्तु का मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीश की तरह तुरन्त कह देता है कि 'हे असित, तुम अपनी अधिकार–सीमा को समझो। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से जिस प्रकार तुम घट में रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादि की अपेक्षा 'नास्ति' नाम का तुम्हारा सगा भाई भी उसी घट में रहता है। घट का परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुम से कार्य है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी मुख्यता, तुम्हारी विवक्षा है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'तुम अपने समानाधिकारी भाइयों के सद्भाव का ही उखाड़ कर फेंकने का दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है यदि पर की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो; तो जिस घड़े में तुम रहते हो वह घड़ा 'घड़ा' ही न रह जायगा, किन्तु कपड़ा आदि परपदार्थ रूप हो जायगा। अतः तुम्हें अपनी स्थिति के लिए भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मों की वास्तविक स्थिति को समझों। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयों के साथ हिलमिल कर अनन्तधर्मा वस्तु में रहते ही हो,सब धर्म–भाई अपने–अपने स्वरूप को सापेक्षभाव से वस्तु में रखे हो, पर इन फूट डालनेवाले वस्तुद्रष्टाओं को क्या कहा जाय? ये अपनी एकांगी दृष्टि से तुम में फूट डालना चाहते हैं और चाहते हैं कि तुममें भी अहंकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपस में भेदभाव एवं हिंसा की सृष्टि हो।' बस, 'स्यात्' शब्द एक ऐसी अञ्जनशलाका है जो उनकी दृष्टि को विकृत नहीं होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाती है। इस अविवक्षित संरक्षक, दृष्टिविषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्य के प्रतीक, जीवन्त

न्यायरूप, शब्द को सुधामय करनेवाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्द के स्वरूप के साथ हमारे दार्शनिकों ने न्याय तो किया ही नहीं, किन्तु उसके स्वरूप का 'शायद, सम्भव ओर कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायों से विकृत करने का अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है और आजतक किया जा रहा है।

विरोध—परिहार—

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घड़ा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है? घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है? यह तो प्रत्यक्ष—विरोध है।' पर विचार तो करो— घड़ा आखिर 'घड़ा' ही तो है, कपड़ा तो नहीं है, कुरसी तो नहीं है, टेबिल तो नहीं है। तात्पर्य यह कि वह घट से भिन्न अनन्त पदार्थोंरूप नहीं है, तो यह कहने में आपको क्यों संकोच होता है। कि 'घड़ा अपने स्वरूप से अस्ति है और स्वभिनन पररूपों से नासित है।' इस घड़े में अनन्त पररूप की अपेक्षा 'नास्तित्व' है, अन्यथा दुनिया में कोई शक्ति ऐसी नहीं; जो घड़े को कपड़ा आदि बनने से रोक सकती। यह नास्तित्व धर्म ही घड़े को घड़े के रूप में कायम रखता है। इसी नास्ति धर्म की सूचना 'अस्ति' के प्रयोग काल में 'स्यात्' शब्द देता है। इसी तरह 'घड़ा समग्र भाव से एक होकर भी अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा, बड़ा, हल्का, भारी आदि अनन्त गुण और धर्मों की दृष्टि से अनेक रूपों में दिखाई देता है या नहीं?' यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूप में दिखाई देता है तो आपको यह मानने और कहने में क्यों कष्ट होता है कि 'घड़ा द्रव्यरूप से एक होकर भी अपने गुणधर्म और शक्ति आदि की दृष्टि से अनेक है।' जब प्रत्यक्ष से वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मों का अविरोधी क्रीड़ास्थल है, तब हमें क्यों संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिए? हमें उसके स्वरूप को विकृतरूप में देखने की दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। हम उस महान् 'स्यात्' शब्द को, जो वस्तु के इस पूर्ण रूप की झाँकी सापेक्षभाव से बताता है, विरोध, संशय जैसी गालियों से दुरदुराते हैं। किमाश्चर्यमत: परम्। यहाँ धर्मकीर्ति का यह श्लोकांश ध्यान में आ जाता है—

''यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्। —प्रमाणवा. २।२१०।

अर्थात् यदि यह चित्ररूपता— अनेकधर्मता वस्तु को स्वयं रुच रही है, उसके बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, तो हम बीच में काजी बननेवाले कौन? जगत् का एक—एक कण इस अनन्तधर्मता का आकार है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टि को ही निर्मल और विशाल

बनाने की आवश्यकता है। वस्तु में विरोध नहीं है। विरोध तो हमारी दृष्टियों में है और इस दृष्टि विरोध–ज्वर की अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगी को तत्काल कटु तो अवश्य लगती है, पर इसके बिना यह दृष्टि–विषमज्वर उतर भी नहीं सकता।

वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता–

'वस्तु अनेकान्तरूप है' यह बात थोड़ा गम्भीर विचार करते ही अनुभव में आ जाती है और यह भी प्रतिभासित होने लगता है कि हमारे क्षुद्र ज्ञान ने कितनी उछल–कूद मचा रखी है तथा वस्तु के विराट् स्वरूप के साथ खिलवाड़ कर रखी है। पदार्थ भावरूप भी है और अभावरूप भी है। यदि सर्वथा भावरूप माना जाय, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का लोप हो जाने से पर्यायें भी अनादि, अनन्त और सर्वसंकररूप हो जाएँगी तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्था को ही समाप्त कर देगा।

प्रागभाव–

कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले 'असत' होता है। वह कारणों से उत्पन्न होता है। कार्य का उत्पत्ति के पहले न होगा ही प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव भावान्तररूप होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य तो विश्व में अनादि–अनन्त गिने गिनाये हैं। उनकी संख्या न तो कम होती है और न अधिकं उत्पाद होता है पर्याय कां द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और पर्यायरूप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रही है वह उत्पत्ति के पहले पर्यायरूप में तो नहीं है अतः उसका जो यह अभाव है वही प्रागभाव है। यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् 'घड़ा' पर्याय जबतक उत्पन्न नहीं हुई, तब तक वह 'असत्' है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होनेवाली है उस, द्रव्य की घट से पहले की पर्याय बनती है, अतः वह पर्याय घट–प्रागभाव है। इस तरह अत्यन्त सूक्ष्म काल की दृष्टि से पूर्वपर्याय ही उत्तर–पर्याय का प्रागभाव है, और सन्तति की दृष्टि से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है। पूर्वपर्याय का प्रागभाव तत्पूर्व पर्याय है तथा तत्पूर्वपर्याय का प्रागभाव उससे भी पूर्व की पर्याय होगा, इस तरह सन्तति की दृष्टि से यह अनादि हो जायगी और द्रव्य में त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों का एक काल में प्रकट सत्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है।

प्रध्वंसाभाव–

द्रव्य का विनाश नहीं होता, विनाश होता है पर्याय का। अतः कारणपर्याय का नाश कार्यपर्यायरूप होता है, कारण नष्ट होकर कार्य बन जाता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तरपर्यायरूप होता है। घड़ा पर्याय नष्ट होकर कपाल पर्याय बनती है, अतः घटविनाश कपाल (खपरियाँ) रूप ही फलित होता है। तात्पर्य यह कि पूर्व का नाश उत्तररूप होता है। यदि यह प्रध्वंसाभाव न माना जाय तो सभी पर्यायें अनन्त हो जाएँगी, यानी वर्तमान क्षण में अनादिकाल से अब तक हुई सभी पर्यायों का सद्भाव अनुभव में आना चाहिए, जो कि असम्भव है। वर्तमान में तो एक ही पर्याय अनुभव में आती है। यह शंका भी नहीं हो सकती कि 'घटविनाश यदि कपालरूप है तो कपाल का विनाश होने पर, यानी घटविनाश का नाश होने पर फिर घड़े को पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिए, क्योंकि विनाश का विनाश तो सद्भावरूप होता है'; क्योंकि कारण का उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है पर कार्य का उपमर्दन करके कारण नहीं। उपादान का उपमर्दन करके उपादेय की उतपत्ति ही सर्वजनसिद्ध है। प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वंसाभाव (उत्तर पर्याय) में उपादान—उपादेयभाव है। प्रागभाव का नाश करके प्रध्वंश उत्पन्न होता है, पर प्रध्वंस का नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। जो नष्ट हुआ, वह नष्ट हुआ। नाश अनन्त है। जो पर्याय गयी वह अनन्तकाल के लिए गयी, वह फिर वापिस नहीं आ सकती। 'यदतीतमतीतमेव तत्' यह ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नहीं होगी, सभी पर्यायें अनन्त हो जाएँगी, अतः प्रध्वंसाभाव प्रतिनियत पदार्थ—व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है।

इतरेतराभाव—

एक पर्याय का दूसरी पर्याय में जो अभाव है वह इतरेतराभाव है। स्वभावान्तर से स्वस्वभाव की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ के अपने—अपने स्वभाव निश्चित हैं। एक स्वभाव दूसरे रूप नही होता। यह जो स्वभावों की प्रतिनियतता है वही इतरेतराभाव फलित होता है, जैसे घट का पट में वर्तमानकालिक अभाव। कालान्तर में घट के परमाणु मिट्टी; कपास और तन्तु बनकर पटपर्याय को धारण कर सकते हैं, पर वर्तमान में तो घट पट नहीं हो सकता है। यह जो वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति है वह अन्योन्याभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से अन्योन्याभाव का कार्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि जिसके अभाव में नियम से अन्योन्याभाव का कार्य नहीं चलाया जा सकता; क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति हो वह प्रागभाव और जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश हो वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, पर इतरेतराभाव के अभाव या भाव से कार्योत्पत्ति या विनाश का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो वर्तमान पर्यायों

के प्रतिनियत स्वरूप की व्यवस्था करता है कि वे एक दूसरे रूप नहीं हैं। यदि यह इतरेतराभाव महीं माना जाता; तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जायगी, यानी सब सर्वात्मक हो जाएँगे।

अत्यन्तभाव–

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। ज्ञान का आत्मा में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल में नहीं हो सकता, यह अत्यन्ताभाव कहलाता है। इतरेतराभाव वर्तमानकालीन होता है और एक स्वभाव की दूसरे से व्यावृत्ति कराना ही उसका लक्ष्य होता है। यदि अत्यन्ताभाव का लोप कर दिया जाये तो किसी भी द्रव्य का कोइ असाधारण स्वरूप नहीं रह जायगा। सब द्रव्य सब रूप हो जाएँगे। अत्यन्ताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो पाता। द्रव्य चाहे सजातीय हों, या विजातीय, उनका अपना प्रतिनियत अखण्ड स्वरूप होता है। एक द्रव्य दूसरे में कभी भी ऐसा विलीन नहीं होता, जिससे उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय। इस तरह ये चार अभाव, जो कि प्रकारान्तर से भावरूप ही है, वस्तु के धर्म हैं। इनका लोप होने पर, यानी पदार्थों को सर्वथा भावात्मक मानने पर उक्त दूषण आते हैं अत: अभावांश भी वस्तु का उसी तरह धर्म है जिस प्रकार कि भावांश। अत: वस्तु भावाभावात्मक है।

यदि वस्तु अभावात्मक ही मानी जाय, यानी सर्वथा शून्य हो; तो, बोध और वाक्य का भी अभाव होने से 'अभावात्मक तत्त्व' की स्वयं कैसे प्रतीति होगी? तथा पर को कैसे समझाया जायगा? स्वप्रतिपत्ति का साधन है बोध तथा परप्रतिपत्ति का उपाय है वाक्य। इन दोनों के अभाव में स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा? इस तरह विचार करने से लोक का प्रत्येक पदार्थ भावात्मक प्रतीत होता है। सीधी बाता है– कोई भी पदार्थ अपने निजरूप में ही होगा, पररूप में नहीं। उसका इसप्रकार स्वरूपमय होना ही पदार्थमात्र की अनेकान्तात्मकता को सिद्ध कर देता है। यहाँ तक तो पदार्थ की सामान्य स्थिति का विचार हुआ। अब हम प्रत्येक द्रव्य को लेकर भी विचार करें तो हर द्रव्य सदसदात्मक ही अनुभव में आता है।

सदसदात्मक तत्त्व–

प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है, उसका निजी क्षेत्र, काल और भाव होता है, जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म विचार करने पर क्षेत्र, काल और भाव अन्तत: द्रव्य की

असाधारण स्थिति रूप ही फलित होते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का चतुष्टय स्वरूपचतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टय से सत् होता है और पररूपचतुष्टय से असत्। यदि स्वरूप चतुष्टय की तरह पररूपचतुष्टय से भी सत् मान लिया जाय; तो स्व और पर में कोई भेद नहीं रहकर सबको सर्वात्मकता का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पररूप की तरह स्वरूप से भी असत् हो जाय; तो नि:स्वरूप होने से अभावात्मकता का प्रसंग होता है। अत: लोक की प्रतीतिसिद्ध व्यवस्था के लिए प्रत्येक पदार्थ को स्वरूप से सत् और पररूप से असत् मानना ही चाहिए। द्रव्य एक इकाई है, अखण्ड मौलिक हैं पुद्‌गल द्रव्यों में ही परमाणुओं के परस्पर संयोग से छोटे–बड़े अनेक स्कन्ध तैयार होते हैं। ये स्कन्ध संयुक्तपर्याय हैं। अनेक द्रव्यों के संयोग से ही घट, पट आदि स्थूल पदार्थों की सृष्टि होती है। ये संयुक्त स्थूल पर्यायें भी अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने असाधारण निज धर्म की दृष्टि से 'सत्' है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की दृष्टि से असत् हैं इसतरह कोई भी पदार्थ इस सदसदात्मकता का अपवाद नहीं हो सकता।

एकानेकात्मक तत्त्व–

हम पहले लिख चुके हैं कि दो द्रव्य व्यवहार के लिए ही एक कहे जा सकते हैं। वस्तुत: दो पृथक् स्वतन्त्रसिद्ध द्रव्य एकसत्ताक नहीं हो सकते। पुद्‌गल द्रव्य के अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनका एकसा रासायनिक मिश्रण होताह ै, जिससे ये अमुक काल तक एकसत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमें प्रत्येक द्रव्य का विचार करते समय द्रव्यदृष्टि से उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायों की दृष्टि से अनेक अनुभव में आ जाता है। द्रव्य अपनी गुण और पर्यायों से, संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भिन्न होकर भी चूँकि द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की सत्ता नहीं पाई जाती, या प्रयत्न करने पर भी हम द्रव्य से गुणपर्यायों का विवेचन–पृथक्करण नहीं कर सकते, अत: वे अभिन्न हैं। सत् सामान्य की दृष्टि से समस्त द्रव्यों को एक कहा जा सकता है। और अपने–अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से पृथक् अर्थात् अनेक। इस तरह समग्र विश्व अनेक होकर भी व्यवहारार्थ संग्रहनय की दृष्टि से एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों की दृष्टि से अनेकात्मक है। एक ही आत्मा हर्ष–विषाद, सुख–दु:ख, ज्ञान आदि अनेक रूपों से अनुभव में आता है। द्रव्य का लक्षण अन्वयरूप है, जब कि पर्याय व्यतिरेकरूप होती है। द्रव्य की संख्या एक है और पर्यायों की अनेक। द्रव्य का प्रयोजन अन्वयज्ञान है और पर्याय का प्रयोजन है व्यतिरेक ज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि अनन्त होता है। इस तरह एक होकर भी द्रव्य की अनेकरूपता

जब प्रतीतिसिद्ध है तब उसमें विरोध, संशय आदि दूषणों का कोई अवकाश नहीं है।

नित्यानित्यात्मक तत्त्व–

यदि द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमें किसी भी प्रकार के परिणमन की सम्भावना नहीं होने से कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रियाशून्य होने से पुण्य–पाप, बन्ध–मोक्ष, लेनदेन आदि की समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाएँगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थ नित्य रहता है तो जग के प्रतिक्षण के परिवर्तन असम्भव हो जाएँगे और यदि पदार्थ को सर्वथा विनाशी माना जाता हैं तो पूर्वपर्याय का उत्तपर्याय के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होने के कारण लेन–देन, बन्ध–मोक्ष, स्मरण, प्रत्यभिाान आदि व्यवहार उच्छिन्न हो जाएँगे। जो करता है उसके भोगने का क्रम ही नहीं रहेगा। नित्य पक्ष में कर्त्तृत्व नहीं बनता, तो अनित्य पक्ष में करनेवाला एक और भोगनेवाला दूसरा होता है। उपादान–उपादेयभावमूलक कार्यकारणभाव भी इस पक्ष में नहीं बन सकता। अत: समस्त लोक–परलोक तथा कार्यकारणभाव आदि की सुव्यवस्था के लिए पदार्थों में परिवर्तन के साथ–ही साथ उसकी मौलिकता और अनादिअनन्तरूप द्रव्यत्व आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना ही चाहिए।

इसके माने बिना द्रव्य का मौलिकत्व सुरक्षित नहीं रह सकता। अत: प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि अनन्त धारा में प्रतिक्षण सदृश, विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश आदि अनेकरूप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद या विनाश नहीं होता। आत्मा को मोक्ष हो जाने पर भी उसकी समाप्ति नहीं होती, किन्तु वह अपने शुद्धतम स्वरूप में स्थिर हो जाता है। उस समय उसमें वैभाविक परिणमन सदा होता है रहता है। कभी भी यह परिणमनचक्र रुकता नहीं है और न कभी कोई भी द्रव्य समाप्त ही हो सकता है। अत: प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

यद्यपि हम स्वयं अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं में बदल रहे हैं, फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तित्व तो है ही, जो इन सब परिवर्तनों में हमारी एकरूपता रखता है। वस्तुस्थिति जब इस तरह परिणामी–नित्य की है, तब यह शंका कि 'जो नित्य है वह अनित्य कैसा?' निर्मूल है; क्योंकि परिवर्तनों के आधारभूत पदार्थ की सन्तान परम्परा उसके अनाद्यनन्त सत्त्व के बिना बन ही नहीं सकती। यही उसकी नित्यता है जो अनन्त परिवर्तनों के बावजूद भी वह समाप्त नहीं होता और अपने अतीत के संस्कारों ————————— वर्तमान तक आता है और अपने भविष्य के एक–एक क्षण को —————————

अतीत के गह्वर में ढकेलता जता है, पर कभी स्वयं रुकता नहीं है। किसी ————————की कल्पना नहीं की जा सकत, जो स्वयं अन्तिम हो, जिसके बाद दूसरा काल नहीं आनेवाला हो। काल की तरह समस्त जगत् के अणु—परमाणु और चेतन आदि में कोई एक या सभी—— निर्मूल समाप्त हो जाएँगे, ऐसी कल्पना ही नहीं होती। यह कोई बुद्धि की सीमा के परे की बात नहीं है। बुद्धि 'अमुक क्षण में अमुक पदार्थ की अमुक अवस्था होगी' इसप्रकार परिवर्तन का विशेषरूप न भी जान सके, पर इतना तो उसे स्पष्ट भान होता है कि 'पदार्थ का भविष्य के प्रत्येक क्षण में कोई—न—कोई परिवर्तन अवश्य हागा।' जब द्रव्य अपने में मौलिक है, तब उसकी समाप्ति, यानी समूल नाश का प्रश्न ही नहीं है। अतः पदार्थमात्र, चाहे वह चेतन हो, या अचेतन, परिणामीनित्य है। वह प्रतिक्षण त्रिलक्षण है। हर समय कोई एक पर्याय उसकी होगी ही। वह अतीत पर्याय का नाश कर जिस प्रकार स्वयं अस्तित्व में आई है उसी तरह उत्तर पर्याय को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाएगी। अतीत का व्यय और वर्तमान का उत्पादन दोनों में द्रव्यरूप से ध्रुवता है ही।

यह त्रयात्मकता वस्तु की जान है। इसी को स्वीमी समन्तभद्र[३९१] तथा भट्ट कुमारिल ने लौकिक दृष्टान्त से इसप्रकार समझाया है कि जब सोने के कलश को मिटाकर मुकुट बनाया गया, तो कलशार्थी को शोक हुआ, मुकुटाभिलाषी को हर्ष और सुवर्णार्थी को माध्यस्थ्यभाव रहा। कलशार्थी को शोक तथा सुवर्णार्थी की तटस्थता दोनों दशाओं में सुवर्ण के बने रहने के कारण हुई है। अतः वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है। जब [३९२]दूध को जमाकर दही बनाया गया, तो जिस व्यक्ति को दूध खाने का व्रत है वह दही को नहीं खायगा, पर जिसे दही खाने का व्रत है वह दही को तो खा लेगा, पर दूध को नहीं खायगा और जिसे गोरस के त्याग का व्रत है वह न दूध खायगा और न दही; क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में गोरस है ही। इससे ज्ञात होता है कि गोरस की ही दूध और दही दोनों क्रमिक पर्यायें थीं।

[३९३]पातञ्जल महाभाष्य में भी पदार्थ के त्रयात्मकत्व का समर्थन शब्दार्थ मीमांसा के प्रकरण में मिलता है। आकृति नष्ट होने पर भी पदार्थ की सत्ता बनी रहती है। एक ही क्षण में वस्तु के त्रयात्मक

---

391 ——————————————

392 ''पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।।''

393 ''द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्ण कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुर्णपिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिरांगसदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवा———— —पात. महाभा. १।१।१। योगभा. ४।१३।

कहने का स्पष्ट अथ यह है कि पूर्व का विनाश और उत्तर का उत्पाद दो चीजें नहीं हैं, किन्तु एक कारण से उत्पन्न होने के कारण पूर्व विनाश ही उत्तरोत्पाद है। जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है और वही ध्रुव है। यह सुनने में तो अटपटा लगता है कि ६जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह ध्रुव कैसे हो सकता है? यह तो प्रकट विरोध है; परन्तु वस्तुस्थिति का थोड़ी स्थिरता से विचार करने पर यह कुछ भी अटपटा नहीं लगता। इसके माने बिना तत्त्व के स्वरूप का निर्वाह ही नहीं हो सकता।

भेदाभेदात्मक तत्त्व–

गुण और गुणी में, सामान्य और सामान्यवान् में, अवयव और अवयवी में, कारण और कार्य में सर्वथा भेद मानने से गुणगुणीभाव आदि नहीं ही बन सकते। सर्वथा अभेद मानने पर भी यह गुण है और यह गुणी, यह व्यवहार नहीं हो सकता। गुण यदि गुणी से सर्वथा भिन्न है, तो अमुक गुण का अमुक गुणी से ही नियत सम्बन्ध कैसे किया जा सकता है? अवयवी यदि अवयवों से सर्वथा भिन्न है, तो एक अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहता है, या एकदेश से? यदि पूर्णरूप से; तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानना होंगे। यदि एकदेश से; तो जितने अवयव हैं उतने प्रदेश उस अवयवी के स्वीकार करना होगें। इस तरह सर्वथा भेद और अभेद पक्ष में अनेक दूषण आते हैं। अतः तत्त्व को पूर्वोक्त प्रकार से कथंचित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिए। जो द्रव्य है वही अभेद है और जो गुण और पर्याय हैं वही भेद है। दो पृथक्सिद्ध द्रव्यों में जिस प्रकार अभेद काल्पनिक है उसी तरह एक द्रव्य का अपने गुण और पर्यायों से भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझाने के लिए है। गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जो इनमें रहता हो।

इसी तरह [३९४]अन्यान्यात्मक और [३९५]पृथक्त्वात्मक तत्त्व की भी व्याख्या कर लेन चाहिए।

[३९६]धर्म–धर्मिभाव का व्यवहार भले ही आपेक्षिक हो, पर स्वरूप तो स्वतः सिद्ध ही है। जैसे– एक ही व्यक्ति विभिन्न अपेक्षाओं से कर्ता, कर्म, करण आदि कारक रूप से व्यवहार में आता है, पर उस व्यक्ति का स्वरूप स्वतः सिद्ध ही हुआ करता है।; उसी तरह प्रत्येक पदार्थ में अनन्तधर्म स्वरूप–सिद्ध होकर भी पर की अपेक्षा से व्यवहार में आते हैं।

---

394 आप्तमी. श्लो. ६१।

395 आप्तमी. श्लो. २८।

396 आप्तमी. श्लो. ७३–७५।

निष्कर्ष इतना ही है कि प्रत्येक अखण्ड तत्त्व या द्रव्य को व्यवहार में उतारने के लिए उसका अनेक धर्मों के आकार के रूप में वर्णन किया जाता है। उस द्रव्य को छोड़कर धर्मों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दूसरे शब्दों में अन्ततः गुण, पर्याय और धर्मों को छोड़कर द्रव्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कोई ऐसा समय नहीं आ सकता, जब गुणपर्यायशून्य द्रव्य पृथक् मिल सके, या द्रव्य से भिन्न गुण और पर्यायें दिखाई जा सकें। इस तरह स्याद्वाद इस अनेकान्तरूप अर्थ को निर्दोषपद्धति से वचनव्यवहार में उतारता है और प्रत्येक वाक्य की सापेक्षता और आंशिक स्थिति का बोध कराता है।

सप्तभंगी—

वस्तु की अनेकान्तात्मकता और भाषा के निर्दोष प्रकार— स्याद्वाद को समझ लेने के बाद सप्तभंगी का स्वरूप समझने में आसानी हो जाती है। 'अनेकान्त' में यह बतलाया गया है कि वस्तु में सामान्यतया विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्तधर्म होते हैं। विशेषतः अनेकान्त का प्रयोजन 'प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है' यह प्रतिपादन करना ही है। यों तो एक पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हलका, भारी, सत्त्व, एकत्व आदि अनेक धर्म गिनाये जा सकते हैं' यह स्थापित करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है। इसी विशेष हेतु से प्रमाणविरोधी विविप्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।

इस भारतभूमि में विश्व के सम्बन्ध से सत्, अस्त्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष वैदिककाल से ही विचाराकोटि में रहे हैं। ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्''(छान्दो. ६।२) ''असदेवेदमग्र आसीत्'' (छान्दो. ३।१९।१) इत्यादि वाक्य जगत् के सम्बन्ध में सत् और असत् रूप से परस्पर—विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं। तो वहीं सत् और असत् इस उभयरूपता का तथा इन सबसे परे वचनागोचर तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले पक्ष भी मौजूद थे। बुद्ध के अव्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन्हीं चार पक्षों के दर्शन होते हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इन चार कोटियों से विचारा जाता था। भगवान् महावीर ने अपनी विशाल और उदार तत्त्वदृष्टि से वस्तु के विराटरूप को देखा और बताया कि वस्तु अनन्तधर्ममय स्वरूपसागर में ये चार कोटियाँ तो क्या, ऐसी अनन्त कोटियाँ लहरा रही हैं।

अपुनरुक्त भंग सात है—

चार कोटियों में तीसरी उभयकोटि तो सत् और असत् दो को मिलाकर बनाई गई है। मूल भंग तो तीन ही हैं– सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हें, अधिक नहीं। जैसे– सोंठ, मिरच और पीपल के प्रत्येक–प्रत्येक तीन स्वाद और द्विसंयागी तीन– (सोंठ–मिरच, सोंठ–पीपल और मिरच–पीपल) तथा एक त्रिसंयोगी (सोंठ–मिरच–पीपल मिलाकर) इस तरह अपुनरुक्त स्वाद सात ही हो सकते हैं, उसी तरह सत्, असत् और अनुभय (अवक्तव्य) के अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। भगवान् महावीर ने कहा कि वस्तु इतनी विराट् है कि उसमें चार कोटियाँ तो क्या, इनके मिलान–जुड़ान के बाद अधिक–से–अधिक सम्भव होनेवाली सात कोटियाँ तो क्या, एक–एक धर्म को केन्द्र में रखकर उसके प्रतिपक्षी विरोधी धर्म के साथ वस्तु के वास्तविकरूप या शब्द की असामर्थ्यजन्य अवक्तव्यता को मिलाकर सात भंगों या सात धर्मों की कल्पना होती है। ऐसे असंख्य सात–सात भंग प्रत्येक धर्म की अपेक्षा से वस्तु में सम्भव हैं। इसलिए वस्तु को सप्तधर्मा न कहकर अनन्तधर्मा या अनेकान्तात्मक कहा गया है। जब हम अस्तित्व धर्म का विचार करते हैं तो अस्तित्व विषयक सात भंग बनते हैं और जब नित्यत्व धर्म की विवेचना करते हैं तो नित्यत्व को केन्द्र में रहकर सात भंग बन जाते हैं। इस तरह असंख्य सात–सात भंग वस्तु में सम्भव होते हैं।

सात ही भंग क्यों?

'भंग सात ही क्यों होते हैं?' इस प्रश्न का एक समाधान तो यह कि तीन वस्तुओं के गणित के

धर्म गौण हो जाते हैं। जब द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा होती है तब समस्त गुणों में अभेदवृत्ति तो स्वतः हो जाती है, परन्तु पर्यायार्थिकनय की विवक्षा होने पर गुण और धर्मों में काल आदि की दृष्टि से अभेदोचार करके समस्त वस्तु का ग्रहण कर लिया जाता है। काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्द इन आठ दृष्टियों से गुणादि में अभेद का उपचार किया जाता है। जो काल एक गुण का है वही अन्य अशेष गुणों का है, अतः काल की दृष्टि से उनमें अभेद का उपचार हो जाता है। जो एक गुण का 'तद्गुणत्व' स्वरूप है वही शेष समस्त गुणों का है। जो आधारभूत अर्थ एक गुण का हे वही शेष गुणों का भी है। जो उपकार अपने अनुकूल विशिष्टबुद्धि उत्पन्न करना एक गुण का है वही उपकार अन्य

शेष गुणों का है। जो गुणिदेश का एक गुण का है वही अन्य शेष गुणों का है। जो संसर्ग एक गुण का है। जो गुणिदेश एक गुण का है वही अन्य शेष गुणों का है। जो उपकार अपने अनुकूल विशिष्टबुद्धि उत्पन्न करना एक गुण का है वही उपकार अन्य शेष गुणों का है वही शेष धर्मों का भी है। जो शब्द 'उस द्रव्य का गुण' एक गुण के लिए प्रयुक्त होता है वही शेष धर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह कि पर्यायार्थिक विवक्षा में परस्पर भिन्न गुण और पर्यायों में अभेद का उपचार करके————————— पेज ८२ आधा है

पेज न. ८३ से शुरु

ग्रहण करते समय दृष्टि के सामने अंशकल्पना बराबर रहती है, अत: इन्हें विकला देशी कहना चाहिए। यद्यपि 'स्यात्' पद होने से शेष धर्मों का संग्रह इनमें भी हो जाता है; पर धर्मभेद होने से अखण्ड धर्मी अभिन्नभाव से गृहीत नहीं हो पाती, इसलिए ये विकलादेश हैं। उ. यशोविजयी ने जैनतर्क—भाषा और गुरुतत्त्वविनिश्चय आदि अपने ग्रन्थों में इस परम्परा का अनुसरण न करके सातों ही भंगों को सकलादेशी और विकलादेशी दोनों रूप माना है। पर अष्टसहस्रीविवरण (पृत्र २०८ बी.) में वे तीन भंगों को सकलादेशी और शेष को विकलादेशी मानने का पक्ष भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं कि देश भेद के बिना क्रम से सत्, असत्, उभय की विवक्षा हो नहीं सकती, अत: निरवयव द्रव्य को विषय करना सम्भव नहीं है, इसलिए चारों भंगो को विकलादेशी मानना चाहिए। यह मतभेद कोई महत्त्व का नहीं है; कारण जिस प्रकार हम सत्त्वमुखेन समस्त वस्तु का संग्रह कर सकते हैं, उसी तरह सत्त्व और असतत्त्व दो धर्मों के द्वारा भी अखण्ड वस्तु का स्पर्श करने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। यह तो विवक्षाभेद और दृष्टि भेद की बात है।

मलयगिरि आचार्य के मत की मीमांसा—

आचार्य मलयगिरि (आव. नि. मलय. टी., पृ. ३७१ ए) प्रमाणवाक्य में ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि नयवाक्य में जब 'स्यात्' पद के द्वारा शेष धर्मों का संग्रह हो जाता है तो वह समस्त वस्तु का ग्राहक होने से प्रमाण ही हो जायगा, नय नहीं रह सकता, क्योंकि नय तो एक धर्म का ग्राहक होता हैं इनके

मत से सभी नय एकान्त ग्राहक होने से मिथ्यारूप हैं; किन्तु उनके इस मत की उ. यशोविजयी ने गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ. १७ बी) में आलोचना की है। वे लिखते हैं कि ''नयान्तरसापेक्ष नय का प्रमाण अन्तर्भाव करने पर व्यवहार नय को प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह निश्चय की अपेक्षा रखता है। इसी तरह चारों निक्षेपों को विषय करनेवाले शब्दनय भी भावविषयक शब्द नयसापेक्ष होने से प्रमाण हो जाएँगे। वास्तविक बात तो यह है कि नयवाक्य में 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी नय के विषय की सापेक्षता ही उपस्थित करता है, न कि अन्य अनन्त धर्मों का परामर्श करता है। यदि ऐसा न हो तो अनेकान्त में सम्यगेकान्त का अन्तर्भाव ही नहीं हो सकेगा। सम्यगेकान्त अर्थात् प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा रखने वाला एकान्त। इसलिए 'स्यात्' इस अव्यय को अनेकान्त का द्योतक माना है न कि अनन्तधर्म का परामर्श करनेवाला। अत: प्रमाणवाक्य में 'स्यात्' पद अनन्त धर्म का परामर्श करता है और नयवाक्य में प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा का द्योतन करता है।'' प्रमाण में तत् और अतत् दोनो गृहीत होते हैं और 'स्यात्' पद से उस अनेकान्त अर्थ का द्योतन होता है। नय में एक धर्म का मुख्य भाव से ग्रहण होकर भी शेष धर्मों का निराकरण नहीं किया जाता है। उनका सद्भाव गौणरूप से स्वीकृत रहता है जब कि दुर्नय में अन्य धर्मों का निराकरण कर दिया जाता है। नयवाक्य में 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी शेष धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है। दुर्नय में अपने धर्म का अवधारण होकर अन्य का निराकरण ही हो जाता है। अनेकान्त में जो सम्यगेकान्त समाता है। वह धर्मान्तरसापेक्ष धर्म का ग्राहक ही तो होता है।

यह मैं बता चुका हूँ कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व तथा इससे भी पहले भारत के मनीषी विश्व और तदन्तर्गत प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का 'सत्; असत्, उभय और अनुभय, एक अनेक उभय और अनुभय' आदि चार कोटियों में पूँछता था। म. बुद्ध से जब तत्त्व के सम्बन्ध में विशेषत: आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये, तो उनने उसे अव्याकृत कहा। संजय इन प्रश्नों के सम्बन्ध में अपना अज्ञान ही प्रकट करता था; किन्तु भगवान् महावीर ने अपने सप्तभंगीन्याय से इन चार कोटियों का ही वैज्ञानिक समाधान नहीं किया, अपितु अधिक–से–अधिक सम्भवित सात कोटिकयों तक का उत्तर दिया। ये उत्तर ही सप्तभंगी या स्याद्वाद हैं।

संजय के विक्षेपवाद से स्याद्वाद नहीं निकला[३९७]–

397 देखो, न्यायविनिश्चय विवरण प्रथम भाग की प्रस्तावना।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा इतः पूर्व डॉ. हर्बन जैकोबी आदि ने स्याद्वाद या सप्तभंग की उत्पत्ति को संजयवेलट्ठिपुत्त के मत से बताने का प्रयत्न किया हैं। राहुलजी ने दर्शनदिग्दर्शन में लिखा है कि– ''आधुनिक जैनदर्शन का आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंगवाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजय तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने का इनकार करते हुए उस इनकार को चार प्रकार कहा है–

१– 'है?' नहीं कह सकता। २– 'नहीं है?' नहीं कह सकता। ३– 'है भी और नहीं भी नहीं कह सकता। ४– 'न है और न नहीं है?' नहीं कह सकता। इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से–

१– 'है?' हो सकता है (स्यादस्ति), २– 'नहीं है?' नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति), ३– 'है भी और नहीं भी?' है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं– (वक्तव्य हैं)? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं–

४– स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है? नहीं, स्याद् अ–वक्तव्य है।

५– 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

६– 'स्यान्नस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्यात् नास्ति' अवक्तव्य है।

७– 'स्यादस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्यादसित च नास्ति च' अ–वक्तव्य है। दोनों के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियाँ बनायी हैं और उसके चौथे वाक्य 'न हैं और न नहीं है' को जोड़कर स्यात्सदसत् भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।...... . इसप्रकार एक भी सिद्धान्त (स्यात्) की स्थापना न करना जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों को लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।'' –दर्शनदिग्दर्शन, पृ. ४९६।

राहुलजी ने उक्त सन्दर्भ में सप्तभंगी और स्याद्वाद के रहस्य को न समझकर केवल शब्दसाम्य देखकर एक नये मत की सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है। जैसे कि चोर से जज यह पूछे कि– 'क्या तुमने यह कार्य किया है?' फिर जज अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दे कि 'चोर ने यह कार्य किया है' तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जज का फैसला चोर के बयान से निकला है।

[३९८]संजयवेलट्ठिपुत्त के दर्शन का विवेचन स्वयं राहुल जी ने (दर्शनदिग्दर्शन, पृ. ४९१ में) इन शब्दों में किया है– ''यदि आप पूछें– 'क्या परलोक है?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है, परलोक न है और न नहीं है।''

संजय के परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्ति के सम्बन्ध के ये विचार शतप्रतिशत अज्ञान या अनिश्चयवाद के हैं। वह स्पष्ट कहता है कि ''यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ।'' वह संशयालु नहीं, घोर अनिश्चयवादी था। इसलिए उसका दर्शन बकौल राहुल जी के ''मानव की सहजबुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चय कर भ्रान्त धारणाओं की पुष्टि ही करना चाहता है।'' वह आज्ञानिक था।

बुद्ध और संजय–

म. बुद्ध ने– १. लोक नित्य है, २. अनित्य है, ३. नित्य–अनित्य है, ४. न नित्य न अनित्य है, ५. लोक अन्तवान है, ६. नहीं है, ७. है नहीं है, ८. न है न नहीं है, ९ मरने के बाद तथा गत होते हैं, १०. नहीं होते, ११. होते हैं नहीं होते, १२. न होते हैं न नहीं होते, १३. जीव शरीर से भिन्न है, १४. जीव शरीर से भिन्न नहीं है।' (माध्यमिकवृत्ति, पृ. ४४६) इन चौदह वस्तुओं को अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२३) में इनकी संख्या दस है। इनमें आदि के दो प्रश्नों में तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया है। 'इनके अव्याकृत होने का कारण बुद्ध ने बताया है कि इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचार्य के लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाण के लिए आवश्यक है।' तात्पर्य यह कि बुद्ध की दृष्टि में इनका जानना मुमुक्षु के लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दों में बुद्ध

---

398 इसके मत का विस्तृत वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त में है। यह विक्षेपवादी था। 'अमराविक्षेपवाद' रूप से भी इसका मत प्रसिद्ध था।

भी संजय की तरह इनके बारे में कुछ कहकर मानव की सहज बुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्तधारणाओं की सृष्टि ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता और अनिश्चय को साफ–साफ शब्दों में कह देता है। कि 'यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ,' तब बुद्ध अपने जानने का उल्लेख न करके उस रहस्य को शिष्यों के लिए अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। आज तक यह प्रश्न तार्किकों के सामने ज्यों–का–त्यों है कि बुद्ध की अव्याकृतता और संजय फक्कड़ की तरह पल्ला झाड़कर खरी–खरी बात कह देता है और बुद्ध कुशल बड़े आदमियों की शालीनता का निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समय के वातावरण में आत्मा, लोक, परलोक और मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभय या अवक्तव्य ये चार कोटियाँ गूँजती थीं। जिस प्रकार आज का राजनैतिक प्रश्न 'मजदूर और मालिक, शोष्य और शोषक के' द्वन्द्व की छाया में ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय के आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थविष्यक प्रश्न चतुष्कोअि में ही पूछे जाते थे। वेद और उपनिषद में इस चतुष्कोटि के दर्शन बराबर होते हैं। 'यह विश्व सत् से हुआ या असत् से? यह सत् है या असत् या उभय या अनिर्वचनीय' ये प्रश्न जब सहस्रों वर्ष से प्रचलित रहे हैं तब राहुलजी का स्याद्वाद के विषय में यह फतवा दे देना कि 'संजय के प्रश्नों के शब्दों से या उसकी चतुर्भंगी को तोड़–मरोड़कर सप्तभंगी बनी'– कहाँ तक उचित है, इसका वे स्वयं विचार करें।

बुद्ध के समकालीन जो अन्य पाँच तीर्थिक थे, उनमें निग्गठं नाथपुत्त वर्धमान महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्धि थी। 'वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, या नहीं' यह इस समय की चरचा का विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक अवश्य थे और किसी भी प्रश्न को संजय की तरह अनिश्चय या विक्षेप कोटि में और बुद्ध की तरह अव्याकृत कोटि में डालनेवाले नहीं थे, और न शिष्यों की सहज जिज्ञासा को अनुपयोगिता के भयप्रद चक्कर में डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघ के पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर लेते, तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघ के पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर लेते, तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघ के भिक्षुओं के सामने अपनी बौद्धिक दीनता के कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचार पर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्यों को पर्देबन्द

पद्मिनियों की तरह जगत् के स्वरूप–विचार की बाह्य–हवा से अपरिचित नहीं रखना चाहते थे; किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मनन शक्ति को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के वचार की ओर लगावे। न उन्हें बुद्ध की तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में 'हाँ' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियों की तरह लोग नित्यत्व की ओर झुक जाएँगे और 'नहीं है' कहने से उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाक की तरह नास्तिकता का प्रसंग उपस्थित होगा, अतः इस प्रश्न को अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूदा तर्कों और संशयों का समाधान वस्तुस्थिति के आधार से होना ही चाहिए। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूप का अनुभव कर बताया कि जगत् का प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है और प्रतिक्षण परिणामी है। हमारा ज्ञानलव (दृष्टि उसे एक–एक अंश से जानकर भी अपने में पूर्णता का मिथ्याभिमान कर बैठता है। अतः हमें सावधानी से वस्तु के विराट् अनेकान्तात्मक स्वरूप का विचार करना चाहिए। अनेकानत दृष्टि से तत्त्व का विचार करने पर न तो शाश्वतवाद का भय हे और न उच्छेदवाद का। पर्याय की दृष्टि से आत्मा उच्छिन्न होकर भी अपनी अनाद्यन्त धारा की दृष्टि से अविच्छिन्न है, शाश्वत है। इसी दृष्टि से हम लोक के शाश्वत अशाश्वत आदि प्रश्नों को भी देखें–

(१) क्या लोक शाश्वत है? हाँ, लोक शाश्वत है– द्रव्यों की संख्या की दृष्टि से। इसमें जितने सत् अनादि से हैं, उनमें से एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये 'सत्' की वृद्धि ही हो सकती है, न एक सत् दूसरे में विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता, जब इसके अंगभूत एक भी द्रव्य का लोप हो जाय या सब समाप्त हो जाँय। निर्वाण अवस्था में भी आत्मा की निरास्रव चित्–सन्तति अपने शुद्धरूप में बराबर चालू रहती है, दीपकी तरह बुझ नहीं जाती, यानी समूल समाप्त नहीं हो जाती।

(२) क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है द्रव्यों के प्रतिक्षणभावी परिणमनों की दृष्टि से। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव के कारण सदृश या विसदृश परिणमन करता रहता है। कोई भी पर्याय दो क्षण नहीं ठहरती। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है। वह प्रतिक्षणभावी अनेक सदृश परिणमनों का अवलोकन मात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग–वियोगों की दृष्टि से विचार कीजिए, तो लोक आशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमश: उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करने पर लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टि से) और अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टि से), दोनों दृष्टिकोणों को क्रमश: प्रयुक्त करने पर और उन दोनों पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जगत् उभयरूप भी प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है? हूँ, लोक का पूर्ण रूप वचनों के अगोचर है, अवक्तव्य है। कोई ऐसा शब्द नहीं, जो एक साथ लोक के शाश्वत दोनों स्वरूपों को तथा उसमें विद्यमान अनन्त धर्मों को युगपत् कह सके। अत: शब्द की असामर्थ्य के कारण जगत् का पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपण में आप देखेंगे कि वस्तु का पूर्णरूप वचनों के अगोचर है, अवक्तव्य है। चौथा उत्तर वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् न कह सकने की दृष्टि से है पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टि से और अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टि से। इसत तरह मूलत: चौथा, पहला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपता का प्रश्न तो प्रथम और द्वितीय का संयोगरूप है। अब आप विचारें कि जब संजय ने लोक के शाश्वत और अशाश्वत बारे में स्पष्ट कहा है कि 'यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ' और बुद्ध ने कह दिया कि 'इनके चक्कर में न पड़ो, इनका जानना उपयोगी नहीं है, ये अव्याकृत हैं' तब महावीर ने उन प्रश्नों का वस्तुस्थिति के अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्यों की जिज्ञासा का समाधान कर उनको बौद्धिक दीनता से त्राण दिया। इन प्रश्नों का स्वरूप इसप्रकार है—

	प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१.	क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है, (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है। इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नहीं हो सकता, न किसी असत् से नये सत् का उत्पाद ही सम्भव है।

२.	क्या लोक अशाश्वत है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है, (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षणभावी परिणमनों की दृष्टि से अशाश्वत है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नहीं है।
३.	क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है, (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक दोनों दृष्टियों से क्रमशः विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
४.	क्या लोक दोनोंरूप नहीं है; अनुभय है?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ? (अज्ञान, अनिश्चय)	अव्याकृत	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं, जो लोक के परिपूर्ण स्वरूप को एक साथ समग्रभाव से कह सके, अतः पूर्ण रूप से वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नों का समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर उनसे पिण्ड छुड़ा लेते हैं; महावीर उन्हीं का वास्तविक और युक्तिसंगत[३९९] समाधान करते हैं। इस पर भी राहुल जी यह कहने का साहस करते हैं कि 'संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर संजय के वाद को ही जैनियों ने अपना लिया।' यह तो एका ही है, जैसे कोई कहे कि 'भारत में रही परतन्त्रता को परतंत्रता—विधायक अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों ने उसे अपरतंत्रता (स्वतन्त्रता) के रूप में अपना लिया; क्योंकि अपरतन्त्रता में भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही।' या 'हिंसा को ही बुद्ध और महावीर ने उसके अनुयायियों के लुप्त होने पर 'अहिंसा के रूप से अपना लिया है; क्योंकि अहिंसा में भी 'हिं सा' ये दो अक्षर

---

[399] बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों का पूरा समाधान तथा उनके आगमिक अवतरणों के लिए देखो, जैनतर्कवार्तिक की प्रस्तावना, पृ. १४—२४।

हैं ही।' जितना परतन्त्रता का अपरतन्त्रता से और हिंसा का अहिंसा से भेद है उतना ही संजय के अनिश्चय या अज्ञानवाद से स्याद्वाद का अन्तर है। ये तो तीन और छह (३६) की तरह परस्पर विमुख हैं। स्याद्वाद संजय के अज्ञान और अनिश्चय का ही तो उच्छेद करता है। साथ–ही–साथ तत्त्व में जो विपर्यय और संशय हैं उनका भी समूल नाश कर देता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप (पृ. ४८४ में) अनिश्चिततावादियों की सूची में संजय के साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं तथा (पृ. ४९१ में) संजय को अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्ति के शब्दों में 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कह सकते?

'स्यात्' का अर्थ शायद, सम्भव या कदाचित् नहीं–

'स्यात्' शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय, अनिश्चय और सम्भावना का भ्रम होता है। पर यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसंग की, जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग भाषा की विशिष्ट शैली का एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकाय के महाराहुलोवादसुत्त के अवतरण से[४००] विदित होता हैं। इसमें तेजोधातु के दोनों सुनिश्चित भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है, न कि उन भेदों का अनिश्चय, संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित अपेक्षा से दृढ़ तो करता ही है, साथ–ही–साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में हैं, पर वे विवक्षित न होने से इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता है।

राहुल जी ने 'दर्शनदिग्दर्शन' में सप्तभंगी के पाँचवें, छठे और सातवें भंग को जिस अशोभन तरीके से तोड़ा–मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और साहस है। जब वे दर्शन को व्यापक, नई और वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शन की समीक्षा उसके ठीक स्वरूप को समझकर करनी चाहिए। वे 'अवक्तव्य' नामक धमका, जो कि 'अस्ति' आदि के साथ स्वतन्त्र भाव से द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ–वक्तव्य करके उसका संजय के 'नहीं' के साथ मेल

---

[400] देखो, पृ. ५३।

बैठा देते हैं और [401]संजय के घोर अनिश्चयवाद को ही अनेकानतवाद कह डालते हैं। किमाश्चमर्यमत: परम्।।

डॉ. सम्पूर्णानन्द का मत–

डॉ. सम्पूर्णानन्द जी 'जैनधम्र' पुस्तक की प्रस्तावना (पृ. ३) में अनेकान्तवाद की ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभंगी न्याय को बाल की खाल निकालने के समान आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना समझते हैं। पर सप्तभंगी को आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहले के वातावरण में देखने पर वे स्वयं उसे समय की माँग कहे बिना नहीं रह सकते। उस समय आबाल–गोपाल प्रत्येक प्रश्न को सहज ही 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इस चार कोटियों में गूँथकर ही उपस्थित करते थे और उस समय के आचार्य उत्तर भी उस चतुष्कोटि का 'हाँ' या 'ना' में देते थे। तीर्थंकर महावीर ने मूल तीन भंगों के गणित के नियमानुसार अधिक–से–अधिक अनुपरुक्त सात भंग बनाकर कहा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है– उसमें चार विकल्प भी बराबर सम्भव हैं। इन सब सम्भव प्रश्नों का समाधार करना ही सप्तभंगी का प्रयोजन है। यह तो जैसे–को–तैसा उत्तर है। अर्थात् चार प्रश्न तो क्या सात प्रश्नों की भी कल्पना करके एक–एक धर्मविषयक सप्तभंगी बनाई जा सकती है और ऐसे अनन्त सप्तभंग वस्तु के विराट् स्वरूप में सम्भव हैं। यह सब निरूपण वस्तुस्थिति के आधार से किया जाता है, केवल कल्पना से नहीं।

जैनदर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक भूमि से ऊपर उठकर वस्तुसीमापर खड़े होकर जगत् में वस्तुस्थिति के आधार से संवाद, समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञान की अनेकान्त–दृष्टि और स्याद्वाद–भाषा दी। जिनकी उपासना से विश्व अपने वास्तविक स्वरूप को समझ निरर्थक वादविवाद से बचकर संवादी बन सकता है।

शंकराचार्य और स्याद्वाद–

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में[402] सामान्यरूप से 'अनेकान्त' तत्त्व में दूषण दिया है कि एक वस्तु में अनेक धर्म नहीं हो सकते। श्रीशंकराचार्य जी अपने भाष्य में[403] इसे विवसनसमय (दिगम्बर

---

401 जैन कााग्रन्थों में महावीर के बालजीवन की एक घटना का वर्णन मिलता है कि संजय और विजय नाम के दो साधुओं का संशय महावीर को देखते ही नष्ट हो गया था, इसीलिए इनका नाम 'सन्मति' रखा गया था। सम्भव है, ये संजय, संजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इन्हीं के संशय या अनिश्चय का नाश महावीर के सप्तभंगीन्याय से हुआ हो। यहाँ 'वेलट्ठिपुत्त' विशेषण अपभ्रष्ट होकर विजय नाम का दूसरा साधु बन गया है।

402 नैकस्मिन्नसम्भवात्।' –ब्रह्म सू. २।२।३३।

403 शांकरभाष्य २।२।३३।

सिद्धान्त) लिखकर इसके सप्तभंगी नय में सूत्रनिर्दिष्ट विरोध के सिवाय संशय दोष भी देते हैं। वे लिखते हैं कि ''ऐ वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्म नहीं हो सकते, जैसे कि एक ही वस्तु शीत और उष्ण नहीं हो सकती। जो सात पदार्थ या पंचास्तिकाय बताये हैं, उनका वर्णन जिस रूप में है, वे उस रूप में भी होंगे और अन्य रूप में भी। यानी एक भी रूप से उनका निश्चय नहीं होने से संशयदूषण आता है। प्रमाता, प्रमिति आदि के स्वरूप में भी इसी तरह निश्चयात्मकता न होने से तीर्थंकर किसे उपदेश देंगे और श्रोता कैसे प्रवृत्ति करेंगे? पाँच अस्तिकायों की 'पाँच संख्या' है भी और नहीं भी, यह तो बड़ी विचित्र बात है। 'एक तरह अवक्तव्य भी कहते हैं, फिर उसे अवक्तव्य शब्द से कहते भी जाते हैं।' यह तो स्पष्ट विरोध है कि– 'स्वर्ग और मोक्ष है भी और नहीं भी, नित्य भी हे और अनित्य भी।' तात्पर्य यह कि एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का होना सम्भव ही नहीं हे। अत: आर्हतमत का 'स्याद्वाद' सिद्धान्त असंगत है।'

हम पहले लिख आये हैं कि 'स्यात्' शब्द जिस धर्म के साथ लगता है उसकी स्थिति कमजोर नहीं करके वस्तु में रहनेवाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है। वस्तु अनेकान्तरूप है, यह समझने की बात नहीं है। उसमें साधारण, असाधारण और साधारणासाधरण आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। एक ही पदार्थ अपेक्षाभेद से परस्परविरोधी अनेक धर्मों का आधार होता है। एक ही देवदत्त अपेक्षाभेद से पिता भी है, पुत्र भी है, गुरु भी है, शिष्य भी है, शासक भी है, शास्य भी है, ज्येष्ठ भी है, कनिष्ठ भी है, दूर भी है और पास भी है। इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विभिन्न अपेक्षाओं से उसमें अनन्त धर्म सम्भव हैं। केवल यह कह देने से कि ६जो पिता है वह पुत्र कैसा? जो गुरु है वह शिष्य कैसा? जो ज्येष्ठ है वह कनिष्ठ कैसा? जो दूर है वह पास कैसा, प्रतीतिसिद्ध स्वरूप का अपलाप नहीं किया जा सकता। एक ही मेचकरत्न अपने अनेक रंगों की अपेक्षा अनेक है। चित्रज्ञान एक होकर भी अनेक आकारवाला प्रसिद्ध ही है। एक ही स्त्री अपेक्षाभेद से माता भी है और पत्नी भी। एक ही पृथ्वीवीत्वसामान्य पृथ्वीव्यक्तियों में अनुगत होने के कारण सामान्य होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराता है। अत: विशेष भी है। इसीलिए इसको सामान्यविशेष या अपरसामान्य कहते हैं। स्वयं संशयज्ञान एक होकर भी 'संशय और निश्चय' इन दो आकारों को धारण करता है। 'संशय परस्पर विरोधी दो आकारोंवाला है' यह बात तो सुनिश्चित है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। एक ही नरसिंह एक भाग से नर होकर भी द्वितीय भाग की अपेक्षा सिंह है। एक ही धूपदहनी अग्नि से संयुक्त भाग में उष्ण होकर भी पकड़नेवाले भाग में ठण्डी है। हमारा समस्त जीवन–व्यवहार ही सापेक्ष धर्मों से चलता है। कोई पिता अपने

बेटे से 'बेटा' कहे और वह बेटा, जो अपने लड़के का बाप है, अपने पिता से इसलिए झगड़ पड़े कि 'वह उसे बेटा क्यों कहता है?' तो हम उस बेटे को ही पागल कहेंगे, बाप को नहीं। अत: जब ये परस्परविरोधी अनन्तधर्म वस्तु के विराट् रूप में समाये हुए हैं, उसके अस्तित्व के आधार हैं, तब विरोध कैसा?

सात तत्त्व का जो स्वरूप है, उस स्वरूप से ही तो उनका अस्तित्व है, भिन्न स्वरूप से उनका नास्तित्व ही है। यदि जिस रूप से अस्तित्व कहा जाता है उसी रूप से नास्तित्व कहा जाता, तो विरोध या असंगति होती। स्त्री जिसकी पत्नी है, यदि उसी काी माता कही जाय, तो ही लड़ाई हो सकती है। ब्रह्म का जो स्वरूप नित्य, एक और व्यापक बताया जाता है उसी रूप से तो ब्रह्म का अस्तित्व माना जा सकता है, अनित्य, अव्यापक और अनेक के रूप से तो नहीं। हम पूछते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्म नित्यादिरूप से अस्ति है, क्या उसी तरह अनित्यादिरूप से भी उसका अस्तित्व है क्या? यदि हाँ, तो आप स्वयं देखिये, ब्रह्म का स्वरूप् किसी अनुन्मत्त के समझने लायक रह जाता है क्या? यदि नहीं; तो ब्रह्म जिस प्रकार नित्यादिरूप से 'सत्' और अनित्यादिरूप से 'असत्' है और इस तरह अनेक धर्मात्मक सिद्ध होता है उसी तरह जगत् के समस्त पदार्थ इस त्रिकालाबाधित स्वरूप से व्याप्त हैं।

प्रमाता और प्रमति आदि के जो स्वरूप हैं, उनकी दृष्टि से ही तो उनका अस्तित्व होगा, अन्य स्वरूपों से कैसे हो सकता है? अन्यथा स्वरूपसांकर्य होने से जगत् की व्यवस्था का लोप ही प्राप्त होता है।

'पंचास्तिकाय की पाँच संख्या है, चार या तीन नहीं', इसमें क्या विरोध है? यदि कहा जाता है कि 'पंचास्तिकाय पाँच हैं और पाँच नहीं हैं' तो विरोध होता, पर अपेक्षाभेद से तो पंचास्तिकाय पाँच हैं, चार आदि नहीं हैं। फिर पाँचों अस्तिकाय अस्तिकायत्वेन एक होकर भी तत्त्द्व्यक्तियों की दृष्टि से पाँच भी हैं। सामान्य से एक भी हैं और विशेष रूप से पाँच भी हैं, इसमें क्या विरोध है?

स्वर्ग और मोक्ष अपने स्वरूप की दृष्टि से 'हैं', नरकादि की दृष्टि से 'नहीं'; इसमें क्या आपत्ति है? 'स्वर्ग स्वर्ग है, नरक तो नहीं है', यह तो आप भी मानेंगे। 'मोक्ष मोक्ष ही तो होगा, संसार तो नहीं होगा।'

अवक्तव्य भी एक धर्म है, जो वस्तु के पूर्णरूप की अपेक्षा से है। कोई ऐसा शब्द नहीं, जो वस्तु के अनेकधर्मात्मक अखण्ड रूप का वर्णन कर सके। अत: वह अवक्तव्य होकर भी तत्तद्धर्मों की अपेक्षा

वक्तव्य है और उस अवक्तव्य धर्म को भी इसीलिए 'अवक्तव्य' शब्द कहते भी हैं। 'स्यात्' पद इसीलिए प्रत्येक वाक्य के साथ लगकर वक्ता और श्रोता दोनों की वस्तु के विराट् स्वरूप और विवक्षा या अपेक्षा की याद दिलाता रहता है, जिससे लोग सरसरी तौरपर वस्तु के स्वरूप के साथ खिलवाड़ न करें। 'प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से है, अपने क्षेत्र में है, अपने काल से है और अपनी गुणपर्यायों से है, भिन्न रूपों से नहीं है' यह एक सीधी–साधी बात है, जिसे आबाल–गोपाल सभी सहज ही समझ सकते हैं। यदि एक ही अपेक्षा से दो विरोधी धर्म बताये जाते, तो विरोध हो सकता था। एक ही देवदत्त जब जवानी में अपने बाल–चरितों का स्मरण करता है तो मन में लज्जित होता है, पर वर्तमान सदाचार से प्रसन्न होता है। यदि देवदत्त की बालपन और जवानी दो अवस्थाएँ नहीं हुईं होतीं और दोनों अवस्थाओं में देवदत्त का अन्वय न होता, तो उसे बचपन का स्मरण कैसे आता? और क्यों वह उस बालचरित को अपना मानकर लज्जित होता? इससे देवदत्त आत्मत्वेन एक और नित्य होकर भी अपनी अवस्थाओं की दृष्टि से अनेक और अनित्य भी है। यह सब रस्सी में साँप की तरह केवल प्रातिभासिक नहीं है, किन्तु परमार्थसत् है, ठोस सत्य है। जब वस्तु का स्वरूप से 'अस्ति' रूप भी निश्चित है और पररूप से 'नास्ति' रूप भी निश्चित है तब संशय कैसे हो सकता है? संशय तो, दोनों कोटियों के अनिश्चय की दशा में ज्ञान जब दोनों ओर झूलता है, तब होता है। अतः न तो अनेकान्तस्वरूप में विरोध ही हो सकता है और न संशय हीं

श्वे. उपनिषद् के ''अणोरणीयान् महतो महीयान्'' (३।२०) ''क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं'' (१।८) आदि वाक्यों की संगति भी तो आखिर अपेक्षाभेद के बिना नहीं बैठाई जा सकत। स्वयं शंकराचार्य जी के द्वारा समन्वयाधिकरण में जिन श्रुतियों का समन्वय किया गया है, वह भी तो अपेक्षाभेद से ही सम्भव हो सकता है।

स्व. महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झा ने इस सम्बन्ध में अपनी विचारपूर्ण सम्मति में लिखा था कि ''जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धानत में बहुत कुछ है जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा।''

हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यक्ष स्व. प्रो. फणिभूषण अधिकारी ने तो ओर भी स्पष्ट लिखा था कि 'जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया हे, यह

बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी; किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।''

अनेकान्त भी अनेकान्त है—

अनेकान्त भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त अर्थात् कथंचित् अनेकानत और कथंचित् एकान्तरूप है। वह प्रमाण का विषय होने से अनेकान्तरूप है। अनेकान्त दो प्रकार का— सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यगनेकानत है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्यसापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगेकान्त है तथा अन्य धर्म का निषेध करके एक का अवधारण करना मिथ्यैकान्त है। वस्तु में सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त ही मिल सकते हैं, मिथ्या अनेकान्त और मिथ्यैकानत जो प्रमाणाभास और दुर्नय के विषय पड़ते हैं नहीं, वे केवल बुद्धिगत ही हैं, वैसी वस्तु बाह्य में स्थित नहीं है। अत: एकान्त का निषेध बुद्धिकल्पित एकान्त का ही किया जाता है। वस्तु में जो एक धर्म है वह स्वभावत: परसापेक्ष होने के कारण सम्यगेकान्त रूप होता है। तात्पर्य यह कि अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और वह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है। यही बात स्वामी समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में कही है—

> ''अनेकान्तोऽप्यनेकान्त: प्रमाण—नयसाधन:।
> अनेकान्त: प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।१०२।।''

अर्थात् प्रमाण और नय का विषय होने से अनेकान्त यानी अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्तरूप है। वह जब प्रमाण के द्वारा समग्रभाव से गृहीत होता है तब वह अनेकान्त—अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त एकधर्मरूप है, उस समय शेष धर्म पदार्थ में विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थ की स्थिति हर हालत में अनेकान्तरूप ही सिद्ध होती है।

प्रो. बलदेव जी उपाध्याय के मत की आलोचना—

प्रो. बलदेव जी उपाध्याय ने अपने भारतीय दर्शन (पृ. १५५) में स्याद्वाद का अर्थ बताते हुए लिखा है कि ''स्यात् (शायद,

सम्भवत:) शब्द अस् धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङ्न्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़े के विषय में हमारा मत स्यादस्ति– सम्भवत: यह विद्यमान है' इसी रूप में होना चाहिए।'' यहाँ उपाध्याय जी 'स्यात्' शब्द को शायद का पर्यायवाची तो नहीं मानना चाहते, इसलिए वे शायद शब्द को कोष्ठक में लिखकर भी आगे 'सम्भवत:' अर्थ का समर्थन करते हैं। वैदिक आचार्य स्वामी शंकराचार्य ने जो स्याद्वाद की गलत बयानी की है उसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानों के मस्तिष्क पर पड़ा हुआ है और वे उसी संस्कारवश 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' करने में नहीं चूकते। जब यह स्पष्ट रूप से अवधारण करके निश्चयात्मक रूप से कहा जाता है कि 'घड़ा अपने स्वरूप से 'स्यादस्ति'– है ही, घड़ा स्वभिन्न पररूप से 'स्यान्नास्ति'– नहीं ही है', तब शायद या संशय की गुंजाइश कहाँ है? 'स्यात्' शब्द तो श्रोता को यह सूचना देता है कि जिस 'अस्ति' धर्म का प्रतिपादन हो रहा है वह धर्म सापेक्ष स्थितिवाला है, अमुक स्वचतुष्टय की अपेक्षा से उसका सद्भाव है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि वस्तु में अस्ति से भिन्न अन्य धर्म भी सत्ता रखते हैं। जबकि संशय और शायद में एक भी धर्म निश्चित नहीं होता। अनेकानत–सिद्धान्त में अनेक ही धर्म निश्चित हैं और उनके दृष्टिकोण भी निर्धारित हैं। आश्चर्य है कि अपने को तटस्थ माननेवाले विद्वान् आज भी उसी संशय और शायद की परम्परा को चलाये जाते हैं रूढिवाद का माहात्म्य अगम्य है।

इसी संस्कारवश उपाध्याय जी 'स्यात्' के पर्यायवाचियों में 'शायद' शब्द को लिखकर (पृ. १७३) जैनदर्शन की समीक्षा करते समय शंकराचार्य की वकालत इन शब्दों में करते हैं– ''यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस स्याद्वाद का मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है'' पर, उपाध्याय जी, जब आप 'स्यात्' का अर्थ निश्चितरूप से 'संशय' नहीं मानते, तब शंकराचार्य के खण्डन का मार्मिकत्व क्या रह जाता है?

जैनदर्शन स्याद्वाद–सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्थिति के आधार से समन्वय करता है। जो धर्म वस्तु में विद्यमान हैं उन्हीं का तो समन्वय हो सकता है। जैनदर्शन को आपने वास्तव–बहुत्ववादी लिखा है। अनेक स्वतन्त्र चेतन, सत्–व्यवहार के लिए सद्रूप से 'एक' भले ही कहे जाएँ, पर वह काल्पनिक एकत्व मौलिक वस्तु की संज्ञा नहीं पा सकता। यह कैसे सम्भव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत् के प्रातिभासिक विवर्त हों। जिस काल्पनिक समन्वय की ओर

उपाध्याय जी ने संकेत किया है; उस ओर जैन दार्शनिकों ने प्रारम्भ से ही दृष्टिपात किया है। परमसंग्रहनय की दृष्टि में सद्‌रूप से यावत् चेतन–अचेतन द्रव्यों का संग्रह करके 'एकसत्' इस शब्दव्यवहार के करने में जैन दार्शनिकों को कोई आपत्ति नहीं है। पर यह एकत्व वस्तुसिद्ध भेद का अपलाप नहीं कर सकता। सैकड़ों आरोपित और काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर उनसे मौलिक तत्त्व–व्यवस्था नहीं की जा सकती। 'एक देश या एक राष्ट्र' अपने में क्या वस्तु है? भूखण्डों का अपना–अपना जुदा अस्तित्व होने पर भी बुद्धिगत सीमा की अपेक्षा राष्ट्रों की सीमाएँ बनती बिगड़ती रहती हैं उसमें व्यवहार की सुविधा के लिए प्रान्त, जिला आदि संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक हैं– मात्र व्यवहार की सुविधा के लिए प्रान्त, जिला आदि संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक है– मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पना की दौड़ का चरमबिन्दु भी हो सकता है, पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है; आज विज्ञान एटम तक का विश्लेषण कर चुका है। अतः इतना बड़ा अभेद, जिसमें चेतन–अचेतन, मूर्त–अमूर्त आदि सभी लीन हो जाँय, कल्पनासाम्राज्य की चरम कोटि है और इस कल्पनाकोटि को परमार्थसत् न मानने के कारण जैनदर्शन का स्याद्वाद–सिद्धान्त यदि आपको मूलभूत तत्त्व के स्वरूप समझने में नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है, तो हो, पर वह वस्तु की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोक की लम्बी दौड़ ही लगा सकता है।

'स्यात्' शब्द को उपाध्याय जी संशय का पर्यायवाची नहीं मानते, यह तो प्रायः निश्चित है; क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं (पृ. १७३) कि ''यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है''। पर आप उसे सम्भववाद अवश्य कहन चाहते हैं। परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'सम्भवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि सम्भावना, संशयगत उभयकोटियों में से किसी एक की अर्धनिश्चितता की ओर संकेतमात्र है, निश्चय उससे बिल्कुल भिन्न होता है, स्याद्वाद को संशय और निश्चय के मध्य में सम्भावनावाद की जगह रखने का अर्थ है कि वह एक प्रकार का अनध्यवसाय ही है; परन्तु जब स्याद्वाद का प्रत्येक भंग स्पष्ट रूप से अपनी सापेक्ष सत्यता का अवधारण करा रहा है। कि 'घड़ा स्वचतुष्टय की दृष्टि से 'है ही', इस दृष्टि से 'नहीं' कभी भी नहीं हैं। परचतुष्टय की दृष्टि से 'नहीं ही है', 'है', कभी भी नहीं'; तब संशय और सम्भावना की कल्पना ही नहीं की जा सकती। 'घटः स्यादस्त्येव' इसमें जो एवकार लगा हुआ है वह निर्दिष्ट धर्म के अवधारण को बताता है। इसप्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणों से उन–उन धर्मों का खरा निश्चय करा रहा है, तब इसे सम्भावनावाद में नहीं रखा जा सकता। यह स्याद्वाद व्यवहार, निर्वाह के लक्ष्य से

कल्पित धर्मों में भी भले ही लग जाय, पर वस्तुव्यवस्था के समय वह वस्तु की सीमा को नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद ही, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है।

सर राधाकृष्णन् के मत की मीमांसा—

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इण्डियन फिलासफी (जिल्द १, पृ. ३०५—६) में स्याद्वाद के ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि ''इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्य का ही ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद हमें अर्धसत्यों के पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता।'' आदि। क्या सर राधाकृष्णन् यह बताने की कृपा करेंगे कि स्याद्वाद ने निश्चित—अनिश्चित अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्त की तरह चेतन और अचेतन के काल्पनिक अभेद की दिमागी दौड़ में अवश्य शामिल नहीं हुआ और न वह किसी ऐसे सिद्धान्त के समन्वय करने की सलाह देता है, जिसमें वसतु स्थिति की उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन् को पूर्ण सत्य के रूप में वह काल्पनकि अभेद या ब्रह्म इष्ट है, जिसमें चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त सभी काल्पनिक रीति से समा जाते हैं। वे स्याद्वाद की समन्वय दृष्टि को अर्धसत्यों के पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है, तब उस वास्तविक नतीजे पर पहुँचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं ? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेद की ओर वस्तुस्थिति मूलक दृष्टि से नहीं जा सकता। वैसे परमसंग्रनय की दृष्टि से एक चरम अभेद की कल्पना जैन दर्शनकारों ने भी की है, जिसमें सद्रूप से सभी चेतन और अचेतन समा जाते हैं— ''सर्वमेकं सदविशेषात्''— सब एक हैं, सत् रूप से चेतन अचेतन में कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना ही है, क्योंकि ऐसा कोई एक 'वस्तुसत्' नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्य में अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन् को चरम अभेद की कल्पना ही देखनी हो, तो वह परमसंग्रह नय में देखी जा सकती है। पर वह सादृश्यमूलक अभेदोपचार ही होगा, वस्तुस्थिति नहीं। या प्रत्येक द्रव्य अपनी गुण और पर्यायों से वास्तविक अभेद रखता है, पर ऐसे स्वनिष्ठ एकत्ववाले अनन्तानन्त द्रव्य लोक में वस्तुसत् हैं। पूर्णसत्य तो वस्तु के यथार्थ अनेकान्तस्वरूप का दर्शन ही है, न कि काल्पनिक अभेद का खयाल। बुद्धिगत अभद हमारे आनन्द का विषय हो सकता है, पर इससे दो द्रव्यों की एक सत्ता स्थापित नहीं हो सकती।

कुछ इसी प्रकार के विचार प्रो. बलदेव जी उपाध्याय भी राधाकृष्णन् का अनुसरण कर 'भारतीय दर्शन' (पृ. १७३) में प्रकट करते हैं– ''इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोंबीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।'' आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन को उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तु का विचार कर रहा है, तब वह परमार्थसत् वस्तु की सीमा को कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्ति–विरुद्ध ही है; किन्तु आज के विज्ञान से उसके एकीकरण का कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञान ने एटम का भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणु की अपनी मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अत: यदि स्याद्वाद वस्तु को अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को विराम देता है, तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेद से वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करना मनोरंजन से अधिक महत्त्व की बात नहीं हो सकती।

डॉ. देवराज जी ने 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' (पृ. ६५) में 'स्यात्' शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद किया है। यह भी भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है– किसी समय। और प्रचलित अर्थ में कदाचित् शब्द एक तरह से संशय की ओर ही झुकता है। वस्तु में अस्तितव और नास्तित्व धर्म एक ही काल में रहते हैं, न कि भिन्नकाल में। कदाचित् अस्ति ओर कदाचित् नास्ति नहीं हैं, किन्तु सह– एक साथ अस्ति और नास्ति हैं। स्यात् का सही और सटीक अर्थ है– 'कथंचत्' अर्थात एक निश्चित् प्रकार से। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय द्वितीय निश्चित दृष्टिकोण से 'नास्ति' है, इनमें कालभेद नहीं है। अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वाद का अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम. ए. ने अपने ''Jain Instrumental Theory of Knowledge'' नामक लेखमें लिखा है कि ''स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित कारता है, वह पूर्ण सत्यतक नहीं ले जाता'' आदि। ये सब एक ही प्रकार के विचार हैं जो स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने या वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने के परिणाम हैं। वस्तु तो अपने स्थान पर अपने विराट् रूप में प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्तधर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं। पर हमारी दृष्टि में विरोध होने से हम उसकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं।

धर्मकीर्ति और अनेकान्तवाद–

आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।१८०–१८४) में उभयरूप तत्त्व के सवरूप में विपर्यास कर बड़े रोष से अनेकान्ततत्त्व को प्रलाप मात्र कहते हैं। वे सांख्यमत का खण्डन करने के बाद जैनमत के खण्डन का उपक्रम करते हुए लिखते हैं–

''एतेनैव यदह्रीकाः किमप्ययुक्तामाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्।।'' –प्र. वा. ३।१८०।

अर्थात् सांख्यमत के खण्डन करने से ही अह्रीक यानी दिगम्बर लोग जो कुछ अयुक्त और आकुल प्रलाप करते हैं वह खण्डित हो जाता है; क्योंकि तत्त्व एकान्त रूप ही हो सकता हैं

यदि सभी तत्त्वों को उभयरूप यानी स्व–पररूप माना जाता है, तो पदार्थों में विशेषता का निराकरण हो जाने से 'दही खाओ' इसप्रकार की आज्ञा दिया पुरुष ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता? क्योंकि दही 'स्व–दही की तरह पर ऊँट रूप भी है। यदि दही और ऊँट में कोई विशेषता या अतिशय है, तो वही विशेषता सर्वत्र मान लेनी चाहिए, ऐसी दशा में तत्त्व उभयात्मक नहीं रहकर अनुभयात्मक यानी प्रतिनियत स्वरूपवाला सिद्ध होगा।

इस प्रसंग में आचार्य धर्मकीर्ति ने जैनतत्त्व के विपर्यास करने में हद कर दी है। तत्त्व को उभयात्मक अर्थात् सत्–असदात्मक, नित्यानित्यात्मक या भेदाभेदात्मक कहने का तात्पर्य यह है कि दही, दही रूप से सत् है और दही से भिन्न उष्ट्रादि रूप से वह 'नास्ति' है। जब जैन तत्त्वज्ञान यह स्पष्ट कह रहा है कि 'हर वस्तु स्वरूप से है, पररूप से नहीं है; तब उससे तो यही फलित हो रहा है कि 'दही दही है, ऊँट आदि रूप नहीं है।' ऐसी हालत में दही खाने को कहा गया पुरुष ऊँट को खाने के लिए क्यों दौड़ेगा? जब ऊँट का नास्तित्व दही में है, तब उसमें प्रवृत्ति करने का प्रसंग किसी अनुन्मत्त को कैसे हो सकता है? दूसरे श्लोक में जिस विशेषता का निर्देश करके समाधान किया गया है, वह विशेषता तो प्रत्येक पदार्थ में स्वभावभूत मानी ही जाती है। अतः स्वास्तित्व और परनास्तित्व की इतनी स्पष्ट घोषणा होने पर भी स्वभिन्न परपदार्थ में प्रवृत्ति की बात कहना ही वस्तुतः अह्रीकता है।

उभयात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक मानकर द्रव्य यानी पुद्गलद्रव्य की दृष्टि से दही और ऊँट के शरीर को एक मानकर दही खाने के बदले ऊँट के खाने का दूषण देना भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परमाणु, स्वतन्त्र पुद्गलद्रव्य है, अनेक परमाणु मिलकर

स्कन्धरूप में दही कहलाते हैं और उनसे भिन्न अनेक परमाणु स्कन्ध का शरीर बने हैं। अनेक भिन्नसत्ताक परमाणुद्रव्यों में पुद्गलरूप से जो एकता है वह सादृश्यमूलक एकता है, वास्तविक एकता नहीं है। वे एकजातीय हैं, एकसत्ताक नहीं। ऐसी दशा में दही और ऊँट के शरीर में एकता का प्रसंग लाकर मखौल उड़ाना शोभन बात तो नहीं है। जिन परमाणुओं से दही स्कन्ध बना है उनमें भी विचारकर देखा जाय, तो सादृश्यमूलक ही एकत्वारोप हो रहा है, वस्तुत: एकत्व तो एक द्रव्य में ही है। ऐसी स्थिति में दही और ऊँट में एकत्व का भान किस स्वस्थ पुरुष को हो सकता है?

यदि कहा जाय कि ''जिन परमाणुओं से दही बना है वे परमाणु कभी–न–कभी ऊँट के शरीर में भी रहे होंगे और ऊँट के शरीर के परमाणु दही भी बने होंगे और आगे भी दही के परमाणु ऊँट का शरीर अभिन्न हो सकता है?'' सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य की अतीत और अनागत पर्यायें जुदा होती हैं, व्यवहार तो वर्तमान पर्याय के अनुसार चलता है। खाने के उपयोग में दही पर्याय आती है और सवारी के उपयोग में ऊँट पर्याय। फिर शब्द का वाच्य भी जुदा–जुदा है। दही शब्द का प्रयोग दही पर्यायवाले द्रव्यों को विषय करता है न कि ऊँट की पर्यायवाले द्रव्य को। प्रतिनियत शब्द प्रतिनियत पर्यायवाले द्रव्य का कथन करते हैं। यदि अतीत पर्याय की सम्भावना से दही और ऊँट में खाद्य–अखाद्य की व्यवस्था है। आप मृग खाद्य माना जाता है, उसी तरह दही और ऊँट में खाद्य–अखाद्य की व्यवस्था है। आप मृग और सुगत में खाद्यत्व और वन्द्यत्व का विपर्यास नहीं करते; क्योंकि दोनों अवस्थाएँ जुदा हैं और वन्द्यत्व तथा खाद्यत्व का सम्बन्ध अवस्थाओं से है, उसी तरह प्रत्येक पदार्थ की स्थिति द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायों की क्षणपरम्परा अनादि से अनन्त काल तक चली जाती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती, यही उसकी द्रव्यता ध्रौव्य या नित्यत्व है। नित्यत्व या शाश्वतपने से बिचकने की आवश्यकता नहीं है। सन्तति या परम्परा के अविच्छेद की दृष्टि से आंशिक नित्यता तो वस्तु का निजरूप है। उससे इनकार नहीं किया जा सकता। आप जो यह कहते हैं कि 'विशेषता का निराकरण हो जाने से सब सर्वात्मक हो जाएँगें', सो द्रव्यों में एकजातीयता होने पर स्वरूप की भिन्नता और विशेषता है ही। पर्यायों में परस्पर भेद ही है, अत: दही और ऊँट के अभेद का प्रसंग देना वस्तु का जानते–बूझते विपर्यास करना है। विशेषता तो प्रत्येक द्रव्य में हे और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भी मौजूद है ही, उससे इनकार नहीं किया जा सकता।

प्रज्ञाकरगुप्त और अर्चट तथा स्याद्वाद–

प्रज्ञाकरगुप्त धर्मकीर्ति के शिष्य हैं। वे प्रमाणवार्तिकालंकार में जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में दूषण देते हुए लिखते हैं[404] हैं कि ''जिस समय व्यय होगा, उस समय सत्त्व कैसे? यदि सत्त्व है; तो व्यय कैसे? अतः नित्यानित्यात्मक वस्तु की सम्भावना नहीं है। या तो वह एकान्त से नित्य हो सकती है या एकान्त से अनित्य।''

हेतुबिन्दु के टीकाकार अर्चट भी वस्तु के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक लक्षण में ही विरोध दूषण का उद्‌भावन करते हैं। वे कहते हैं[405] कि ''जिस रूप से उत्पाद और व्यय हैं उस रूप से ध्रौव्य नहीं है और जिस रूप से ध्रौव्य है उस रूप से उत्पाद और व्यय नहीं है। एक धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं हो सकते।''

किन्तु जब बौद्ध स्वयं इतना स्वीकार करते हैं कि वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है तथा उसकी इस धारा का कभी विच्छेद नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब से प्रारम्भ हुई और न यह बताया जा सकता है कि वह कब तक चलेगी। प्रथम क्षण नष्ट होकर अपना सारा उत्तराधिकार द्वितीय क्षण को सौंप देता है और वह तीसरे क्षण को। इस तरह यह क्षणसन्तति अनन्तकाल तक चालू रहती है। यह भी सिद्ध है कि विवक्षित क्षण अपने सजातीय क्षण में ही उपादान होता है, कभी भी उपादानसांकर्य नहीं होता। आखिर इस अनन्तकाल तक चलनेवाली उपादान की असंकरता का नियामक क्या है? क्यों नहीं वह विच्छिन्न होता और क्यों नहीं कोई विजातीयक्षण में उपादान बनता? ध्रौव्य इसी असंकरता और अविच्छिन्नता का नाम है। इसी के कारण कोई भी मौलिक तत्त्व अपनी मौलिकता नहीं खोता। इसका उत्पाद और व्यय के साथ क्या विरोध है? उत्पाद ओर व्यय को अपनी लाइन पर चालू रखने के लिए, और अनन्तकाल तक उसकी लड़ी बनाये रखने के लिए ध्रौव्य का मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, लेन–देन, बन्ध–मोक्ष, गुरु–शिष्यादि समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा। आज विज्ञान भी इस मूल सिद्धान्त[406] पर ही स्थिर है कि ''किसी नये

---

404 ''अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते।
एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः।।
यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तरय प्रतीयते?
पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम्।।
ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते।
प्रतीतेरेव सर्वरय तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा।।
तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः सम्भवः क्वचित्।
अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत्।।'' –प्रमाणवार्तिकाल, पृ. १४२।

405 ''ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।'' –हेतु वि. टी., पृ. १४६।

406 ''भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पपादो।।१५।।'' –पंचास्तिकाय।

सत् का उत्पाद नहीं होता और मौजूद सत् का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है'' इसमें जो तत्त्व की मौलिक स्थिति है उसी को ध्रौव्य कहते हैं। बौद्ध दर्शन में 'सन्तान' शब्द कुछ इसी अर्थ में प्रयुक्त होकर भी वह अपनी सत्यता खो बैठा है और उसे पंक्ति और सेना की तरह मृषा कहने का पक्ष प्रबल हो गया है। पंक्ति और सेना अनेक स्वतन्त्र सिद्ध मौलिक द्रव्यों में संक्षिप्त व्यवहार के लिए कल्पित बुद्धिगत स्फुरण है, जो उन्हें ही प्रतीत होता है, जिनने संकेत ग्रहण कर लिया है, परन्तु ध्रौव्य या द्रव्य की मौलिकता बुद्धिकल्पित नहीं है, किन्तु क्षण की तरह ठोस सत्य है, जो उसकी अनादि अनन्त असंकर स्थिति को प्रवहमान रखता है। जब वस्तु का स्वरूप ही इस तरह त्रयात्मक है तब उस प्रतीयमान स्वरूप में विरोध कैसा? हाँ, जिस दृष्टि से उत्पाद और व्यय कहे जाते हैं, उसी दृष्टि से यह ध्रौव्य कहा जाता तो अवश्य विरोध होता, पर उत्पाद और व्यय तो पर्याय की दृष्टि से है तथा ध्रौव्य उस द्रवणशील मौलिकत्व की अपेक्षा से है, जो अनादि से अनन्त तक अपनी पर्यायों में बहता रहता है। कोई भी दार्शनिक कैसे इस ठोस सत्य से इनकार कर सकता है? इसके बिना विचार का कोई आधार ही नहीं रह जाता।

बुद्ध को शाश्वतवाद से यदि भय था, तो वे उच्छेदवाद भी तो नहीं चाहते थे। ये तत्त्व को न शाश्वत कहते थे और न उच्छिन्न। उनने उसके स्वरूप को दो 'न' से कहा, जब कि उसका विध्यात्मक रूप उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक ही बन सकता है। बुद्ध तो कहते हैं कि न तो वस्तु नित्य है और न सर्वथा उच्छिन्न जब कि प्रज्ञाकरगुप्त यह विधान करते हैं कि या तो वस्तु को नित्य मानो या क्षणिक अर्थात् उच्छिन्न। क्षणिक का अर्थ उच्छिन्न मैंने जानबूझकर इसलिए किया है कि ऐसा क्षणिक, जिसके मोलिकत्व और असंकरता की कोई गारंटी नहीं है, उच्छिन्न के सिवाय क्या हो सकता है? वर्तमान क्षण में अतीत के संस्कार और भविष्य की योग्यता का होना ही ध्रौव्यत्व की व्याख्या है। अतीत का सद्भाव तो कोई भी नहीं मान सकता और न भविष्यत का ही। द्रव्य को त्रैकालिक भी इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह अतीत से प्रवहमान होता हुआ वर्तमान तक आया है और आगे की मंजिल की तैयारी कर रहा है।

अर्चट कहते हैं कि जिस रूप से उत्पाद और व्यय हैं उस रूप से ध्रौव्य नहीं; सो ठीक है, किन्तु 'वे दोनों रूप एक धर्मी में नही रह सकते' यह कैसे? जब सभी प्रमाण उस अनन्तधर्मात्मक वस्तु की साक्षी दे रहे हैं तब उसका अंगुली हिलाकर निषेध कैसे किया जा सकता है?

''यस्मिन्नेव वु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा।।''

यह कर्म और कर्मफल को एक अधिकरण में सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्पष्ट कह रहा है कि जिस सन्तान में कर्मवासन– यानी कर्म के संस्कार पड़ते हैं, उसी में फल का अनुसंधान होता है। जैसे कि जिस कपास के बीज में लाक्षा रस का सिंचन किया गया है उसी से उत्पन्न होनेवाली कपास लाल रंग की होती है। यह सब क्या है? सन्तान एक सन्तन्यमान तत्त्व है जो पूर्व और उत्तर को जोड़ता है और वे पूर्व तथा उत्तर परिवर्तित होते हैं। इसी को तो जैन ध्रौव्य शब्द से कहते हैं, जिसके कारण द्रव्य अनादि–अनन्त परिवर्तमान रहता है। द्रव्य एक आम्रेडित अखण्ड मौलिक है। उसका अपने धर्मों से कथंचित् भेदाभेद या कथंचित्तादात्म्य है। अभेद इसलिए कि द्रव्य से उन धर्मों को पृथक् नहीं किया जा सकता, उनका विवेचन– पृथक्करण अशक्य है। भेद इसलिए कि द्रव्य और पर्यायों में संज्ञा, संख्या, स्वलक्षण और प्रयोजन आदि की विविधता पाई जाती है।

अर्चट को इस पर भी आपत्ति है। वे लिखते हैं[४०७] हैं कि ''द्रव्य और पर्याय में संख्यादि के भेद से भेद मानना उचित नहीं है। भेद और अभेद पक्ष में जो दोष होते हैं वे दोनों पक्ष मानने पर अवश्य होंगे। भिन्नाभिन्नात्मक एक वस्तु की सम्भावना नहीं है, अत: यह वाद दुष्टकल्पित है।'' आदि।

परन्तु जो अभेद अंश है वही द्रव्य है और भेद है वही पर्याय है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद नहीं माना गया है, जिससे भेदपक्ष और अभेदपक्ष के दोनों दोष ऐसी वस्तु में आवें। स्थिति यह है कि द्रव्य एक अखण्ड मौलिक है। उसके कालक्रम से होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। वे उसी द्रव्य में होते हैं। यानी द्रव्य अतीत के संस्कार लेता हुआ वर्तमान पर्यायरूप होता है और भविष्य के लिए कारण बनता है। अखण्ड द्रव्य को समझाने के लिए उसमें अनेक गुण माने जाते हैं, जो पर्यायरूप से परिणत होते हैं। द्रव्य और पर्याय में जो संाभेद, संख्याभेद, लक्षणभेद और कार्यभेद आदि बताये जाते हैं, वे उन दोनों का भेद समझाने के लिए हैं, वस्तुत: उनसे ऐसा भेद नहीं है, जिससे पर्यायों को द्रव्य से निकलकर जुदा बताया जा सके। पर्यायरूप से द्रव्य अनित्य है। द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्याय

407 'द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुन: किल।
तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेद: संज्ञादिभेदत:।।१।।
भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते।।६२।।
न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जाल्मकल्पित:।।४५।।' –हेतुवि. टी., पृ. १०४–१०७।

यदि नित्य कही जाती है तो भी कोई दूषण नहीं है; क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व किसी–न–किसी पर्याय में ही तो होता है। द्रव्य का स्वरूप जुदा और पर्याय का स्वरूप जुदा– इसका इतना ही अर्थ है कि दोनों को पृथक् समझाने के लिए उनके लक्षण जुदा–जुदा होते हैं। कार्य भी जुदे इसलिए हैं कि द्रव्य से अन्वयज्ञान होता है जब कि पर्यायों से व्यावृत्तज्ञान या भेदज्ञान। द्रव्य एक होता है और पर्यायें कालक्रम से अनेक। अत: इन संज्ञा आदि से वस्तु के टुकड़े मानने पर जो दूषण दिये जाते हैं वे इसमें लागू नहीं होते। हाँ, वैशेषिक जो द्रव्य, गुण और कर्म आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उसके भेदपक्ष में इन दूषणों का समर्थन तो जैन भी करते हैं। सर्वथा अभेदरूप ब्रह्मवाद में विवर्त, विकार या भिन्नप्रतिभास आदि की सम्भावना नहीं है। प्रतिपाद्य–प्रतिपादक, ज्ञान–ज्ञेय आदि का भेद भी असम्भव है। इस तरह एक पूर्वबद्ध धारणा के कारण जैनदर्शन के भेदाभेदवाद में

बिना विचारे ही विरोधादि दूषण लाद दिये जाते हैं। 'सत् सामान्य से जो सब पदार्थों को 'एक' कहते हैं वह वस्तुसत् ऐक्य नहीं है, व्यवहारार्थ संग्रहभूत एकत्व है, जो कि उपचरित है, मुख्य नहीं। शब्दप्रयोग की दृष्टि से एक द्रव्य में विवक्षित धर्मभेद और द्व्र द्रव्यों में रहनेवाला परमार्थसत् भेद, दोनों बिल्कुल जुदे प्रकार के हैं। वस्तु की समीक्षा करते समय हमें सावधानी से उसके वर्णित स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

शान्तरक्षित और स्याद्वाद–

आ. शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में स्याद्वादपरीक्षा (पृ. ४८६) नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा है। वे सामान्यविशेषात्मक या भावाभावात्मक तत्त्व में दूषण उद्भावित करते हैं कि ''यदि सामान्य और विशेषरूप एक ही वस्तु है, तो एक वस्तु से अभिन्न होने के कारण सामान्य और विशेष में स्वरूपसांकर्य हो जाएगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न हैं और उनसे वस्तु अभिन्न होने जाती है; तो वस्तु में भेद हो जाएगा। विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी हैं, अत: वे एक वस्तु में नहीं हो सकते। नरसिंह, मेचकरत्न आदि दृष्टान्त भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सब अनेक अणुओं के समूहरूप हैं, अत: उनका यह स्वरूप अवयवी की तरह विकलप–कल्पित है।'' आदि।

बौद्धाचार्यों की एक ही दली है कि एक वस्तु दो रूप नहीं हो सकती। वे सोचें कि जब प्रत्येक स्वलक्षण परस्पर भिन्न हैं, एक दूसरे रूप नहीं हैं, तो इतना तो मानना ही चाहिए कि रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षणत्वेन 'अस्ति' है और रसादिस्वलक्षणत्वेन 'नास्ति' है, अन्यथा रूप और रस मिलकर एक हो जाएँगें। हम

स्वरूप–अस्तित्व को ही पररूपनास्तित्व नहीं कह सकते; क्योंकि दोनों की अपेक्षाएँ जुदा–जुदा हैं, प्रत्यय भिन्न–भिन्न हैं और कार्य भिन्न–भिन्न हैं। एक ही हेतु स्वपक्ष का साधक होता है और परपक्ष का दूषक, इन दोनों धर्मों की स्थिति जुदा–जुदा है। हेतु में यदि केवल साधक स्वरूप ही हो; तो उसे स्वपक्ष की तरह परपक्ष को भी सिद्ध की करना चाहिए। इसी तरह दूषकरूप ही हो; तो परपक्ष की तरह स्वपक्ष का भी दूषण ही करना चाहिए। यदि एक हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व तीनों रूप भिन्न–भिन्न माने जाते हैं; तो क्यों नहीं सपक्षसत्त्व को ही विपक्षासत्त्व मान लेते? अत: जिस प्रकार हेतु में विपक्षासत्त्व सपक्षसत्त्व से जुदा रूप है उसी तरह प्रत्येक वस्तु में स्वरूपास्तित्व से पररूपनास्तित्व जुदा ही स्वरूप है। अन्वयज्ञान और व्यतिरेकज्ञानरूप प्रयोजन और कार्य भी उनके जुदे ही हैं। यदि रूपस्वलक्षण अपने उत्तररूपस्वलक्षण में उपादान होता है और रसस्वलक्षण में निमित्त; तो उसमें ये दोनों धर्म विभिन्न हैं या नहीं? यदि रूप में एक ही स्वभाव से उपादान और निमित्तत्व की व्यवस्था की जाती है? तो बताइए एक ही स्वभाव दो रूप हुआ या नहीं? उसने दो कार्य किये या नहीं? तो जिस प्रकार एक ही स्वभाव रूप की दृष्टि से उपादान है और रस की दृष्टि से निमित्त, उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में अनेक धर्म मानने में क्यों विरोध का हल्ला किया जाता है?

बौद्ध कहते हैं कि ''दृष्ट पदार्थ के अखिल गुण दृष्ट हो जाते हैं, पर भ्रान्ति से उनका निश्चय नहीं होता, अत: अनुमान की प्रवृत्ति होती है।''[४०८] यहाँ प्रत्यक्षपृष्ठीाावी विकल्प से नीलस्वलक्षण के नीलांशका निश्चय होने पर क्षणिकत्व और स्वर्गप्रापणशक्ति आदि का निश्चय नहीं होता, अत: अनुमान करना पड़ता है; तो एक ही नीलस्वलक्षण में अपेक्षाभेद से निश्चितत्व और अनिश्चितत्व ये दो धर्म तो मानना ही चाहिए। पदार्थ में अनेक धर्म या गुण मानने में विरोध का कोई स्थान नहीं है, वे तो प्रतीत हैं। वस्तु में सर्वथा भेद स्वीकार करनेवाले बौद्धों के यहाँ पररूप से नास्तित्व माने बिना स्वरूप की प्रतिनियत व्यवस्था ही नहीं बन सकती। दानक्षण का दानत्व प्रतीत होने पर भी उसकी स्वर्गदानशक्ति का निश्चय नहीं होता। ऐसी दशा में दानक्षण में निश्चितता और अनिश्चितता दोनों ही मानना होंगी। एक रूपस्वलक्षण अनादिकाल से अनन्तकाल तक प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद नहीं होता, वह न तो सजातीय रूपान्तर बनता है और न विजातीय रसादि ही। यह उसकी जो अनाद्यनन्त असंकर स्थिति है, उसका क्या नियामक है? वस्तु

---

408 ''तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुण:। भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते।।'' –प्रमाणवा. ३।४४।

विपरिवर्तमान होकर भी जो समाप्त नहीं होती, इसी का नाम ध्रौव्य है जिसके कारण विवक्षित क्षण क्षणान्तर नहीं होता और न सर्वथा उच्छिन्न ही होता है। अतः जब रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षण ही है, रसादि नहीं, रूपस्वलक्षण प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ भी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होता, रूपस्वलक्षण उपादान भी है और निमित्त भी, रूपस्वलक्षण निश्चित भी और अनिश्चित भी, स्वरूपस्वलक्षणों में सादृश्यमूलक सामान्य धर्म भी है और वह विशेष भी है, रूपस्वलक्षण रूपशब्द का अभिधेय है रसादि का अनभिधेय; तब ऐसी स्थिति में उसकी अनेकधर्मात्मकता स्वयं सिद्ध है।

स्याद्वाद वस्तु की इसी अनेकान्तात्मकता का प्रतिपादन करनेवाली एक भाषा पद्धति है, जो वस्तु का सही–सही प्रतिनिधित्व करती है। आप सामान्य को अन्यापोहरूप कह भी लीजिए पर 'अगोव्यावृत्ति गोव्यक्तियों में ही क्यों पायाी जाती है, अश्वादि में क्यों नहीं' इसका नियामक गो में पाया जानेवाला सादृश्य ही हो सकता है। सादृश्य दो पदार्थों में पाया जानेवाला एक धर्म नहीं है, किन्तु प्रत्येकनिष्ठ है। जितने पररूप हैं उनकी व्यावृत्ति यदि वस्तु में पायी जाती है, तो उतने धर्मभेद मानने में क्या आपत्ति है? प्रत्येक वस्तु अपने अखण्डरूप में अविभागी और अनिर्वाच्य होकर भी जब उन–उन धर्मों की अपेक्षा निर्देश होती है तो उसकी अभिधेयता स्पष्ट ही है। वस्तु का अवक्तव्यत्व धर्म स्वयं उसकी अनेकान्तात्मकता को पुकार–पुकारकर कह रहा है। वस्तु में इतने धर्म, गुण और पर्याय हैं कि उसके पूर्ण स्वरूप को हम शब्दों से नहीं कह सकते और इसीलिए उसे अवक्तव्य कहते हैं। आ. शान्तिरक्षित[४०९] स्वयं क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद में अनाद्यनन्त और असंक्रान्ति विशेषण देकर उसकी सन्ततिनित्यता स्वीकार करते हैं, फिर भी द्रव्य के नित्यानित्यात्मक होने में उनहें विरोध का भय दिखाई देता है। किमाश्चर्यमतः परम्।। अनन्त स्वलक्षणों की परस्पर विविक्तसत्ता मानकर पररूप–नास्तित्व से नहीं बचा जा सकता। मेचकरत्न या नरसिंह का दृष्टान्त तो स्थूल रूप से ही दिया जाता है, क्योंकि जब तक मेचकरत्न अनेकाणुओं का कालान्तरस्थायी संघात बना हुआ है और जब तक उनमें विशेष प्रकार का रासायनिक मिश्रण होकर बन्ध है; तब तक मेचकरत्न की, सादृश्यमूलक पुँज के रूप में ही सही, एक सत्ता तो है ही और उसमें उस समय अनेक रूपों का प्रत्यक्ष दर्शन होता ही है। नरसिंह भी इसी तरह कालान्तरस्थायी संघात के रूप में एक होकर भी अनेकाकार के रूप में प्रत्यक्षगोचर होता है।

---

409 तत्त्वसं. श्लो. ४।

तत्त्वसं. त्रैकाल्यपरीक्षा (पृ. ५०४) में कुछ बौद्धैकदेशियों के मत दिये हैं, जो त्रिकालवर्ती द्रव्य को स्वीकार करते थे। इनमें भदन्त धर्मत्रात भावान्यथावादी थे। वे द्रव्य में परिणाम न मानकर भाव में परिणाम मानते थे। जैसे कटक, कुण्डल, केयूरादि अवस्थाओं में परिणाम होता है। द्रव्यस्थानीय सुवर्ण में नहीं, उसी तरह धर्मों में अन्यथात्व होता है, द्रव्य में नहीं। धर्म ही अनागतपने को छोड़कर वर्तमान बनता है और वर्तमान को छोड़कर अतीत के गह्वर में चला जाता है।

भदन्त घोषक लक्षणान्यथावादी थे। एक ही धर्म अतीतादि लक्षणों से युक्त होकर अतीत, अनागत ओर वर्तमान कहा जाता है।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथावादी थे। धर्म अतीतादि भिन्न–भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त कर अतीतादि कहा जाता है, द्रव्य तो त्रिकालानुयायी रहता है। जैसे– एक मिट्टी की गोली भिन्न–भिन्न गोलियों के ढेर में पड़कर अनेक संख्यावाली हो जाती है उसी तरह धर्म अतीतादि व्यवार को प्रापत हो जाता है, द्रव्य एक रहता है।

बुद्धदेव अन्यथान्यथिक थे। धर्म पूर्व–पर की अपेक्षा अन्य–अन्य कहा जाता है। जैसे एक ही स्त्री माता भी है और पुत्री भी। जिसका पूर्व ही है, अपर नहीं, वह अनागत कहलाता है। जिसका पूर्व भी है और अपर भी, वह वर्तमान; और जिसका अपर ही है, पूर्व नहीं; वह अतीत कहलाता है।

ये चारों असितवादी कहे जाते थे। इनके मतों का विस्तृत विवरण नहीं मिलता कि ये धर्म और अवस्था से द्रव्य का तादात्म्य मानते थे, या अन्य कोई सम्बन्ध, फिर भी इतना तो पता चलता है कि ये वादी य अनुभव करते थे कि सर्वथा क्षणिकवाद में लोक–परलोक, कर्म–फलव्यवस्था आदि नहीं बन सकते, अत: किसी रूप में ध्रौव्य या द्रव्य के स्वीकार किये बिना चारा नहीं है।

शान्तरक्षित स्वयं परलोकपरीक्षा[410] में चार्वाक का खण्डन करते समय ज्ञानादि सन्तति को अनादि–अनन्त स्वीकार करके ही परलोक की व्याख्या करते हैं। यह ज्ञानादि–सन्तति का अनाद्यनन्त होना ही तो द्रव्यता या ध्रौव्य है, जो अतीत के संस्कारों को लेता हुआ भविष्यत का कारण बनता जाता है। कर्म–फलसम्बन्धपरीक्षा (पृ. १८४) में किन्हीं

---

410 'उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्तते:।
काचिन्नियतमर्यादावस्थैव परिकीर्त्यते।।
तस्याश्चानाद्यनन्ताया: पर: पूर्व इहेति च' –तत्त्वसं. श्लो. १८७२–७३।

चित्तों में विशिष्ट कार्यकारणभाव मानकर ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि के घटाने का जो प्रयास किया गया है वह संस्काराधायक चित्तक्षणों की सन्तति में ही सम्भव हो सकता है' यह बात स्वयं शान्तरक्षित भी स्वीकार करते हैं। वे बन्ध और मोक्ष की व्याख्या करते हुए लिखते हैं[411] हैं कि कार्यकारण परम्परा से चले आये अविद्या, संस्कार आदि बन्ध हैं और इनके नाश हो जाने पर जो चित्त की निर्मलता होती है उसे मुक्ति कहते हैं। इसमें जो चित्त की अनुस्यूतता और अनाद्यनन्तता का स्पष्ट निरूपण है, जो वस्तु को एक ही समय में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध कर देता है। तत्त्वसंग्रहपंजिका (पृ. १८४) में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक है में ते ''तदेव तैर्विर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते'' यह कहकर 'तदेव' पद से चित्त की सान्वयता और बन्ध–मोक्षाधारता का अतिविशिद वर्णन कर दिया गया है।

'किन्हीं चित्तों में ही विशिष्ट कार्यकारणभाव का मानना और अन्य में नहीं', यह प्रतिनियत स्वभाव व्यवस्था तत्त्व को भावाभावात्मक माने बिना बन नहीं सकती। यानी वे चित्त, जिनमें परस्पर उपादानोपादेयभाव होता है, परस्पर कुछ विशेषता अवश्य ही रखते हैं, जिसके कारण उन्हीं में ही प्रतिसन्धान, वास्यवासकभाव, कर्तृ–भोक्तृभाव आदि एकात्मगत व्यवस्थाएँ जमती हैं, सन्तानान्तर चित्तों में नहीं। एकसन्तानगत चित्तों में ही उपादानोपादेयभाव होता है, सन्तानान्तर चित्तों में नहीं। यह प्रतिनियत सन्तानव्यवस्था स्वयं सिद्ध करती है कि तत्त्व केवल उत्पाद–व्यय की निरन्वय परम्परा नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व और उत्तर पर्यायों के उत्पाद–व्यय की निरन्वय परम्परा नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व और उत्तर पर्यायों के उत्पाद–व्ययरूप से बदलते रहने पर भी कोई ऐसा अविकारी कूटस्थ नित्य अंश नहीं है, जो सभी पर्यायों में सूत की तरह अविकृत भाव से पिरोया जाता हो। पर वर्तमान अतीत की यावत् संस्कार–सम्पत्ति का मालिक बनकर ही तो भविष्य को अपना उत्तराधिकारी देता है। यह जो अधिकार के ग्रहण और विसर्जन की परम्परा अमुक–चित्तक्षणों में ही चलती है, सन्तानान्तर चित्तों में नहीं, वह प्रकृत चित्तक्षणों का परस्पर ऐसा तादात्म्य सिद्ध कर रही है, जिसको हम सहज ही ध्रौव्य या द्रव्य की जगह बैठा सकते हैं। बीज और अंकुर का कार्यकारणभाव भी सर्वथा निरन्वय नहीं है, किन्तु जो अणु पहले बीज के आकार में थे, उन्हीं में कुछ अणु अन्य अणुओं का साहचर्य पाकर अंकुराकार को धारण कर लेते हैं। यहाँ भी ध्रौव्य या द्रव्य विच्छिन्न नहीं होता, केवल अवस्था बदल जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद में भी प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो क्रियाओं का एक कर्ता माने बिना गति नहीं है। 'केवल क्रियाएँ

---

411 ''कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मताः।
बन्धस्तद्विगमादिष्टो युक्तिनिर्मलता धियः।।'' –तत्त्वसं. श्लो. ५४४।

ही हैं और कारक नहीं है', यह निराश्रय बात प्रतीति का विषय नहीं होती। अतः तत्त्व को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक तथा व्यवहार के लिए सामान्य विशेषात्मक स्वीकार करना चाहिए।

कर्णकगोमि और स्याद्वाद–

सर्वप्रथम ये दिगम्बरों के 'अन्यापोह–इतरेतराभाव न मानने पर एक वस्तु सर्वात्मक हो जायगी' इस सिद्धान्त का खण्डन[412] करते हुए लिखते हैं कि 'अभाव के द्वारा भावभेद नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थ अपने कारणों से अभिन्न उत्पन्न हुए हैं, तो अभाव उनमें भेद नहीं डाल सकता और यदि भिन्न उत्पन्न हुए हैं, तो अन्योन्याभाव की कल्पना ही व्यर्थ है।'

वे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेष अर्थात् द्रव्य–पर्यायात्मक वस्तु में दूषण देते हुए लिखते हैं कि ''सामान्य और विशेष में अभेद मानने पर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा या अत्यन्त भेद। अनन्तधर्मात्मक धर्मी प्रतीत नहीं होता, अतः लक्षणभेद से भी भेद नहीं हो सकता। दही और ऊँट परस्पर अभिन्न है; क्योंकि ऊँट से अभिन्न द्रव्यत्व से दही का तादात्म्य हैं अतः स्याद्वाद मिथ्यावाद है[413]'' आदि।

यह ठीक है कि समस्त पदार्थ अपने–अपने कारणों से स्वस्वभाव स्थित उत्पन्न होते हैं; परन्तु एक पदार्थ दूसरे से भिन्न है' इसका अर्थ है कि जगत् इतरेतराभावात्मक है। इतरेतराभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ होकर दो पदार्थों में भेद नहीं डालता, किन्तु पटादि का इतरेतराभाव घटरूप है और घट का इतरेतराभाव पटादिरूप है। पदार्थ में दोनों रूप है– स्वास्तित्व और परनास्तित्व। परनास्तित्वरूप को ही इतरेतराभाव कहते हैं। दो पदार्थ अभिन्न अर्थात् एकसत्ताक तो उत्पन्न होते ही नहीं है। जितने पदार्थ हैं सब अपनी–अपनी धारा से बदलते हुए स्वरूपस्थ हैं। दो पदार्थों के स्वरूप का प्रतिनियत होना ही एक का

---

412 ''योऽपि दिगम्बरो मन्यते– सर्वात्मकमेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। तस्माद् भेद एवान्यथा न स्यादन्योन्याभावो भावानां यदि न भवेदिति; सोऽप्यनेन निरस्तः, अभावेन भावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्। नाप्यभिन्नानां हेतुतो निष्पन्नानामन्योन्याभावः सम्भवति, अभिन्नाश्चेन्निष्पन्नाः; कथमन्योन्याभावः सम्भवति? भिन्नाश्चेन्निष्पन्नाः कथमन्योन्याभावकल्पनेत्युक्तम्।' प्र. वा. स्ववृ. टी., पृ. १०९।

413 ''तेन योऽपि दिगम्बरो मन्यते– नास्माभिः घटपटादिष्वेकं सामान्यमिष्यते, तेषामेकान्तभेदात्, किन्त्वपरापरेण पर्यायेणावस्थासंज्ञितेन परिणामि द्रव्यम्, एतदेव च सर्वपर्यानुयायित्वात् सामान्यमुच्यते। तेन युगपदुत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इति वस्तुनो लक्षणमिति। तदाह–घटमौलिसुवर्णार्थी... सोऽप्यत्र निराकृत एव द्रष्टव्यः, तद्वति सामान्यविशेषवति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदभेदौ स्याताम्.... अथ सामान्यविशेषयोः कथंचिद्भेद इष्यते। अत्राप्याह–अन्योन्यमित्यादि। सदृशासदृशात्मनोः सामान्यविशेषयोः यदि कथंचिदन्योन्यं परस्परं भेदः तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात् दिगम्बरस्यापि तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्। मिथ्यावाद एव स्याद्वादः।।'' –प्र. वा. स्ववृ. टी. पृ. ३३२–४२।

दूसरे में अभाव है, जो तत्–तत् पदार्थ के स्वरूप ही होता है, भिन्न पदार्थ नहीं है। भिन्न अभाव में तो जैन भी यही दूषण देते हैं।

द्रव्य–पर्यायात्मक वस्तु में कालक्रम से होनेवाली अनेक पर्यायें परस्पर उपादानोपादेयरूप से जो अनाद्यनन्त बहती हैं, कभी भी उच्छिन्न नहीं होतीं और न दूसरी धारा से संक्रान्त होती हैं, इसी को ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। अव्यभिचारी उपादान–उपादेयभाव का नियामक यही होता है, अन्यथा सन्तानान्त रक्षण के साथ उपादानोपादेयभाव को कौन रोक सकता है? इसमें जो यह कहा जाता कि 'द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्यायें एकरूप हो जाएँगी या द्रव्य भिन्न हो जाएगा', सो जब द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप से प्रतिक्षण परिवर्तित होता जाता है, तब वह पर्यायों की दृष्टि से अनेक है और उन पर्यायों में जो स्वधाराबद्धता है उस रूप से वे सब एकरूप ही हैं। यन्तानान्तर के प्रथम क्षण से स्वसन्तान के प्रथमक्षण में जो अन्तर है और जिसके कारण अन्तर है और जिसकी वजह स्वसन्तान और परसन्तान विभाग होता है वही ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य है। ''स्वभाव–परभावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः।'' (प्रमाणवा. ३।३९) इत्यादि श्लोकों में जो सजातीय और विजातीय या स्वभाव और परभाव शब्द का प्रयोग किया गया है, यह 'स्व–पर' विभाग कैसे होगा? जो 'स्व' की रेखा है वही ऊर्ध्वता सामान्य है।

दही और ऊँट में अभेद की बात तो निरी कल्पना है; क्योंकि दही और ऊँट में कोई एक द्रव्य अनुयायी नहीं है, जिसके कारण उनमें एकत्व का प्रसंग उपस्थित हो। यह कहना कि 'जिस प्रकार अनुगत प्रत्यय के बलपर कुण्डल, कटक आदि में एक सुवर्णसामान्य माना जाता है उसी तरह ऊँट और दही में भी एक द्रव्य मानना चाहिए' उचित नहीं है; क्योंकि वस्तुतः द्रव्य तो पुद्गल अणु ही हैं। सुवर्ण आदि भी अनेक परमाणुओं की चिरकाल तक एक–जैसी बनी रहनेवाली सदृश स्कन्ध अवस्था ही है और उसी के कारण उसके विकारों में अन्वय प्रत्यय होता है। प्रत्येक आत्मा का अपनी हर्ष, विषाद, सुख आदि पर्यायों में कालभेद होने पर भी जो अन्वय है वह ऊर्ध्वतासामान्य है। एक पुद्गलाणु का अपनी कालक्रम से होनेवाली अवस्थाओं में जो अविच्छेद हे वह भी ऊर्ध्वतासामान्य ही है, इसी के कारण उनमें अनुगत प्रत्यय होता है इनमें उस रूप से एकत्व या अभेद कहने में कोई आपत्ति नहीं; किन्तु दो स्वतन्त्र द्रव्यों में सादृश्यमूलक ही एकत्व का आरोप होता है, वास्तविक नहीं। अतः जिन्हें हम मिट्टी या सुवर्ण द्रव्य कहते हैं वे सब अनेक परमाणुओं के स्कन्ध हैं। उन्हें हम व्यवहारार्थ ही एक द्रव्य कहते हैं। जिन परमाणुओं के स्कन्ध में सुवर्ण जैसा पीला रंग, वनज, लचीलापन आदि जुट जाता है उन्हें हम

प्रतिक्षण सदृश स्कन्धरूप परिणमन होने के कारण स्थूल दृष्टि से 'सुवर्ण' कह देते हैं। इसी तरह मिट्टी, तन्तु आदि में भी समझना चाहिए। सुवर्ण ही जब आयुर्वेदीय प्रयोगों से जीर्णकर भस्म बना दिया जाता है और वही पुरुष के द्वारा भुक्त होकर मलादि रूप से परिणत हो जाता है तब भी एक अविच्छिन्न धारा परमाणुओं की बनी रहती है, 'सुवर्ण' पर्याय तो भस्म आदि बनकर समाप्त हो जाती है। अत: अनेकद्रव्यों में व्यवहार के लिए जो सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार होता है वह व्यवहार के लिए ही है। यह सादृश्य बहुत से अवयवों या गुणों की समानता है और यह प्रत्येकव्यक्तिनिष्ठ होता है, उभयनिष्ठ या अनेकनिष्ठनहीं। गौ का सादृश्य गवयनिष्ठ है और गवय का सादृश्य गौनिष्ठ है। इस अर्थ में सादृश्य नहीं है जो दो वस्तुओं में अनुस्यूत रहता हो। इसकी प्रतीति अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो व्यक्तिनिष्ठ ही है। अत: जैनों के द्वारा माना गया तिर्यक्सामान्य जिससे कि भिन्न–भिन्न द्रव्यों में सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार होता हे, अनेकानुगत न होकर प्रत्येक में परिसमाप्त है। इसको निमित्त बनाकर जो अनेक व्यक्तियों में अभेद कहा जाता है वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। ऐसी दशा में दही और ऊँअ में अभेद का व्यवहार एक पुद्गल सामान्य की दृष्टि से जो किया जा सकता है वह औपचारिक कल्पना है। ऊँट चेतन है और दही अचेतन, अत: उन दोनों में पुद्गल सामान्य की दृष्टि से अभेद व्यवहार करना असंगत ही है। ऊँट के शरीर के और दही के परमाणुओं से रूप–रस–गन्ध–स्पर्शवत्त्वरूप सादृश्य मूलक स्थूलप्रत्यय तो बौद्ध भी मानते ही हैं।

तात्पर्य यह कि जैनी तत्त्वव्यवस्था को समझे बिना ही यह दूषण धर्मकीर्ति ने जैनों को दिया है। इस स्थिति को उनके टीकाकार आचार्य कर्णक गोमि ने ताड़ लिया, अतएव वे वहीं शंका करके लिखते हैं कि ''शंका– जब कि दिगम्बरों का यह दर्शन नहीं है कि 'सर्व सर्वात्मक है या सर्व सर्वात्मक नहीं है' तो आचार्य ने क्यों उनके लिए यह दूषण दिया? समाधान– सत्य है, यथादर्शन अर्थात् जैसा उनका दर्शन है उसके अनुसार तो 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' यही दूषण आता है[४१४] प्रकृत दूषण नहीं।''

बात यह है कि सांख्य का प्रकृतिपरिणामवाद और उसकी अपेक्षा जो भेदाभेद है उसे जैनों पर लगाकर इन दार्शनिकों ने जैनदर्शन के साथ न्याय नहीं किया। सांख्य एक प्रकृति की सत्ता मानता है। वही

---

414 ''ननु दिगम्बराणां 'सर्वं सर्वात्मकं, न सर्वं सर्वात्मकम्' इति नैतद्दर्शनम्, तत्किमर्थमिदमाचार्येणोच्यते? सत्यं, यथादर्शनं तु 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' इत्यादिना पूर्वमेव दूषितम्।'' –प्रमाणवा. स्ववृ. टी. पृ. ३३९।

प्रकृति दहीरूप भी, बनती है और ऊँट रूप भी, अत: एक प्रकृतिरूप से दही और ऊँट में अभेद का प्रसंग देना उचित होभी सके, पर जैन तत्त्वज्ञान का आधार बिल्कुल जुदा है। वह वास्तव–बहुत्ववादी है और प्रत्येक परमाणु को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। अनेक द्रव्यों में सादृश्यमूलक एकत्व उपचरित है, आरोपित है और काल्पनिक है। रह जाती है एक द्रव्य की बात; सो उसके एकत्व का लोप स्वयं बौद्ध भी नहीं कर सकते। निर्वाण में जिस बौद्धप्क्ष ने चित्तसन्तति का सर्वथा उच्छेद माना है उसने दर्शनशास्त्र के मौलिक आधारभूत नियम का ही लोप कर दिया है। चित्तसन्तति स्वयं अपने में 'परमार्थसत्' है। वह कभी भी उच्छिन्न नहीं हो सकती। बुद्ध स्वयं उच्छेदवादे के उतने ही विरोधी थे, जितने कि उपनिषत्प्रतिपादित शाश्वतवाद के। बौद्धदर्शन की सबसे बड़ी और मोटी भूल यह हे कि उसके एक प्क्ष ने निर्वाण अवस्था में चित्त सन्तति का सर्वथा उच्छेद मान लिया है। इसी भय से बुद्ध ने स्वयं निर्वाण को अव्याकृत कहा था, उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भाव या अभाव किसी रूप में उनने कोई उत्तर नहीं दिया था। बुद्ध के इस मौन ने ही उनके तत्त्वज्ञान में पीछे अनेक विरोधी विचारों के उदय का अवसर उपस्थित किया है।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और अनेकान्तवाद

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि[४१५] (परि., खं. २) टीका में निर्ग्रन्थादि के मत के रूप से भेदाभेदवाद का पूर्वपक्ष करके दूषण दिया है कि "दो धर्म एक धर्मी में असिद्ध हैं।" किन्तु जब प्रतीति के बल से उभयात्मकता सिद्ध होती है, तब मात्र 'असिद्ध' कह देने से उनका निषेध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में पहिले लिखा जा चुका है। आश्चर्य तो इस बात को ळे कि एक परम्परा ने जो दसरे के मत के खण्डन के लिए 'नारा' लगाया, उस परम्परा के अन्य विचारक भी आँख मूँदकर उसी 'नारे' को बुलन्द किये जाते हैं। वे एक बार भी रुककर सोचने का प्रयत्न ही नहीं करते। स्याद्वाद और अनेकान्त के सम्बन्ध में अब तक यही होता आया है।

इस तरह स्याद्वाद और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में जितने भी दूषण बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में देखे जाते हैं वे तत्त्व का विपर्यास करके ही थोपे गये हैं और आज भी वैाानिक दृष्िअकोण की दुहाई देनेवाले मान्य दर्शन लेखक इस सम्बन्ध में उसी पुरानी रूढि से चिपके हुए हैं। यह महान् आश्चर्य ळै।

---

415 'सद्भूता धर्मा: सत्तादिधर्मैं: समाना भिन्नाश्चापि, यथा निर्ग्रन्थादीनाम्। तन्मतं न समञ्जसम्। कस्मात्? न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात्।.... उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्।.. .. भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूतं न्यायासिद्धं सत्याभासं गृहीतम्।' –विज्ञप्ति. परि. २, ख. २।

श्री जयराशिभट्ट और अनेकान्तवाद–

तत्त्वोपप्लवसिंह एक खण्डनग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों का उपप्लव ही निरूपित है। इसके कर्ता जयराशि भट्ट ळें। वे दिगम्बरों द्वारा आत्मा और सुखादि का भेदाभेद मानने में आपत्ति उठाते हैं[४१६] कि ''एकत्व अर्थात् एक स्वभावता। एकस्वभावता मानने पर नानास्वभावता नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों में विरोध है। उसी को नित्य और उसी को अनित्य कैसे कहा जा सकता है? पररूप से असत्त्व और सवरूप से सत्त्व मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि– वस्तु तो एक है। यदि उसे अभा कहते हैं तो भाव क्या होगा? यदि पररू‍ से अभाव कहा जाता है; तो स्वरूप की तरह घट में पररूप का भी प्रवेश हो जायगा। इस तरह सब सर्वरूप हो जाएँगे। यदि पररूप का अभाव कहते हैं; तो जब पररूप का अभाव है तो वह अनुपलब्ध हुआ, तब आप उस पररूप के द्रष्टा कैसे हुए? और कैसे उसका अभाव कर सकते हैं? यदि कहा जाय कि पररूप से भी निश्चय नहीं है अत: पर का अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि पररूप से वस्तु उपलब्ध होती है तो अभावग्राही ज्ञान से अभाव ही सामने रहेगा, फिर भाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा।'' आदि।

यह एक सामान्य मान्यता रूढ़ है कि एक वस्तु अनेक कैसे हो सकती है? पर जब वस्तु का स्वरूप ही असंख्य विरोधों का आकार है तब उससे इनकार कैसे किया जा सकता है? एक ही आत्मा हर्ष, विषाद, सुख, दु:ख, ज्ञान, अज्ञान आदि अनेक पर्यायों को धारण करनेवाला प्रतीत होता है। एक काल में वस्तु अपने स्वरूप से है यानी उसमें अपना स्वरूप पाया जाता है, पर का स्वरूप नहीं। पररूप का नास्तित्व यानी उसका भेद तो प्रकृत वस्तु में मानना ही चाहिए, अन्यथा स्व और पर का विभाग कैसे होगा? उस नास्तित्व का निरूपण परपदार्थ की दृष्टि से होता है, क्योंकि पर का ही तो नास्तित्व है। जगत् अन्योऽन्याभावरूप है। घट घटेतर यावत् पदार्थों से भिन्न है। 'यह घट अन्य घटों से भिन्न है' इस भेद का नियामक पर का नास्तित्व ही है। पररूप उसका नहीं है', इसीलिए तो उसका नास्तित्व माना जाता

---

416 ''एकं हीदं वस्तूपलभ्यते। तच्चेदभाव: किमिदानी भावो भविष्यति? यद्यपि पररूपतया भाव:; तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावत्वेऽंगीक्रियमाणे पररूपानु वेश: तथा अभावत्वेऽप्यंगीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्। अथ पररूपस्य भाव:, तदविरोधि त्वेकत्वं तस्याभाव:। नहि तस्मिन् सति भवान् तस्यानुपलब्धे द्रष्टा, अन्यथा हि आत्मनोऽप्यभावो भवेत्। अथ आत्मसत्ताऽविरोधित्वेन स्वात्मनोऽभावो न भवत्येव; परसत्ताविरोधित्वात् परस्याप्यभावो न भवति। अथापराकारतया नोपलभ्यते तेन परस्य भावो न भवति, अभावाकारतया चानुपलब्धे: परस्याभावोऽपि न भवेत्। अथ अभावाकारतया उपलभ्यते; तदा भोवोऽन्यो नास्ति, अभावाकारान्तरितत्वात्, अभावस्वभावावगाहिना अवबोधेन अभाव एव द्योतितो न भाव:।'' –तत्त्वोप. पृ. ७७–७९।

है। यद्यपि पररूप वहाँ नहीं है, पर उसको आरोपित करके उसका नास्तित्व सिद्ध किया जाता है कि 'यदि घड़ा पटादिरूप होता, तो पटादिरूप से उसकी उपलब्धि होनी चाहिए थी।' पर नहीं होती, अतः सिद्ध होता है कि घड़ा पटादिरूप नहीं है। यही उसका एकत्व या कैवल्य है जो वह स्वभिन्न परपदार्थरूप नहीं है। जिस समय परनास्तित्व की विवक्षा होती है; उस समय अभाव ही वस्तुरूप पर छा जाता है, अतः वही वही दिखाई देता है, उस समय अस्तित्वादि धर्म गौण हो जाते हैं और जिस समय अस्तित्व मुख्य होता है उस समय वस्तु केवल सद्रूप ही दिखती है, उस समय नास्तित्व आदि गौण हो जाते हैं। यही अन्य भंगों में समझना चाहिए।

तत्त्वोपप्लवकार किसी भी तत्त्व की स्थापना नहीं करना चाहते, अतः उनकी यह शैली है कि अनेक विकल्प–जाल से वस्तुस्वरूप को मात्र विघटित कर देना। अन्त में वे कहते हैं कि इस तरह उपप्लुत तत्त्वों में ही समस्त जगत् के व्यवहार अविचारितरमणीय रूप से चलते रहते हैं। परन्तु अनेकान्त–तत्त्व में जितने भी विकल्प उठाए जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। उसका खास कारण यह है कि जहाँ वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक एवं अनन्तगुण–पर्यायवाली है वहीं वह अनन्तधर्मों से युक्त भी है। उसमें कल्पित–अकल्पित सभी धर्मों का निर्वाह है और तत्त्वोप्लववादियों जैसे वावदूकों का उत्तर तो अनेकान्तवाद से ही सही–सही दिया जा सकता है। विभिनन अपेक्षाओं से वस्तु को विभिन्नरूपों में देखा जाना ही अनेकान्ततत्त्व की रूपरेखा है। ये महाशय अपने कुविकल्पजाल में मस्त होकर दिगम्बरों को मूर्ख कहते हुए अनेक भण्ड वचन लिखने में नहीं चूके।

तत्त्वोपप्लवकार यही तो कहना चाहते हैं कि 'वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य, न उभय, और न अवाच्य। यानी जितने एकान्त प्रकारों से वस्तु का विवेचन करते हैं उन–उन रूपों में वस्तु का स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाता।' इसका सीधा तात्पर्य यह निकलता है कि 'वस्तु अनेकान्तरूप है, उसमें अनन्तधर्म हैं। अतः उसे किसी एकरूप में नहीं कहा जा सकता।' अनेकान्तदर्शन की भूमिका भी यही है कि वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है, उसका पूर्णरूप अनिर्वचनीय है, अतः उसका एक–एक धर्म से कथन करते समय स्याद्वाद–पद्धति का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा तत्त्वोपप्लववादी के द्वारा दिये गये दूषण आएँगे। यदि इन्होंने वस्तु के विधेयात्मक रूप पर ध्यान दिया होता, तो वे स्वयं अनन्तधर्मात्मक स्वरूप पर पहुँच ही जाते। शब्दों की एकधर्मवाचक सामर्थ्य के कारण जो उलझन उत्पन्न होती है उसके निबटारे का मार्ग है स्याद्वाद। हमारा प्रत्येक कथन सापेक्ष होना चाहिए और उसे सुनिश्चित विवक्षा या दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रतिपादन करना चाहिए।

श्रीव्योमशिव और अनेकान्तवाद–

आचार्य व्योमशिव प्रशस्तपादभाष्य के प्राचीन टीकाकार हैं। वे अनेकान्तज्ञान को मिथ्यारूप कहते समय व्योमवती टीका (पृ. २०ङ) में वही पुरानी विरोधवाली दलील देते हैं कि ''एकधर्मी में विधि–प्रतिषेधरूप दो विरोधी धर्मों की सम्भावना नहीं है। मुक्ति में भी अनेकान्त लगने से वही मुक्त भी होगा और वही संसारी भी। इसी तरह अनेकान्त में अनेकान्त मानने से अनवस्था दूषण आता है।'' उन्हें सोचना चाहिए कि जिस प्रकार एक चित्र–अवयवी में चित्ररूप एक होकर भी अनेक आकारवाला होता है, एक ही पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियों में अनुगत होने के कारण सामान्य होकर भी जलादि से व्यावृत्त होने से विशेष भी कहा जाता है और मेचकरत्न एक होकर भी अनेकाकार होता है, उसी तरह एक ही द्रव्य अनेकान्तरूप हो सकता है, उसमें कोई विरोध नहीं है। मुक्त में भी अनेकानत लग सकता है। एक ही आत्मा, जो अनादि से बद्ध था, वही कर्मबन्धन से मुक्त हुआ है, अतः उस आत्मा को वर्तमान पर्याय की दृष्टि से मुक्त तथा अतीतपर्यायों की दृष्टि से अमुक्त कह सकते हैं, इसमें क्या विरोध है? द्रव्य तो अनादि–अनन्त होता है। उसमें त्रैकालिक पर्यायों की दृष्टि से अनेक व्यवहार हो सकते हैं। मुक्त कर्मबन्धन से हुआ है, स्वरूप से तो वह सदा अमुक्त (स्वरूपस्थित) ही है। अनेकान्त में भी अनेकान्त लगता ही है।[४१७] नय की अपेक्षा एकान्त है और प्रमाण की अपेक्षा वस्तुतत्त्व अनेकान्तरूप है। आत्मसिद्धि–प्रकरण में व्योमशिवाचार्य आत्मा को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का विषय सिद्ध करते हैं। इस प्रकरण में जब यह प्रश्न हुआ कि 'आत्मा तो कर्ता है वह उसी समय संवेदन का कर्म कैसे हो सकता है?' तो इन्होंने इसका समाधान अनेकान्त का आश्रय लेकर ही इस प्रकार किया है[४१८] कि 'इसमें कोई विरोध नहीं है, लक्षणभेद से दोनों रूप हो सकते हैं। स्वतन्त्रत्वेन वह कर्ता है और ज्ञान का विषय होने से कर्म है।' अविरोधी अनेक धर्म मानने में तो इन्हें कोई सीधा विरोध हे ही नहीं।

श्रीभास्कर भट्ट और स्याद्वाद–

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में भास्कर भट्ट भेदाभेदवादी माने जाते हैं। इनने अपने भाष्य में शंकराचार्य का खण्डन किया है; किन्तु ''नैकस्मिन्नसम्भवात्'' सूत्र में आर्हतमत की समीक्षा करते समय ये स्वयं भेदाभेदवादी होकर भी शंकराचार्य का अनुसरण करके सप्तभंगी

---

417 देखो, यही ग्रन्थ, पृ. ५२५।

418 ''अथात्मनः कर्तृतवादेकस्मिन् काले कर्मत्वासम्भवेनाप्रत्यक्षत्वम्; लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः। तथाहि– ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृतवम्, तदैव च क्रियया व्याप्यत्वो पलब्धेः कर्मत्वं चेति न दोषः, लक्षणतन्त्रत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः।'' –प्रश. व्यो., पृ. ३९२।

में विरोध और अनवधारण नाम के दूषण देते हैं। वे कहते हैं कि "सब अनेकान्तरूप है, ऐसा निश्चय करते हो या नहीं? यदि हाँ, तो यह एकान्त हो गया और यदि नहीं; तो निश्चय भी अनिश्चयरूप होने से निश्चय नहीं रह जायगा। अतः ऐसे शास्त्र के प्रणेता तीर्थंकर उन्मत्ततुल्य हैं।"

आश्चर्य होता है इस अनूठे विवेक पर। जो स्वयं जगह–जगह भेदाभेदात्मक तत्त्व का समर्थन उसी पद्धति से करते हैं जिस पद्धति से जैन, वे ही अनेकान्त का खण्डन करते समय सब भूल जाते हैं। मैं पहले लिख चुका हूँ कि स्याद्वाद का प्रत्येक भंग अपने दृष्टिकोण से सुनिश्चित है। अनेकान्त भी प्रमाणदृष्टि से (समग्रदृष्टि से) अनेकान्तरूप है और नयदृष्टि से एकान्तरूप है। इसमें अनिश्चय या अनवधारण की क्या बात है? एक स्त्री अपेक्षाभेद से 'माता भी है और पत्नी भी, वह उभयात्मक है' इसमें उस कुतर्की को क्या कहा जाय, जो यह कहता है कि 'उसका एकरूप निश्चित कीजिए– या तो माता कहिये या फिर पत्नी?' जब हम उसका उभयात्मक होना चाहिए; यानी 'हम निश्चित रूप से उभयात्मक नहीं कह सकते। उसका सीधा उत्तर हे कि 'वह स्त्री उभयात्मक है, एकात्मक नहीं' इस रूप से उभयात्मकता में भी उभयात्मकता है। पदार्थ का प्रत्येक अंश और उसको ग्रहण करनेवाला नय अपने में सुनिश्चित होता है।

अब भास्कर–भाष्य[४१९] का यह शंका समाधान देखिए–
प्रश्न– 'भेद और अभेद में' तो विरोध है?

उत्तर– यह प्रमाण और प्रमेयतत्त्व को न समझनेवाले की शंका है।... जो वस्तु प्रमाण से जिस रूप में परिच्छिन्न हो, वह उसी रूप है। गौ, अश्व आदि समस्त पदार्थ भिन्नाभिन्न ही प्रतीत होते हैं। वे आगे लिखते हैं कि सर्वथा अभिन्न या भिन्न पदार्थ कोई दिखा नहीं सकता। सत्ता, ज्ञेयत्व और द्रव्यत्वादि सामान्यरूप से सब अभिन्न हैं और व्यक्तिरूप से परस्पर विलक्षण होने के कारण भिन्न। जब उभयात्मक वस्तु प्रतीत हो रही है, तब विरोध कैसा? विरोध या अविरोध प्रमाण से ही तो व्यवस्थापित किये जाते हैं। यदि प्रतीति के बल से एकरूपता निश्चित की जाती है तो द्विरूपता भी जब प्रतीत होती है तो उसे भी मानना चाहिए। 'एक को एकरूप ही होना चाहिए' यह कोई ईश्वराज्ञा नहीं है।

---

419 "यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति; तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्।......
यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत्तथा।
वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते।" –भास्करभा., पृ. १६।

प्रश्न– शीत और उष्णस्पर्श की तरह भेद और अभेद में विरोध क्यों नहीं है?

उत्तर– यह आप की बुद्धि का दोष है, वस्तु में कोई विरोध नहीं है? छाया और आतप की तरह सहानवस्थान विरोध तथा शीत और उष्ण की तरह भिन्न देशवर्तित्वरूप विरोध कारणब्रह्म तथा कार्यप्रपंच में नहीं हो सकता; क्योंकि वह ही उत्पन्न होता है, वही अवस्थित है और वही प्रलय होता है। यदि विरोध होता, तो ये तीनों नहीं बन सकते थे। अग्नि से अंकुर की उत्पत्ति आदिरूप से कार्यकारणसम्बन्ध तो नहीं देखा जाता। कारणभूत मिट्टी और सुवर्ण आदि से ही तज्जन्य कार्य सर्वदा अनुस्यूत देखे जाते हैं। अतः आँखें बन्द करके जो यह परस्पर असंगतिरूप विरोध कहा जाता है वह या तो बुद्धि–विपर्यास के कारण कहा जाता है या फिर प्रारम्भिक श्रोत्रिय के कानों को ठगने के लिए। शीत और उष्ण स्पर्श हमेशा भिन्न आधार में रहते हैं, उनमें न तो कभी उत्पाद्य–उत्पादक सम्बन्ध रहा है और न आधाराधेयभाव ही, अतः उनमें विरोध हो सकता है। अतः 'शीतोष्णवत्' यह दृष्टान्त उचित नहीं है। शंकाकार बड़ी प्रगल्भता से कहता है कि–

शंका– 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस संशयज्ञान की तरह भेदाभेदज्ञान अप्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर– परस्पर परिहारवालों का ही सह अवस्थान नहीं हो सकता। संशयज्ञान में किसी भी प्रमेय का निश्चय नहीं होता, अतः वह अप्रमाण है; किन्तु यहाँ तो मिट्टी, सुवर्ण आदि कारण पूर्वसिद्ध हैं, उनसे बाद में उत्पन्न होनेवाला कार्य तदाश्रित ही उत्पन्न होता है। कार्य कारण के समान ही होता है। कारण का स्वरूप नष्टकर भिन्न देश या भिन्न काल में कार्य नहीं होता। अतः प्रपंच को मिथ्या कहना उचित नहीं है। किसी पुरुष की अपेक्षा वस्तु में सत्यता नहीं आँकी जा सकती कि 'मुमुक्षुओं के लिए प्रपंच असत्य है और इतर व्यक्तियों के लिए सत्य है।' रूप को अन्धे के लिए असत्य और आँखवाले को सत्य नहीं कर सकते। पदार्थ पुरुष की इच्छानुसार सत्य या असत्य नहीं होते। सूर्य स्तुति करनेवाले और निन्दा करने वाले दोनों को ही तो तपाता है। यदि मुमुक्षुओं के लिए प्रपंच मिथ्या हो और अन्य के लिए तथ्य; तो एक साथ और तथ्य और मिथ्यात्व का प्रसंग होता है।... अतः ब्रह्म को भिन्नाभिन्न रूप मानना चाहिए। कहा भी है–

''कार्यरूप से अनेक और कारणरूप से एक हैं, जैसे कि कुण्डल आदि पर्यायों से भेद और सुवर्णरूप से अभेद होता है।''

इस तरह ब्रह्म और प्रपंच के भेदाभेद का समर्थन करनेवाले आचार्य जो एकान्तवादियों को 'प्रज्ञापराध, अनिरूपितप्रमाणप्रमेय' आदि विचित्र विशेषणों से सम्बोधित करते हैं, वे स्वयं दिगम्बर– विवसन मत का खण्डन करते समय कैसे इन विशेषणों से बच सकते हैं?

पृ. १०३ में फिर ब्रह्म के एक होने पर भी जीव और प्राज्ञ के भेद का समर्थन करते हुए लिखा है कि ''जिस प्रकार पृथिवीत्व समान होने पर भी पद्मराग तथा क्षुद्र पाषाण आदि का परस्पर भेद देखा जाता है उसी तरह ब्रह्म और जीवप्राज्ञ में भी समझना चाहिए। इसमें कोई विरोध नहीं है।''

पृ. १६४ में फिर ब्रह्म के भेदाभेद रूप के समर्थन का सिद्धान्त दुहराया गया है। मैंने यहाँ जो भास्कराचार्य के ब्रह्मविषयक भेदाभेद का प्रकरण उपस्थित किया है, उसका इतना ही तात्पर्य है कि 'भेद और अभेद में परस्पर विरोध नहीं है, एक वस्तु उभयात्मक हो सकती है' यह बात भास्कराचार्य को सिद्धान्तरूप में इष्ट है। उनका 'ब्रह्म को सर्वथा नित्य स्वीकार करके ऐसा मानना उचित हो सकता है या नहीं?' यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं है। जो कोई भी तटस्थ व्यक्ति उपर्युक्त भेदाभेदविषयक शंका–समाधान के साथ–ही–साथ इनके द्वारा किये गये जैनमत के खण्डन को पढ़ेगा, वह मतासहिष्णुता के स्वरूप को सहज ही समझ सकेगा।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्याद्वाद के भंगों को ये आचार्य 'अनिश्चय' के खाते में तुरन्त खतया देते हैं और 'मोक्ष है भी नहीं भी' कहकर अप्रवृत्ति का दूषण दे बैठते हैं और दूसरों को उन्मत्त तक कह देते हैं। भेदाभेदात्मकतत्त्व के समर्थन का वैज्ञानिक प्रकार इस तत्त्व के द्रष्टा जैन आचार्यों से ही समझा जा सकता है। यह परिणामी नित्य पदार्थ में ही सम्भव है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य में नहीं; क्योंकि द्रव्य स्वयं तादात्म्य होता है, अतः पर्याय से अभिन्न होने के कारण द्रव्य स्वयं अनित्य होता हुआ भी अपनी अनाद्यनन्त अविच्छिन्न धारा की अपेक्षा ध्रुव या नित्य होता है। अतः भेदाभेदात्मक या उभयात्मक तत्त्व की जो प्रक्रिया, स्वरूप और समझने–समझाने की पद्धति आर्हत दर्शन में व्यवस्थित रूप से पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

श्रीविज्ञानभिक्षु और स्याद्वाद–

ब्रह्मसूत्र के विज्ञानमृत भाष्य में दिगम्बरों के स्याद्वाद को अव्यवस्थित बताते हुए लिखा है[४२०] कि ''प्रकारभेद के बिना दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। यदि प्रकारभेद माना जाता है, तो विज्ञानभिक्षु जी कहते हैं कि हमारा ही मत हो गया और उसमें सब व्यवस्था बन जाती है, अत: आप अव्यवस्थित तत्त्व क्यों मानते हैं?'' किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त में अपेक्षाभेद से प्रकारभेद का अस्वीकार कहाँ है? स्याद्वाद का प्रत्येक भंग अपने निश्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का अवधारण करके भी वस्तु के अन्य धर्मों की उपेक्षा नहीं होने देता। एक निर्विकार ब्रह्म में परमार्थत: प्रकारभेद कैसे बन सकते हैं? अनेकान्तवाद तो वस्तु में स्वभावसिद्ध अनन्तधर्म मानता है। उसमें अव्यवस्था का लेशमात्र नहीं है। उन धर्मों का विभिन्न दृष्टिकोणों से मात्र वर्णन होता है, स्वरूप तो उनका स्वत:सिद्ध है। प्रकारभेद से कहीं एक साथ दो धर्मों के मान लेने से ही व्यवस्था का ठेका नहीं लिया जा सकता। अनेकान्ततत्त्व की भूमिका ही समस्त विरोधों का अविरोधी आधार हो सकती है।

श्रीश्रीकण्ठ[४२१] और अनेकान्तवाद–

श्रीकण्ठाचार्य अपने श्रीकण्ठभाष्य में उसी पुरानी विरोधवाली दलील को दुहराते हुए कहते हैं कि ''जैसे पिण्ड, घट और कपाल अवस्थाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं, उसी तरह अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्म भी।'' परन्तु एक द्रव्य की कालक्रम से होनेवाली पर्यायें युगपत् सम्भव न हों, तो न सही, पर जिस समय घड़ा स्वचतुष्टय से 'सत्' है उसी समय उसे पटादि की अपेक्षा 'असत्' होने में क्या विरोध है? पिण्ड, घट और कपाल पर्यायों के रूप से जो पुद्गलाणु परिणत होंगे, उन अणुद्रव्यों में तो है ही। आप 'स्यात्' शब्द को ईषदर्थक मानते हैं। पर 'ईषत्' से स्याद्वाद का अभिधेय ठीक प्रतिफलित नहीं होता। 'स्यात्' का वाच्यार्थ है– 'सुनिश्चित दृष्टिकोण।' श्रीकण्ठभाष्य की टीका में श्री अप्पय्यदीक्षित[४२२] को देश

---

420 अपरे वेदबाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यन्ते सर्वं वस्त्वव्यवसितिमेव स्यादस्ति स्यान्नास्ति अत्रेदमुच्यते; न; एकस्मिन् यथोक्तभावाभावादिरूपत्वमपि। कुत:? असम्भवात्। प्रकारभेदं बिना विरुद्धयोरेकदा सहावस्थानसंस्थानासम्भवात्। प्रकार भेदाभ्युपग में वास्मन्मतप्रवेशेन सर्वैव व्यवथास्ति कथमव्यवस्थितं जगदभ्युगम्यते भवद्भिरित्यर्थ:।'' —विज्ञानामृतभा. २।२।३३।

421 ''जैना हि सप्तभंगीन्यायेन...... स्याच्छब्द ईषदर्थ:। एतदयुक्तम्; कुत:? एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभेदादीनामसम्भवात्। पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्यास्तित्वनास्तित्वादिशब्दबुद्धिविषया: परस्परविरुद्धा: पिण्डत्वघटत्वकपालत्वाद्यवस्थावत् युगपन्न सम्भवन्ति। अतो विरुद्ध एव जैनवाद:।'' —श्रीकण्ठभा. २।२।३३।

422 ''यद्येवं पारिभाषिकोऽयं सप्तभंगीनय: स्वीक्रियत एव। घटादि: स्वदेशेऽस्ति अन्यदेशे नास्ति, स्वकालेऽस्ति अन्यकाले नास्ति, स्वात्मना अस्ति अन्यात्मना नास्ति, इति देशकालप्रति

काल और स्वरूप आदि अपेक्षाभेद से अनेक धर्म स्वीकार करने में लौकिक और परीक्षकों को कोई विवाद नहीं हो सकता।' यह भी वे मानते हैं, परन्तु फिर हिचककर कहते हैं कि 'सप्तभंगी का यह स्वरूप जैनों को इष्ट नहीं है।' वे यह आरोप करते हैं कि 'स्याद्वादी तो अपेक्षाभेद से अनेक धर्म नहीं मानते किन्तु बिना अपेक्षा के ही अनेक धर्म मानते हैं।' आश्चर्य है कि वे आचार्य अनन्तवीर्य कृत—

''तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत्।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तान्निषेधे विवक्षिते।।''

इत्यादि कारिकाओं को उद्धृत भी करते हैं और स्याद्वादियों पर यह आरोप भी करते जाते हैं कि 'स्याद्वादी बिना इपेक्षा के ही सब धर्म मानते हैं।' इन स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए भी ये कहते हैं कि 'दूसरों के गले उतारने के लिए जैन लोग अपेक्षारूपी गुड़ चआ देते हैं, वस्तुतः वे अपेक्षा मानते नहीं है, वे तो निरुपाधि सत्त्व और असत्त्व मानना चाहते हैं।' इस मिथ्या आरोप के लिए क्या कहा जाय? और इसी अससंसा वा चे कहते हैं कि 'स्त्री में माता' पत्नी आदि आपेक्षिक व्यवहार न होने से स्याद्वाद में लोक—विरोध होगा।' भला, जो दूषण स्याद्वादी एकान्तवादियों को देते हैं वे ही दूषण जैनों को जबरदस्ती दिये जा रहे हैं, इस अन्धेर का कोई ठिकाना है। जैनों के संख्याबद्ध ग्रन्थ इस स्याद्वाद और सप्तभंगी की विविध अपेक्षाओं से भरे पड़े हैं और इसका वैज्ञानिक विवेचन भी वहीं मिलता है। फिर भी उन्हीं के मत्थे ये सब दूषण मढ़े जा रहे हैं और हयाँ तक लिखा जा रहा है कि यह लोकविरोधी स्याद्वाद सर्वतः बहिष्कार्य है। किमाश्चर्यमतः परम्।। इसकी लोकविरोधिता आदि की सिद्धि के लिए इस 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' प्रकरण में पर्याप्त लिखा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य और स्याद्वाद—

योगिरूपोपाधिभेदेन सत्त्वासत्त्वसमावेशे लौकिकपरीक्षकाणां विप्रतिपत्त्यसम्भवात्। न चैतावता पराभिमतं वस्त्वनैकात्यमापद्यते— स्वकाले सदेव, अन्यकाले असदेव इत्यादि नियमस्य भंगाभावात्। स देश इह नास्ति, स काल इदानीं नास्तीत्यादिप्रतीतौ देशकालाद्युपाध्यन्तरा भावात्, तत्राप्युपाध्यन्तरापेक्षणेऽनवस्थानात्। इतरान् अंगीकारयितुं परं गुडजिह्विकान्यायेन देशकालाद्युपाधिभेदमन्तर्भाव्य सत्त्ववासत्त्वप्रतीतिरुपन्यस्यते। वस्तुतो विमृश्यमाना सा निरुप धिकैव सत्त्वासत्त्वादिसंकरे प्रमाणम्। अत एव स्याद्वादिना 'घटोऽस्ति घटो नास्ति पटः सन् पटोऽसन्' इतयादि प्रत्यक्षप्रतीतिमेव सत्त्वासत्त्वाद्यनैकान्त्ये प्रमाणमुपगच्छन्ति, परस्परविरुद्धधर्मसमावेशे सर्वानुभवसिद्धस्तावदुपाधिभेदो नापह्नोतुं शक्यते। लोकमर्यादा मनतिक्रममाणेन देशकालादिसत्त्वनिषेधेऽपि देशकालाद्युपाध्यवच्छेदः अनुभूयत एव। इहात्माश्रयः, परस्पराश्रयः, अनवस्था वा न दोषः, यथा प्रमेयत्वाीाधेयत्वादिवृत्तौ, यथा च बीजांकुरादिकार्यकारणभावे विरुद्धधर्मसमावेशे। सर्वथोपाधिभेदं प्रत्याचक्षाणस्य चायमस्याः पुत्रः, अस्याः पतिः, अस्याः पिता, अस्याश्वसुर इत्यादिव्यवस्थापि न सिद्धयेदिति कथं तत्र तत्र स्याद्वादे मातृत्वाद्युचितव्यवहारान् व्यवस्थाऽनुतिष्ठेत्। तस्मात् सर्वं बहिष्कार्योऽयमनेकान्तवादः।'' —श्रीकण्ठभा. टी. पृ. १०३।

श्री रामानुजाचार्य भी स्याद्वाद में उसी तरह निरुपाधि या निरपेक्ष सत्त्वासत्त्व का आरोप करके विरोध दूषण देते हैं[423]। वे स्याद्वादियों को समझाने का साहस करते हैं कि ''आप लोग प्रकारभेद से धर्मभेद मानिये।'' गोया स्याद्वरदीी अपेक्षा भेद को नहीं समझते हों, या एक ही दृष्टि से विभिन्न धर्मों का सद्भाव मानते हों। अपेक्षाभेद, उपाधिभेद या प्रकारभेद के आविष्कारक आचार्यों को उन्हीं का उपदेश देना कहाँ तक शोभा देता है? स्याद्वाद का तो आधार ही यह है कि विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक धर्मों को स्वीकार करना और कहना। सच पूँछा जाय तो स्याद्वाद का आश्रयण किये बिना ये विशिष्टाद्वैतता का निर्वाह नहीं कर सकते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य और स्याद्वाद

श्रीवल्लभाचार्य भी विवसन—समय में प्राचीन परम्परा के अनुसार विरोध दूषण ही उपस्थित करते हैं[424]। वे कहना चाहते हैं कि ''वस्तुतः रुिद्धधर्मान्तरत्व ब्रह्म में ही प्रमाणसिद्ध हो सकता है।'' 'स्यात्' शब्द का अर्थ इन्होंने 'अभीष्ट' किया है। आश्चर्य ता यह है कि ब्रह्म को निर्विकार मानकर भी ये उसमें उभयरूपता वास्तविक मानना चाहते हैं और जिस स्याद्वाद में विरुद्ध धर्मों की वस्तुतः सापेक्ष स्थिति बनती है उसमें विरोध दूषण देते हैं। ब्रह्म को अविकारी कहकर भी ये उसका जगत् के रूप से परिणमन कहते हैं। कुण्डल, कटक आदि आकारों में परिणत होकर भी सुवर्ण को अविकारी मानना इन्हीं की प्रमाण पद्धति में है। भला सुवर्ण जब पर्यायों को धारण करता है तब वह अविकारी कैसे रह सकता है? पूर्वरूप का त्याग किये बिना उत्तर का उपादान कैसे हो सकता है? 'ब्रह्म को जब रमण करने की इच्छा होती है तब वे अपने आनन्द आदि गुणों का तिरोभाव करके जीवादिरूप से परिणत होते हैं।' यह आविर्भाव और तिरोभाव भी पूर्वरूप का त्याग और उत्तर के उपादान का ही विवेचन है। अतः इनका स्याद्वाद में दूषण देना भी अनुचित है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और अनेकान्तवाद—

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में निम्बार्काचार्य स्वभावतः भेदाभेदवादी हैं। वे स्वरूप से चित्, अचित् और ब्रह्मपदार्थ में द्वैतश्रुतियों के आधार

---

423 ''द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च 'इदमित्थम्' इति प्रतीतेः, प्रकारि प्रकारतया पृथक् पदार्ात्वात् नैकस्मिन् विरुद्धप्रकारभूतसत्त्वासत्त्वस्वरूपधर्मसमावेशो युगपत् सम्भवति एकस्य पृथिवीद्रव्यस्य घ्ज्ञटत्वाश्रयत्वं शरावत्वाश्रयत्वं च प्रदेशभेदेन न त्वेकेन प्रदेशौभयाश्रयत्वं, यथैकस्य देवदत्तस्य उत्पत्तिविनाशयोग्यत्वं कालभेदेन। न ह्येतावता द्वयात्मकत्वमपि तु परिणामशक्तियोगमात्रम्।'' —वेदान्तदीप, पृ. १११—१२।

424 'ते हि अन्तर्निष्ठाः उदासीनाः सप्तविभक्तीः परेच्छया वदन्ति। स्याक्ष्छब्दोऽभीष्ट वचनः। तद्विरोधेनासम्भ्वादयुक्तम्।' —अणुभा. २।२।३३

से भेद मानते हैं; किन्तु चित्, अचित् की स्थिति और प्रवृत्ति ब्रह्माधीन ही होने से वे ब्रह्म से अभिन्न हैं। जैसे पत्र, पुष्पादि स्वरूप से भिन्न होकर भी वृक्ष से पृथक् प्रवृत्त्यादि नहीं करते, अतः वृक्ष से अभिन्न हैं, उसी तरह जगत् और ब्रह्म का भेदाभेद स्वाभाविक है, यही श्रुति, स्मृति और सूत्र से समर्थित होता है। इस तरह ये स्वाभाविक भेदाभेदवादी होकर भी जैनों के अनेकान्त में सत्त्व और असत्त्व दो धर्मों को विरोधदोष के भय से नहीं मानना चाहते[४२५], यह बड़े आश्चर्य की बात है। जब इसके टीकाकार श्रीनिवासाचार्य से प्रश्न किया गया[४२६] कि 'आप भी तो ब्रह्म में भेदाभेद मानते हो, उसमें विरोध क्यों नहीं आता? तो वे बड़ी श्रद्धा से उत्तर देते हैं कि 'हमारा मानना युक्ति से नहीं है, किन्तु ब्रह्म के भेदाभेद का निर्णय श्रुति में ही हो जाता है।' यानी श्रुति से यदि भेदाभेद का प्रतिपादन होता है, तो ये मानने को तैयार हैं, पर यदि वही बात कोई युक्ति से सिद्ध करता है, तो उसमें इन्हें विरोध की गन्ध आती है। पदार्थ के स्वरूप के निर्णय में लाघव और गौरव का प्रश्न उठाना अनुचित है, जैसे कि एक ब्रह्म को कारण मानने में लाघव है और अनेक परमाणुओं को कारण मानने में गौरव। वस्तु की व्यवस्था प्रतीति से की जानी चाहिए। 'अनेक समान स्वभाववाले सिद्धों को स्वतन्त्र मानने में गौरव है और एक सिद्ध मानकर उसी की उपासना करने में लाघव है' यह कुतर्क भी इसी प्रकार का है; क्योंकि वस्तुस्वरूप का निर्णय सुविधा और असुविधा की दृष्टि से नहीं होता। फिर जैनमत में उपासना का प्रयोजन सिद्धों को खुश करना नहीं है, वे तो वीतराग सिद्ध हैं, उनका प्रसाद उपासना का साध्य नहीं है; किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में चित्त में आत्मा के शुद्धतम आदर्श रूप का आलम्बन लेकर उपासनाविधि प्रारम्भ की जाती है, जो आगे की ध्यानादि अवस्थाओं में अपने आप छूट जाती है।

भेदाभेद—विचार—

'अनेक दृष्टियों से वस्तुस्वरूप का विचार करना' यह अनेकान्त का सामान्य स्वरूप है। भ. महावीर और बुद्ध के समय में ही नहीं, किन्तु उससे पहले भी वस्तुस्वरूप को अनेक दृष्टियों से वर्णन करने की परम्परा थी। ऋग्वेद का 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (२।३।२३,४६) यह वाक्य इसी अभिप्राय को सूचित करता है। बुद्ध विभज्यवादी थे। वे प्रश्नों का उत्तर एकांश में 'हाँ' या 'ना' में न देकर अनेकांशिक रूप

---

425 ''जैना वस्तुमात्रम् अस्तित्व—नास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति; तन्नोपपद्यते; एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपद सम्भवात्'' —ब्रह्मसूत्र नि. भा. २।२।३३।

426 ''ननु भवन्मतेऽपि एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्माद्वयांगीकारोऽस्ति, तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादिषु एकत्वं प्रतिपाद्यते। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः द्वासुपर्णा इत्यादाकनेकत्वञ्च प्रतिपाद्यते, इति चेत्; न; अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात्, श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थ निर्णीतत्वात् इत्थं जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवतः, कोऽत्र विरोधः।'' —निम्बार्कभा. टी. २,२।३३।

से देते थे। जिन प्रश्नों को उनने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकांशिक[४२७] भी कहा है। जो व्याकरणीय हैं, उन्हें 'एकांशिक– अर्थात् सुनिश्चितरूप से जिनका उत्तर हो सकता है', कहा है, जैसे दुःख आर्यसत्य है ही। बुद्ध ने प्रश्नव्याकरण चार प्रकार का बताया है– (दीघनि. ३३ संगीतिपरियाय) एकांशव्याकरण, प्रतिपृच्छा व्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। इन चार प्रश्नव्याकरणों में विभज्यव्याकरणीय प्रश्न में एक ही वस्तु का विभाग करके उसका अनेक दृष्टियों से वर्णन किया जाता है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में (१।४।२०–२१) आचार्य आश्मरथ्य और औडुलोमिका मत आता है। ये भेदाभेदवादी थे, ब्रह्म तथा जीव में भेदाभेद का समर्थन करते थे। शंकराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्य (२।३।६) में भेदाभेदवादी भर्तृप्रपञ्च के मत का खण्डन किया है। ये ब्रह्म और जगत् में वास्तविक एकत्व और नानात्व मानते थे। शंकराचार्य के बाद भास्कराचार्य तो भेदाभेदवादी के रूप में प्रसिद्ध ही हैं।

सांख्य प्रकृति को परिणामी नित्य मानते हैं वह कारणरूप से एक होकर भी अपने विकारों की दृष्टि से अनेक है, नित्य होकर भी अनित्य है।

योगशास्त्र में इसी तरह परिणामवाद का[४२८] समर्थन है। परिणामी का लक्षण भी योगभाष्य (३।१३) में अनेकान्त रूप से ही किया है। यथा– 'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।' अर्थात् स्थिरद्रव्य के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर नूतन धर्म की उत्पत्ति होना परिणाम है।

भट्ट कुमारिल तो आत्मवाद[४२९] (श्लो. २८) में आत्मा का व्यावृत्ति और अनुगम उभय रूप से समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं कि 'यदि आत्मा का अत्यन्त नाश माना जाता है तो कृतनाश और अकृतागम दूषण आता है और यदि उसे एकरूप माना जाता है तो सुख–दुःख आदि का उपभोग नहीं बन सकता। अवस्थाएँ स्वरूप से परस्पर विरोधी हैं, फिर भी उनमें एक सामान्य अविरोधी रूप भी है। इस तरह आत्मा उभयात्मक है।'' (आत्मवाद श्लो. २३–३०)।

---

427 ''''कतमे च पोट्ठपाद मया अनेकंसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता? सस्सता लोको त्ति वा पोट्ठपाद मया अनेकंसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोकोत्ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको...'' –दीघनि. पोट्ठपादसुत्त।

428 ''द्वयी चेयं नित्यता–कूटस्थनित्यता, परिणामिनित्यता च। । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्।'' –योगद. व्यासभा. १।४।३३।

429 तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः। पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।।'' –मी. श्लो.।

आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने वीतरागस्तोत्र (८।८–१०) में बहुत सुन्दर लिखा है कि–

''विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
इच्छँस्तथागत: प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।८।।''

अर्थात् एक ज्ञान को अनेकाकार माननेवाले नैयायिक ओर वैशेषिक को अनेकानत का प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिए

''इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणै:।
सांख्य: संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।।१०।।''

अर्थात् एक प्रधान (प्रकृति) को सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली माननेवाले समझदार सांख्य को अनेकान्त का प्रतिक्षेप नहीं करना चाहिए।

इस तरह सामान्यरूप से ब्राह्मण परम्परा, सांख्य–योग और बौद्धों में भी अनेक दृष्टि वस्तुविचार की परम्परा होने पर भी क्या कारण है जो अनेकान्तवादी के रूप में जैनों का ही उल्लेख विशेष रूप से हुआ है और वे ही इस शब्द के द्वारा पहिचाने जाते हैं?

इसका खास कारण है कि 'वेदान्त परम्परा में जो भेद का उल्लेख हुआ है, वह औपचारिक या उपाधिनिमित्तक है। भेद होने पर भी वे ब्रह्म को निर्विकार ही कहना चाहते हैं। सांख्य के परिणामवाद में वह परिणाम अवस्था या धर्म तक ही सीमित है, प्रकृति तो नित्य बनी रहती है। कुमारिल भेदाभेदात्मक कहकर भी द्रव्य की नित्यता को छोड़ना नहीं चाहते, वे आत्मा में भले ही इस प्रक्रिया को लगा गये हैं, पर शब्द के नित्यत्व के प्रसंग में तो उनने उसकी एकानत–नित्यता का ही समर्थन किया है। अत: अन्य मतों में जो अनेकानतदृष्टि का कहीं–कहीं अवसर पाकर उल्लेख हुआ है और प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक स्वरूप के विवेचन में इसका निरपवाद उपयोग हुआ है। इनने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों को समानरूप से वास्तविक माना है। इनका अनित्यत्व केवल पर्याय तक ही सीमित नहीं है; किन्तु उससे अभिन्न पदार्थ नहीं है। 'स्याद्वाद और अनेकानतदृष्टि का कहाँ कैसे उपयोग करना' इसी विषय पर जैनदर्शन में अनेकों ग्रन्थ बने हैं और उसकी सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति स्थिर की गई है, जब कि अन्य मतों में इसका केवल सामयिक उपयोग ही हुआ है। बल्कि इस गठबन्धन से जैनदृष्टि का विपर्यास ही हुआ है और उसके खण्डन में उसके स्वरू

को अन्य मतों के स्वरूप के साथ मिलाकर एक अजीब गुटाला हो गया है।

[४३०]बौद्ध ग्रन्थों में भेदाभेदात्मकता के खण्डन प्रसंग में जैन और जैमिनी का एक साथ उल्लेख है तथा विप्र, निर्ग्रन्थ ओर कापिल का एक ही रूप में निर्देश हुआ है। जैन ओर जैमिनी का अभाव पदार्थ के विषय में दृष्टिकोण मिलता है, क्योंकि कुमारिल भी भाावान्तररूप ही अभाव मानते हैं; पर इतने मात्र से अनेकान्त की विरासत का सार्वत्रिक निर्वाह करनेवालों में उनका नाम नहीं लिखा जा सकता।

सांख्य की प्रकृति तो एक और नित्य बनी रहती है और परिणमन महदादि विकारों तक सीमित है। इसलिए धर्मकीर्ति का दही और ऊँट में एक प्रकृति की दृष्टि से अभेदप्रसंग का दूषण जम जाता है; परन्तु यह दूषण अनेकद्रव्यवादी जैनों पर लागू नहीं होता। किन्तु दूषण देनेवाले इतना विवेक तो नहीं करते, वे तो सरसरी तौर से परमत को उखाड़ने की धुन में एक ही झपट्टा मारते हैं।

तत्त्वसंग्रहकार ने जो विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलों को एक ही साथ खदेड़ दिया है, वह भी इस अंश में कि कल्पनारचित विचित्र धर्म तीनों स्वीकार करते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थपरम्परा में धर्मों की स्थिति तो स्वाभाविक है, उनका व्यवहार केवल परापेक्ष होता है। जैसे एक ही पुरुष में पितृत्व और पुत्रत्व धर्म स्वाभाविक है, किन्तु पितृव्यवहार अपने पुत्र की अपेक्षा होता है तथा पुत्रव्यवहार अपने पिता की दृष्टि से। एक ही धर्मी में विभिन्न अपेक्षाओं से दो विरुद्ध व्यवहार किये जा सकते हैं

इसी तरह वेदान्त के आचार्यों ने जैनतत्व का विपर्यास करके यह मान लिया कि जैन का द्रव्य नित्य (कूटस्थनित्य) बना रहता है, केवल पर्यायें अनित्य होती हैं और फिर विरोध का दूषण दे दिया है। सत्त्व और असत्त्व को या तो अपेक्षाभेद के बिना माने हुए आरोपित कर, दूषण दिये गये हैं या फिर सामान्यतया विरोध का खड्ग चला दिया गया है। वेदान्त भाष्यों में एक 'नित्य सिद्ध' जीव भी मानकर दूषण दिये हैं। जबकि जैनधर्म किसी भी आत्मा को नित्यसिद्ध नहीं मानता। सब आत्माएँ बन्धनों को काटकर ही सादिमुक्त हुए हैं और होंगे।

---

[430] तेन यदुक्तं जैनजैमिनीयैः– सर्वात्मकमेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।'' –प्रमाणवा. स्ववृ. टी. पृ. १४३।

''को नामातिशयः प्रोक्तः विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः।'' –तत्त्वसं. श्लो. १७७६।

संशयादि दूषणों का उद्धार—

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हो गया होगा कि स्याद्वाद में मुख्यतया विरोध और संशय ये दो दूषण ही दिये गये हैं। तत्त्वसंग्रह में संकर तथा श्रीकंठभाष्य में अनवस्था दूषण का भी निर्देश है। परन्तु आठ दूषण एक ही साथ किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिले। धर्मकीर्ति आदि ने विरोध ही मुख्यरूप से दिया हैं वस्तुत: देखा जाय तो विरोध ही समस्त दूषणों का आधार है।

जैन ग्रन्थों में सर्वप्रथम अकलंकदेव ने संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दूषणों का परिहार प्रमाणसंग्रह (पृ. १०३) और अष्टशती (अष्टसह. पृ. २०६) में किया है। विरोध दूषण तो अनुपलम्भ के द्वारा सिद्ध होता है। जब एक ही वस्तु उत्पादक—व्यय—ध्रौव्यरूप से तथा सदसदात्मक रूप से प्रतीति का विषय है तब विरोध नहीं कहा जा सकता। जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक रंगों को युगपत् धारण करता है। उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों को धारण कर सकती है। जैसे पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियों में अनुगत होने के कारण सामान्यरूप होकर भी जलादि से व्यावर्तक होने से विशेष भी हैं, उसी तरह वस्तु विरोधी दो धर्मों का स्वभावत: आधार रहती है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष एक शाखा में चलात्मक तथा दूसरी शाखा में अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा मुँहरे पर लालरंग का तथा पेंदे में काले रंग का होता है, एक प्रदेश में आवृत तथा दूसरे प्रदेश में अनावृत, एक देश से नष्ट तथा दूसरे देश से अनष्ट रह सकता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु उभयात्मक होती हैं इसमें विरोध को कोई अवकाश नहीं है। यदि एक ही दृष्टि से विरोधी दो धर्म माने जाते, तो विरोध होता।

जब दोनों धर्मों की अपने दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशय का आकार तो होता है— 'वस्तु है या नहीं?' परन्तु स्याद्वाद में तो दृढ़ निश्चय होता है 'वस्तु स्वरूप से है ही, पररूप से नहीं ही है।' समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीति को संशय कहते हैं, उसकी दृढ़ निश्चय में सम्भावना नहीं की जा सकती।

संकर दूषण तो तब होता, जब जिस दृष्टिकोण से स्थिति मानी जाती है उसी दृष्टिकोण से उत्पाद और व्यय भी माने जाते। दोनों की अपेक्षाएँ जुदी—जुदी हैं। वस्तु में दो धर्मों की तो बात ही क्या है, अनन्त धर्मों का संकर हो रहा है; क्योंकि किसी भी धर्म का जुदा—जुदा प्रदेश नहीं है। एक ही अखण्ड वस्तु सभी धर्मों का

अविभक्त आम्रेडित आधार है। सबकी एक ही दृष्टि से युगपत् प्राप्ति होती, तो संकर दूषण होता, पर यहाँ अपेक्षाभेद, दृष्टिभेद और विवक्षाभेद सुनिश्चित है।

व्यतिकर परस्पर विषयगमन से होता है। यानी जिस तरह वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है तो उसका पर्याय की दृष्टि से भी नित्य मान लेना या पर्याय की दृष्टि से अनित्य है तो द्रव्य की दृष्टि से भी अनित्य मानना। परन्तु जब अपेक्षाएँ निश्चित हैं, धर्मों में भेद है, तब इसप्रकार के परस्पर विषयगमन का प्रश्न ही नहीं है। अखण्ड धर्मी की दृष्टि से तो संकर और व्यतिकर दूषण नहीं, भूषण ही हैं।

इसीलिए वैयधिकरण्य की बात भी नहीं है; क्योंकि सभी धर्म एक ही आधार में प्रतीत होते हैं। वे एक आधार में होने से ही एक नहीं हो सकते; क्योंकि एक ही आकाशप्रदेशरूप आधार में जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है, पर सब एक नहीं है।

धर्म में अन्य नहीं माने जाते, अत: अनवस्था का प्रसंग भी व्यर्थ है। वस्तु त्रयात्मक है न कि उत्पादत्रयात्मक या स्थितित्रयात्मक। यदि धर्मों में धम लगते तो अनवस्था होती।

इस तरह धर्मों को एकरूप मानने से एकान्तत्व का प्रसंग नहीं उठना चाहिए; क्योंकि वस्तु अनेकानतरूप है और सम्यगेकान्त का अनेकान्त से कोई विरोध नहीं हैं जिस समय उत्पाद को उत्पादरूप से अस्ति और व्ययरूप से नास्ति कहेंगे उस समय उत्पाद धर्म न रहकर धर्मी बन जायगा। धर्म—धर्मिभाव सापेक्ष है। जो अपने आधारभूत धर्मी की अपेक्षा धर्म होता है वही अपने आधेयभूत धर्मों की अपेक्षा धर्मी बन जाता है।

जब वस्तु उपर्युक्त रूप से लोकव्यवहार तथा प्रमाण से निर्बाध प्रतीति का विषय हो रही है तब उसे अनवधारणात्मक, अव्यवस्थित या अप्रतीत कहना भी साहस की ही बात है और जब प्रतीत है तब अभाव तो हो ही नहीं सकता।

इस तरह इन आठ दोषों का परिहार अकलंक, हरिभद्र, सिंहगणिक्षमाश्रमण आदि सभी आचार्यों ने व्यवस्थित रूप से किया है। वस्तुत: बिन समझे ऐसे दूषण देकर जैन तत्त्वज्ञान के साथ विशेषत: स्याद्वाद और सप्तभंगी के स्वरूप के साथ बड़ा अन्याय हुआ है।

भगवान् महावीर अपने में अनन्तधर्मा वस्तु के सम्बन्ध में व्यवस्थित और पूर्ण निश्चयवादी थे। उनने न केवल वस्तु का

अनेकान्तस्वरूप ही बताया किन्तु उसके जानने देखने के उपाय— नयदृष्टियाँ और उसके प्रतिपादन का प्रकार (स्याद्वाद) भी बताया। यही कारण है कि जैनदर्शन ग्रन्थों में उपेयतत्त्व के स्वरूपनिरूपण के साथ—ही—साथ उपायतत्त्व का भी उतना ही विस्तृत और सांगोपांग वर्णन मिलता है। अत: स्याद्वाद न तो संशयवाद है, न कदाचित्वाद, न किंचित्वाद, न सम्भववाद और न अभीष्टवाद; किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद हैं इसे संस्कृत में 'कथञ्चितवाद' शब्द से कहा है, जो एक सुनिश्चित दृष्टिकोण का प्रतीक है। यह संजय के अज्ञान या विक्षेपवाद से तो हर्गिज नहीं निकला है; किन्तु संजय को जिन बातों का अज्ञान था और बुद्ध जिन प्रश्नों को अव्याकृत कहते थे, उन सबका सुनिश्चित दृष्टिकोणों से निश्च करनेवाला अपेक्षावाद है।

समन्वय की पुकार—

आज भारतरत्न डॉ. भगवान्दास जी जैसे मनीषी समन्वय की आवाज बुलन्द कर रहे हैं। उनने अपने 'दर्शन का प्रयोजन', 'समन्वय' आदि ग्रन्थों में इस समन्वय तत्त्व की भूरि—भूरि प्रशंसा की है। किन्तु वस्तु को अनन्तधर्मा माने बिना तथा स्याद्वाद—पद्धति से उसका विचार किये बिना समन्वय के सही स्वरूप को नहीं पाया जा सकता।

जैन दर्शन की भारतीय संस्कृति को यही परम देन है जो इसने वस्तु के विराट् स्वरूप को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखना सिखाया। जैनाचार्यों ने इस समन्वय—पद्धति पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। आशा है इस अहिंसाधार और मानस अहिंसाके अमृतमय प्राणभूत स्याद्वाद का जीवन को संवादी बनाने में यथोचित्त उपयोग किया जायगा।

११. जैनदर्शन और विश्वशान्ति—

विश्वशान्ति के लिए जिन विचारसहिष्णुता, समझौते की भावना, वर्ण, जाति रंग और देश आदि के भेद के बिना सबके समानाधिकार की स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरे आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारों की अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिका पर प्रस्तुत करने का कार्य जैनदर्शन ने बहुत पहले से किया है। उसने अपनी अनेकान्तदृष्टि से विचारने की दिशा में उदारता, व्यापकता और सहिष्णुता का ऐसा पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरे के प्रति आदर और प्रमाणिकता का भाव ही नहीं हो पाता। अत:

अनेकान्तदृष्टि दूसरों के दृष्अिकोण के प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादर का भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्मा को मूल में समानस्वभाव और समानधर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकारभेद को नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शन ने वास्तवबहुत्व को मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्य की साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्य के परिणमन पर दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणी के द्वारा दूसरे प्राणी का शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतन का अन्य जड़पदार्थों को अपने अधीन करने की चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्र को अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जब आत्मा का शरीर संधारण और समाज निर्माण जड़पदार्थों के बिना सम्भव नहीं हैं; तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीरयात्रा, समाजनिर्माण और राष्ट्रसंरक्षा आदि कैसे किये जाँय? जब अनिवार्य स्थिति में जड़पदार्थों का संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक हो गया, तब यह उन सभी आत्माओं को ही समान भूमिका और समान अधिकार की चादर पर बैठकर सोचना चाहिए कि 'जगत् के उपलब्ध साधनों का कैसे विनियोग हो?' जिससे प्रत्येक आत्मा का अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाज का निर्माण सम्भव हो सके, जिसमें सबको समान अवसर और सबकी समानरूप से प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षण के आधार से कभी नहीं जम सकती, किन्तु उन सभी समाज के घटक अंगों की जाति, वर्ण, रंग और देश आदि के भेद के बिना निरुपाधि समानस्थिति के आधार से ही बन सकती है। समाजव्यवस्था ऊपर से बदलनी नहीं चाहिए, तभी सर्वोदी समाज–रचना हो सकती है। जैनदर्शन ने व्यक्तिस्वातन्त्र्य को मूलरूप में मानकर सहयोगमूलक समाजरचना का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। इसमें जब प्रत्येक व्यक्ति परिग्रह के संग्रह को अनधिकारवृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनों के संग्रह में प्रवृत्ति करेगा, सो भी समाज के घटक अन्य व्यक्तियों को समानाधिकारी समझकर उनकी भी सुविधा का विचार करके ही; तभी सर्वोदयी समाज का स्वस्थ निर्माण सम्भव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियों ने जाति, वंश और रंग आदि के नाम पर जो अधिकारों का संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओं ने वर्गविशेष को संरक्षण दिये हैं, वे मूलतः अनधिकार चेष्टाएँ हैं। उन्हें मानवहित और नवसमाज रचना के लिए स्वयं समाप्त होना ही चाहिए और समान अवसरवाली परम्परा का सर्वाभ्युदय की दृष्टि से विकास होना चाहिए।

इस तरह अनेकान्तदृष्टि से विचारसहिष्णुता और परसन्मान की वृत्ति जग जाने पर मन दूसरे के स्वार्थ को अपना स्वार्थ मानने की ओर प्रवृत्त होकर समझौते की ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकार के साथ–ही–साथ स्वकर्त्तव्य का भी भाव उदित होता है; तब वह दूसरे के आन्तरिक मामलों में जबरदस्ती टाँग नहीं अड़ाता। इस तरह विश्वशान्ति के लिए अपेक्षित विचारसहिष्णुता, समानाधिकार की स्वीकृति और आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक व्यक्ति स्वातन्त्र्य के मान लेने से ही प्रस्तुत हो जाते हैं और जब तक इन सर्वसमता मूलक अहिंसक आधारों पर समाजरचना का प्रयत्न न होगा, तब तक विश्वशान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज मानव का दृष्टिकोण इतना विस्तृत, उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्ति की बात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समानाधिकार की बिना किसी विशेष संरक्षण के सर्वसामान्य प्रतिष्ठा होगा, वह दिन मानवता के मंगलप्रभात का पुण्यक्षण होगा। जैनदर्शन ने इन आधारों को सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवन की मंगलमय निर्वाहपद्धति के विकास में अपना पूरा भाग अर्पित किया है और कभी भी स्थायी विश्वशान्ति यदि सम्भव होगी, तो इन्हीं मूल आधारों पर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारत राष्ट्र के प्राण पं. जवाहरलाल नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए जिन पंचशील या पंचशिलाओं का उद्घोष किया है और बाडुंग सम्मेलन में जिन्हें सर्वमति से स्वीकृति मिली, उन पंचशीलों की बुनियाद अनेकान्तदृष्टि– समझौते की वृत्ति, सहअस्तित्व की भावना, समन्वय के प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति, रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर मानवमात्र के सम–अभ्युदय की कामना पर ही तो रखी गई है। और इन सब के पीछे है मानव का सन्मान और अहिंसामूलक आत्मौपम्य की हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारत की इस सर्वोदयी परराष्ट्रनीति ने विश्व को हिंसा, संघर्ष और युद्ध के दावानल से मोड़कर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौते की सद्भावना रूप अहिंसा की शीतल छाया में लाकर खड़ा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी जगह जीवित रहने का अधिकार है, उसका स्वास्तित्व है, पर के शोषण का या उसे गुलाम बनाने का

कोई अधिकार नहीं है, पर में उसका अस्तित्व नहीं है। यह पर के मामलों में अहस्तक्षेप और स्वास्तित्व की स्वीकृति ही विश्वशान्ति का मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है– अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और जीवन में भौतिक साधनों की अपेक्षा मानव के सन्मान के प्रति निष्ठा होने से। भारत राष्ट्र ने तीर्थंकर महावीर और बोधिसत्त्व गौतमबुद्ध आदि सन्तों की अहिंसा को अपने संविधान और परराष्ट्रनीति का आधार बनाकर विश्व को एक बार फिर भारत की आध्यात्मिकता की झाँकी दिखा दी है। आज उन तीर्थंकरों की साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह–अस्तित्व और समझौते की वृत्ति की ओर झुककर अहिंसकभावना से मानवता की रक्षा के लिए सन्न्द्ध हो गया है।

व्यक्ति की मुक्ति, सर्वोदयी समाज का निर्माण और विश्व की शान्ति के लिए जैनदर्शन के पुरस्कर्ताओं ने यही निधियाँ भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक कोशागार में आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थता की तिल–तिल साधना करके संजोई है। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रहभावना की ज्योति से विश्व का हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सब के उदय में अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापू की आत्मा इस अंश में सन्तोष की साँस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवन का व्यक्ति और समाज से आगे राजनैतिक क्षेत्र में उपयोग करने का जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धा में उनने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया, आज भारत ने दृढ़ता से उस पर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं की किन्तु उसका प्रयोग नव एशिया के जागरण और विश्वशान्ति के क्षेत्र में भी किया है और भारत की 'भा' इसी में है कि वह अकेला भी इस आध्यात्मिक दीप को संजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसी में जलता चले और प्रकाश की किरणें बखेरता चले। जीवन का सामंजस्य, नवसमाजनिर्माण और विश्वशान्ति के यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिये बिना कोई विश्वशान्ति की बात भी नहीं कर सकता।

१२. जैनदार्शनिक साहित्य

इस प्रकरण में प्रमुख रूप से उन प्राचीन जैनदार्शनिकों और मूलजैनदर्शनग्रन्थों का नामोल्लेख किया जायगा, जिनके ग्रन्थ किसी भण्डार में उपलब्ध हैं तथा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का निर्देश भी यथासम्भव करने का प्रयत्न करेंगे, जिनके ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है; परन्तु अन्य ग्रन्थों जिनके उद्धरण पाये जाते हैं या

निर्देश मिलते हैं। इसमें अनेक ग्रन्थाकारों के समय की शताब्दी आनुमानिक हैं और उनके पौर्वापर्य में कहीं व्यत्यय भी हो सकता है, पर यहाँ तो मात्र इस बात की चेष्टा की गई है कि उपलब्ध और सूचित प्राचीन मूल दार्शनिक साहित्य का सामान्य निर्देश अवश्य हो जाय।

इस पुस्तक के 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' प्रकरा में जैनदर्शन के मूल बीज जिन सिद्धान्त और आगम ग्रन्थों में मिलते हैं उनका सामान्य विवरण दिया जा चुका है, अत: यहाँ उनका निर्देश न करके उमास्वाति (गृद्धपिच्छ) के तत्त्वार्थसूत्र से ही इस सूची को प्रारम्भ कर रहे हैं–

दिगम्बर आचार्य[४३१]

उमास्वाति (वि. १—३ री)	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र (वि. २—३री)	आप्तमीमांसा युक्त्यनुशासन बृहत्स्वयमीूस्तोत्र जीवसिद्धि	प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में वादिराज द्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन (वि. ४—५वीं)	सन्मतितर्क (कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ)	प्रकाशित प्रकाशित
देवनन्दि (वि. ६वीं)	सरसंग्रह	धवला—टीका में उल्लिखित
श्रीदत्त (वि. ६वीं)	जल्पनिर्णय	त्त्वार्थश्लोकवार्तिक में विद्यानन्द द्वारा उल्लिख्ति।
सुमति (वि. ६वीं)	सन्मतितर्कटीका सुमतिसप्तक	पर्श्वनाथ चरित में वादिराज द्वारा उल्लिखित मल्लिषेण—प्रशस्ति में निर्दिष्ट
(इन्ही का निर्देश शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में 'समतेर्दिगम्बरस्य' के रूप में है)		
पात्रकेसरी (वि. ६वीं)	त्रिलक्षणकदर्थन पात्रकेसरी—स्तोत्र	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धि विनिश्चय टीका में उल्लिखित प्रकाशित
(इन्हीं का मत शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में 'पात्रस्वामि' के नाम से दिया है।)		
वादिसिंह (वि. ६—७वीं)		वदिराज के पार्शनाथचरित और

431 श्रीवर्णीग्रन्थमाला, बनारस में संकलित ग्रन्थ—सूची के आधार से।

		जिनसेन के महापुराण में स्मृत
अकलंकदेव (वि. ७००)	लघीयस्त्रय (स्ववृत्तिसहित), न्यायविनिश्चय (न्यायविनिश्चय विवरण से उद्धृत), प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिविनिश्चय–टीका से उद्धृत), अष्टशती (आप्तमीमांसा की टीका) प्रमाणलक्षण (?) तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की टीका)	प्रकाशित (अकलंकग्रन्थत्रय में) प्रकाशित (अकलंकग्रन्थत्रय में) प्रकाशित (अकलंकग्रन्थत्रय में) प्रकाशित प्रकाशित मैसूर की लाइब्रेरी तथा कोचीनराज पुस्तकालय तिरुपुणिट्ठण में उपलब्ध प्रकाशित
(जिनदास ने निशीथचूर्णि में इन्हीं के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख दर्शनप्रभावक शास्त्रों में किया है)		
कुमारसेन (वि. ७७०)		जिनसेन द्वारा महापुराण में स्मृत
कुमारनन्दि (वि. ८वीं)	वादन्याय	विद्यानन्द द्वारा प्रमाण परीक्षा में उल्लिखित
वादीभसिंह (वि. ८वीं)	स्याद्वादसिद्धि नवपदार्थनिश्चय	प्रकाशित मूडबिद्री भण्डार में उपलब्ध
अनन्तवीर्य (वृद्ध) (वि. ८–९वीं)	सिद्धिविनिश्चयटीका	श्रविभद्रपादोपजीवी अनन्तवीर्य द्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका में उल्लिखित

अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवी (वि. ९वीं)	सिद्धिविनिश्चयटीका	प्रकाशित
विद्यानन्द (वि. ९वीं)	अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा–अष्टशती की टीका)	प्रकाशित
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की टीका),	प्रकाशित
	युक्त्यनुशासनालंकार,	प्रकाशित
	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में स्वयं निर्दिष्ट तथा वादिदेवसूरि द्वारा स्याद्वादरत्नाकर में उद्धृत
	आप्तपरीक्षा	प्रकाशित
	प्रमाणपरीक्षा	प्रकाशित
	पात्रपरीक्षा	प्रकाशित आप्तपरीक्षा के साथ
	सत्यशासनपरीक्षा	प्रकाशित
	श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र	प्रकाशित
	पंचमप्रकरण	अप्रकाशित जैनमठ श्रवणबेलगोला में (मैसूरकुर्ग सूची नं. २८०३)
	नयविवरण (?) (त. श्लोकवा. का अंश)	प्रकाशित
अनन्तकीर्ति (१० वीं)	जीवसिद्धिटीका	वदिराज के पार्श्वनाथ चरित में उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
देवसेन (९९० वि.)	नयचक्रप्राकृत	प्रकाशित
	आलापपद्धति	प्रकाशित

वसुनन्दि (१०वीं, ११वीं)	आप्तमीमांसावृत्ति	प्रकाशित
माणिक्यनन्दि (वि. ११वीं)	परीक्षामुख	प्रकाशित
सोमदेव (वि. ११वीं)	स्याद्वादोपनिषत्	दानपत्र में उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ. ८८
वादिराज सूरि (वि. ११वीं)	न्यायविनिश्चयविवरण प्रमाणनिर्णय	प्रकाशित प्रकाशित
माइल्ल धवल (वि. ११वीं)	द्रव्यस्वभावप्रकाश प्राकृत	प्रकाशित
प्रभाचन्द्र (वि. ११–१२वीं)	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुख–टीका) न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय–टीका), परमतझंझानिल	प्रकाशित प्रकाशित जैन गुरु चित्तापुर आरकाट नार्थ के पास
अनन्तवीर्य (वि. १२वीं)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख–टीका)	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२–१३वीं)	विश्वतत्त्वप्रकाश	स्याद्वाद विद्यालय बनारस में उपलब्ध
लघुसमन्तभद्र (१३वीं)	अष्टसस्त्री–टिप्पण	प्रकाशित
आशाधर (वि. १३वीं)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर–प्रशस्ति में उल्लिखित
शान्तिषेण (वि. १३वीं)	प्रमेयरत्नाकर	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा
जिनदेव धर्मभूषण (वि. १५वीं)	कारुण्यकालिका	न्यायदीपिका में उल्लिखित
धर्मभूषण (वि. १५वीं)	न्यायदीपिका	प्रकाशित
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला–टीका)	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा में उपलब्ध
विमलदास	सप्तभंगितरंगिणी	प्रकाशित
शुभचन्द्र	संशयवदनविदारण	प्रकाशित

	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेय संग्रह	प्रशस्तिसंग्रह, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
शुभचन्द्रदेव	परीक्षामुखवृत्ति	जैनमठ मूडबिद्री में उपलब्ध
शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका (परीक्षामुखवृत्ति)	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा में उपलब्ध
चारुकीर्ति पंडिताचार्य	प्रमेयरत्नालंकार	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा में उपलब्ध
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	प्रकाशित
सुखप्रकाश मुनि	न्यायदीपावलि टीका	जैनमठ मूडबिद्री में उपलब्ध
अमृतानन्द मुनि	न्यायदीपावलि टीका	जैनमठ मूडबिद्री में उपलब्ध
खण्डनाकन्द	तत्त्वदीपिका	जैनमठ मूडबिद्री में उपलब्ध
जगन्नाथ (१७०३ वि.)	केवलिभुक्तिनिराकरण	जयपुर तेरापंथी मन्दिर में उपलब्ध
वज्रनन्दि	प्रमाणग्रन्थ	धवलकविद्वारा उल्लिखित
प्रवरकीर्ति	तत्त्वनिश्चय	जैनमठ मूडबिद्री में उपलब्ध
अमरकीर्ति	समयपरीक्षा	हुम्मच गाणंगणि पुटप्पा में उपलब्ध
नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा
मणिकण्ठ	न्यायरत्न	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा
शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	जैन सिद्धान्त–भवन, आरा
अज्ञातकर्तृक	षड्दर्शन	पद्मनाभशास्त्री मूडबिद्री के पास उपलब्ध
अज्ञातकर्तृक	श्लोकवार्तिकटिप्पणी	जैनमठ श्रवणबेलगोला में उपलब्ध
अज्ञातकर्तृक	षड्दर्शनप्रपञ्च	जैन भवन मूडबिद्री में उपलब्ध
अज्ञातकर्तृक	प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति	मद्रास सूची नं. १५७४

अज्ञातकर्तृक	अर्थव्यञ्जनपर्याय–विचार	मद्रास सूची नं. १५५७
अज्ञातकर्तृक	स्वमतस्थापन	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	सृष्टिवाद–परीक्षा	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	सप्तभंगी	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	भाण्मततर्क	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	शब्दखण्डव्याख्यान	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	प्रमाणसिद्धि	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	प्रमाणपदार्थ	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	परमतखण्डन	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	न्यायामृत	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	नयसंग्रह	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	नयलक्षण	जैनमठ मूडबिद्री
अज्ञातकर्तृक	न्यायप्रमाणभेदी	जैन सिद्धान्त भवन आरा
अज्ञातकर्तृक	न्यायदीपिका	जैन सिद्धान्त भवन आरा
अज्ञातकर्तृक	प्रमाणनयग्रन्थ	जैन सिद्धान्त भवन आरा
अज्ञातकर्तृक	प्रमाणलक्षण	जैन सिद्धान्त भवन आरा
अज्ञातकर्तृक	मतखण्डनवाद	जैन सिद्धान्त भवन आरा
अज्ञातकर्तृक	विशे ावाद	बम्बई सूची नं. १६१२
श्वेताम्बर आचार्य[४३२]		
उमास्वाति (वि. ३री)	तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य	प्रकाशित
सिद्धसेन दिवाकर (वि. ५–६वीं)	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	प्रकाशित
मल्लवादि (वि. ६वीं)	नयचक्र (द्वादशार) सन्मतितर्कटीका	प्रकाशित
हरिभद्र (वि. ८वीं)	अनेकान्तजयपताका सटीक,	प्रकाशित प्रकाशित

432 ''जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार'' के आधार से।

	अनेकान्तवाद प्रवेश षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक, न्यायप्रवेश—टीका,	प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित
हरिभद्र	धर्मसंग्रहणी, लोकतत्त्वनिर्णय, अनेकान्त प्रघट्ट, तत्त्वतरंगिणी, त्रिभंगीसार, न्यायावतारवृत्ति, प्ञ्चलिंगी, द्विजवदनचपेटा परलोकसिद्धि वेदबाह्यतानिराकरण सर्वज्ञसिद्धि स्याद्वादकुचोद्यपरिहार	प्रकाशित प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूची से
शाकटायन	स्त्रीमुक्तिप्रकरण	जैन साहित्य संशोधक में
(पाल्यकीर्ति) (वि. ९वीं) (यापनीय)	केवलभुक्तिप्रकरण	प्रकाशित
सिद्धर्षि (वि. १०वीं)	न्यायावतार—टीका	प्रकाशित
अभयदेव सूरि (वि. ११वीं)	सन्मतिटीका (वादमहार्णव)	प्रकाशित
जिनेश्वरसूरि (वि. ११वीं)	प्रमालक्ष्म सटीक पञ्चलिंगीप्रकरण	प्रकाशित प्रकाशित

शान्तिसूरि (पूर्णतल्लगच्छीय) (वि. ११वीं)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	प्रकाशित
मुनिचन्द्रसूरि (वि. २वीं)	अनेकान्तजयपताकावृत्तिटिप्पण	प्रकाशित
वादिदेवसूरि (१२वीं सदी)	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार स्याद्वादरत्नाकर	प्रकाशित प्रकाशित
हेमचन्द्र (पूर्णतल्लगच्छ) वि. १२वीं)	प्रमाणमीमांसा अन्ययोगव्यवच्छेदिका वादानुशासन वेदांकुश	प्रकाशित प्रकाशित (अनुपलब्ध) प्रकाशित
देवसूरि (वीरचन्द्रशिष्य) (वि. ११६२)	जीवानुशासन	प्रकाशित
श्रीचन्द्रसूरि (वि. १२वीं)	न्यायप्रवेशहरिभद्रवृत्तिपञ्जिका	प्रकाशित
देवभद्रसूरि (मलधारि श्रीचन्द्र शिष्य) (वि. १२वीं)	न्यायावतारटिप्पण	प्रकाशित
मलयगिरि (वि. १३)	धर्मसंग्रहणीटीका	प्रकाशित
चन्द्रसेन (प्रद्युम्नसूरि शिष्य) (वि. १३वीं)	उत्पादादिसिद्धि सटीक	प्रकाशित
आनन्दसूरि अमरसूरि (सिंहव्याघ्रशिशुक्र)	सिद्धान्तार्णव	अनुपलब्ध
रामचन्द्रसूरि	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका	प्रकाशित

(हेमचन्द्र शिष्य) (१३वीं		
मल्लवादि (१३वीं)	धर्मोत्तरटिप्पणक	पं. दलसुखभाई के पास
प्रद्युम्नसूरि (१३वीं)	वदस्थल	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
जिनपतिसूरि (१३वीं)	प्रबोधवादस्थल	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
रत्नप्रभसूरि (१३वीं)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
देवभद्र (१३वीं)	प्रमाणप्रकाश	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
नरचन्द्रसूरि (देवप्रभ शिष्य) (१३वीं)	न्यायकन्दलीटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
अभयतिलक (१४वीं)	पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या तर्कन्यायसूत्र टीका न्यायालंकारवृत्ति	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
मल्लिषण (१४वीं)	स्याद्वादमञ्जरी	प्रकाशित
सोमतिलक (वि. १३९२)	षड्दर्शनटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
राजशेखर (१५वीं)	स्याद्वादकलिका रत्नाकरावतारिका पञ्जिका षड्दर्श समुच्चय न्यायकन्दलीपञ्जिका	जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित प्रकाशित जैनग्रन्थग्रन्थकार में सूचित
ज्ञानचन्द्र (१५वीं)	रत्नाकरावतारिकाटिप्पण	प्रकाशित
जयसिंहसूरि (१५वीं)	न्यायसारदीपिका	प्रकाशित
मेरुतुंग (महेन्द्रसूरि शिष्य) (१५वीं)	षड्दर्शननिर्णय	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में सूचित
गुणरत्न (१५वीं)	षड्दर्शनसमुच्चय की तर्करहस्यदीपिका	प्रकाशित
भुवनसुन्दरसूरि (१५वीं)	प्रब्रह्मोत्थापन लघु—महाविद्याविडम्बन	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में

	जल्पमंजरी	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
सत्यराज सुधानन्दगणिशिष्य (१६ वीं)		
साधुविजय (१६वीं)	वादविजयप्रकरण हेतुदर्शनप्रकरण	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
सिद्धान्तसार (१६वीं)	दर्शनरत्नाकर	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
दयारत्न (१७वीं)	न्यायरत्नावली	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
शुभविजय (१७वीं)	तर्कभाषावार्तिक स्याद्वादमाला	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित
भावविजय (१७वीं)	षड्त्रिंशत्जल्पविचार	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
विनयविजय (१७वीं)	नयकर्णिका षट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप	प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित
यशोविजय (१८वीं)	अष्टसहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, ज्ञानबिन्दु (नव्यशैली में), जैनतर्कभाषा, देवधर्मपरीक्षा, द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका, धर्मपरीक्षा, नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, न्यायखण्डखाद्य (नव्यशैली), न्यायलोक (नव्यशैली), भाषारहस्य, शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका,	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित

	उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धिटीका , ज्ञानार्णव, अनेकान्त प्रवेश, गुरुतत्त्वविनिश्चय, आत्मख्याति, तत्त्वालोकविवरण, त्रिसूत्र्यालोक, द्रव्यालोकविवरण न्यायबिन्दु, प्रमाणरहस्य	प्रकाशित प्रकाशित प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
यशोविजय	मंगलवाद वादमाला, वादमहार्णव, विधिवाद, वेदान्तनिर्णय, सिद्धान्ततर्क परिष्कार, सिद्धान्तमञ्जरी की टीका, स्याद्वादमञ्जूषा, (स्याद्वादमञ्जरी की टीका), द्रव्यपर्याययुक्ति	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में
यशस्वत् सागर (१८वीं)	जैनसप्तपदार्थी प्रमाणवादार्थ वादार्थनिरूपण स्याद्वादमुक्तावली	प्रकाशित जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में जैनग्रन्थ ग्रन्थकार में प्रकाशित
भावप्रभसूरि (१८वीं)	नयोपदेशटीका	प्रकाशित

मयाचन्द्र (१९वीं)	ज्ञानक्रियावाद	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार
पद्मविजयगणि (१९वीं)	तर्कसंग्रहफक्किका	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार
ऋद्धिसागर (२०पीं)	निर्णयप्रभाकर	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार